संस्कृत नाटकों में समाज-चित्रण

[भास, कालिदास एवं शूद्रक के
नाटकों के आधार पर]

लेखिका
चित्रा शर्मा
एम. ए., पी-एच. डी.

प्रकाशक
मेहरचन्द लछमनदास
अध्यक्ष—संस्कृत पुस्तकालय
२७३६ कूचा चेलां, दरियागंज, दिल्ली-६

लेखकीय वक्तव्य

संस्कृत में एम० ए० परीक्षा देने के पश्चात् मेरा मन एक ऐसे विषय की खोज में निकल पड़ा, जिसमें प्राचीन भारतीय समाज और संस्कृति की आधार-भूमिका हो। मेरे खोज-पथ में अनेक विषय प्रस्तुत हुए और उनकी प्रेरणा का श्रेय स्वर्गीय डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' और 'कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन' थे। इसी रूप में भगवतशरण उपाध्याय रचित 'कालिदास का भारत' और डा० गायत्री वर्मा कृत 'कवि कालिदास के ग्रंथों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति' भी मेरे समक्ष प्रस्तुत हुए। यों तो कालिदास आदि प्राचीन कवियों का समग्र साहित्य ही समाज के महत्त्वपूर्ण चित्रों से आकीर्ण है, किन्तु उनके नाटकों में जो चित्र निर्मित हुए हैं वे कुछ अधिक वस्तुपरक एवं गहरे रंगों से युक्त हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक अधिक वस्तुपरक होने के कारण युगविशेष के समाज के चित्रण के लिए सर्वोत्तम साधन है। दृश्यकाव्य होने के कारण नाटक में वस्तु-चित्रण के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। कल्पनाएँ वस्तु को रंगीन बनाती हैं, धुंधला नहीं करतीं। अतएव मेरे मन का आग्रह हुआ कि क्यों न मैं प्राचीन नाटकों के आधार पर प्राचीन भारतीय समाज के विविध परिपार्श्वों का अनुशीलन करूँ। मेरे मन का यह आग्रह मेरे गुरु एवं निर्देशक डा० पुरुषोत्तमलाल भार्गव से अनुमोदित होकर प्रस्तुत विषय के रूप में पंजीकृत हुआ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को मैंने आवश्यक भूमिका के अतिरिक्त नौ अध्यायों में विभाजित किया है। भूमिका में साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध का निरूपण है। साथ ही उसमें संस्कृत नाटक की मूल चेतना और समाजपरक विशेषताओं का अनिवार्य विवेचन है।

प्रथम अध्याय में आलोच्य नाटक-युग की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक अवस्थाओं का अनुशीलन इतिहास के परिपार्श्व में किया गया है।

इस अध्ययन से नाटकीय साहित्य पर आधारित सामाजिक विवेचन को ऐतिहासिक पुष्टि प्राप्त हो सकी है।

दूसरे अध्याय में आलोच्य नाटकों का सामान्य परिचय इस प्रकार दिया गया है कि विषय की पीठिका उभर कर पाठक के सामने आ गयी है।

आलोच्य नाटकों में समाज का एक प्रमुख अंग परिवार है, जिसकी परीक्षा दो स्तरों पर की गई है और वे हैं—राज-परिवार तथा सामान्य-परिवार। विवेचना से तत्कालीन समाज के पारिवारिक जीवन के जो चित्र निखरे हैं वे सामाजिक गवेषणा की दृष्टि से प्रशंसनीन हैं। इस दृष्टि से तृतीय अध्याय मौलिक एवं विस्तृत भूमिका प्रस्तुत करता है।

चतुर्थ अध्याय में सामाजिक वर्गों का विवेचन आता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह विवेचन बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

समाज-शृङ्खला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में नारी का विस्मरण कदापि नहीं किया जा सकता। आधुनिक समाज-शास्त्रीय अध्ययन के विविध परिपार्श्वों में नारी को प्रदान की गई मान्यताएँ इसका प्रमाण हैं। आलोच्य युग में नारी की स्थिति की गवेषणा न केवल पारिवारिक भूमिका पर की गयी है, वरन् सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक आधार पर भी की गई है। अतएव पंचम अध्याय विवेच्य युग की नारी के विषय में सर्वांगीण गवेषणात्मक आलोचना प्रस्तुत करता हुआ अपने मूल्य की प्रस्थापना करता है।

अध्याय छः से नौ तक महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिपार्श्वों का विवेचन है। शोध-प्रबन्ध के इस अंश में तत्कालीन जीवन-पद्धति, शिक्षा-प्रणाली, धार्मिक एवं राजनीतिक व्यवस्था और आर्थिक जीवन तथा कला-कौशल का पर्यावलोकन किया गया है। सामाजिक विवेचन के अन्तर्गत इस अध्ययन की उपादेयता विस्मरणीय नहीं है।

मुझे अपने गुरुवर डा० पुरुषोत्तमलाल भार्गव से अनेक उपयोगी निर्देश एवं परामर्श प्राप्त हुए हैं। आभार-प्रदर्शन में प्रयुक्त कोई शब्दावली मुझे उनके ऋण से मुक्त नहीं कर सकती। अतएव मैं उनके इस महाऋण को सदैव स्वीकृति प्रदान करती रहूँगी।

यहाँ मैं अपने पिता डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकती, क्योंकि शोध-कार्य में मुझे उनसे भी यथावश्यक निर्देश एवं सुझाव मिलते रहे हैं।

जहाँ मैं यह दावा करती हूँ कि यह शोध-प्रबन्ध अपने ढंग की मौलिक

कृति है वहाँ मैं अपनी भ्रान्तियों और विवशताओं को भी स्वीकार करती हूँ।

अन्त में मैं राजस्थान विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के अधिकारियों, अपने और सहपाठियों को जिनसे मुझे अपने शोध-मार्ग में समय-समय पर समुचित सहायता मिलती रही है, धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकती।

चित्रा शर्मा

विषय-सूची

संकेत-सूची

अभि०	अभिषेक नाटक
अवि०	अविमारक
अभि० शा०	अभिज्ञानशाकुन्तल
दू० वा०	दूतवाक्य
दू० घ०, दूतघ०	दूतघटोत्कच
प्रतिमा०	प्रतिमा नाटक
प्रतिज्ञा०, प्रतिज्ञायौ०	प्रतिज्ञायौगन्धरायण
बा० च०	बालचरित
मध्यम०, मध्यमव्या०	मध्यमव्यायोग
मनु०	मनुस्मृति
माल०	मालविकाग्निमित्र
मृच्छ०	मृच्छकटिक
रघु०	रघुवंश
विक्र०	विक्रमोर्वशीय
स्व० वा०	स्वप्नवासवदत्त

———

भूमिका

साहित्य और समाज

'सहितयोः भावः साहित्यम्'[1] के अनुसार शब्द और अर्थ की सम्पृक्ति को साहित्य कहते हैं। जो रचना शब्द और अर्थ के मंजुल एवं मधुर सामंजस्य को व्यक्त करती है वह 'साहित्य' संज्ञा से अभिहित की जाती है। वैसे तो शब्द और अर्थ सदैव सम्पृक्त ही रहते हैं, उनके पार्थक्य का प्रश्न ही नहीं उठता। कविवर कालिदास ने 'वागर्थाविवसम्पृक्तौ'[2] कह कर इसी तथ्य की उद्घोषणा की है। महात्मा तुलसीदास ने भी 'गिरा-अरथ जल-वीचि-सम कहियत भिन्न न भिन्न' कह कर वाणी और अर्थ के अटूट सम्बन्ध की ही पुष्टि की है। शब्द की सृष्टि जीवन और समाज के लिए ही हुई है और उसे अर्थ भी समाज ने ही दिया है। शब्दार्थ की अवगति भी समाज-सापेक्ष्य है। इसीलिए भाषा सामाजिक सम्पत्ति है। फिर उसमें संचित ज्ञान-राशि—साहित्य—समाज से असम्पृक्त कैसे रह सकता है।

प्रत्येक 'शब्द' अपने अर्थ के सहित काव्य नहीं होता और न वाणी का कोई भी रूप 'साहित्य' पद को विभूषित कर सकता है। केवल वह वाणी जिसमें जीवन (और समाज भी) प्रतिरूपित होकर सारल्य धारण कर लेता है, 'साहित्य' नाम प्राप्त कर पाती है। डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—"सहित शब्द से 'साहित्य' की उत्पत्ति हुई है, अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का भाव दृष्टिगोचर होता है। यह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ ही मिलन नहीं, वल्कि मनुष्य का मनुष्य के साथ, अतीत का वर्तमान के साथ और

---

१. वलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १२

२. कालिदास : रघुवंश, १. १

निकट का दूर के साथ अत्यन्त अन्तरंग मिलन है।"[१] इस परिभाषा से भी साहित्य, समाज एवं संस्कृति का एक विस्तृत चित्र-फलक स्वीकृत हो जाता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'अनेक साधनों में साहित्य ही एक ऐसा साधन है जिसमें काल-विशेष की स्फूर्ति अभिव्यक्ति का सहारा पाकर राजनीतिक आन्दोलन, धार्मिक विचार, दर्शन और कला के रूप में प्रकट होती है। साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति है।'

एक अन्य प्रकार से भी 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है। अपने 'काव्य के रूप' में बाबू गुलाबराय इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं—'हितेन सहितं तस्य भावः साहित्यम्'[२] अर्थात् जो हित के सहित हो उसे 'स+हित' कहते हैं और उस के भाव को 'साहित्य'। साहित्य में सदैव मानव-समाज के हित की भावना विद्यमान रहती है। शिवत्व की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य लोक-जीवन को (समाज को) आधार बनाकर चलता है। 'स्वांतः सुखाय' का उद्घोष करने वाले तुलसीदास ने भी ऐसी साहित्यिक कृति समाज को प्रदान की है, जिसमें सामाजिक कल्याण निहित है। यही कारण है कि इतनी शताब्दियों के पश्चात् भी 'रामचरित मानस' के प्रति समाज का आकर्षण नहीं घटा। इसका कारण है उसमें संनिहित समाज-कल्याण।

'साहित्य' मानव-जीवन या समाज की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता। 'कला कला के लिए' की दुंदुभी बजाने वाले लोग भी कला में केवल सौन्दर्य की प्रमुखता का प्रतिपादन करते हैं, अप्रत्यक्ष रूप से वे भी उसमें जीवन और समाज को स्वीकृति दिये बिना नहीं रह सकते। सच तो यह है कि साहित्यकार साहित्य में अपना—अपने अन्तर का—ही अनावरण करता है, किन्तु साहित्यकार का अन्तर अनेक अनुभूतियों का अद्भुतालय होता है। उसमें वस्तु-लोक की अनेक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ, घात-प्रतिघात सूक्ष्मरूप से संकुल होते हैं जो कल्पना-कौशल से साहित्य में अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। "मानव

---

१. डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर (डा० राजकुमार पांडेय द्वारा साहित्यिक निबंध, पृ० २ पर उद्धृत)

२. देखिये, वही, पृ० ३

ने आदि से लेकर आज तक जो देखा-सुना है, जो अनुभव किया है, तथा अपने वा अपने पार्श्ववर्ती समाज के हित के लिए जो मनन किया है, साहित्य उन सब विचारों वा अनुभूतियों का एक महत्त्वपूर्ण लेखा है।"[1]

साहित्य का स्वभाव

मानव की भाव-विचार-सम्पत्ति परमात्मा की अद्भुत प्रदाति है। मानवेतर प्राणियों में भाव और विचार का एकान्ताभाव न होते हुए भी उनकी हीनता अवश्य परिलक्षित होती है। मनुष्य ने अपनी विवेचना-शक्ति से वर्णमाला का निर्माण किया और गद्य और पद्य में उसका विलास दृष्टिगत हुआ। जब मनुष्य ने अपने भाव और विचार को गद्य-पद्य के मार्ग से प्रसारित करना प्रारम्भ किया तो 'साहित्य' आविर्भूत हुआ। फिर धीरे-धीरे 'भिन्नरुचिर्हिलोक:' के सिद्धान्त से भिन्न-भिन्न प्रकार की काव्य-पद्धतियाँ विकास में आयीं। वृत्तकाव्य, स्फुटकाव्य, कथाएँ, आख्यायिकाएँ, नाटक आदि अनेक प्रकारों के रूप में मानव की चिरन्तन स्वोद्गार-प्रवृत्ति चेतना के विकास के साथ-साथ बहुमुखी हो उठी। व्यक्तिगत और सामाजिक मनोवृत्ति के निर्माण की अनुकूलता में ही साहित्यिक मार्गों का भी निर्माण हुआ होगा, ऐसा मानने में बाधा इसलिए नहीं होनी चाहिए कि साहित्य को शायद ठीक ही 'जीवन का दर्पण' कहा गया है। 'जीवन की आलोचना' कहो तब भी बात दूसरी नहीं हो जाती।

साहित्य क्या है ?

जबसे मानव की साहित्य-चेतना संगठित होने लगी, तभी से इस प्रश्न को लेकर असंख्य व्याख्याएँ उपस्थित की जाती रही हैं और अब तक की जा रही हैं। प्रत्येक व्याख्या में कोई-न-कोई त्रुटि रही होगी, तभी तो उसके बाद किसी नयी व्याख्या, पिछली व्याख्या के संशोधन अथवा मीमांसा की आवश्यकता पड़ी होगी। फिर भी यह कहना असंभव दुस्साहस ही होगा कि प्रत्येक व्याख्या अशुद्ध है क्योंकि प्रत्येक व्याख्या किसी विशेष विचार का सार लेकर अवतीर्ण हुई है। जब हम एक व्याख्या को दूसरी से स्वतंत्र करके पढ़ते हैं तो वह हमारी तबीयत से चिपकती हुई-सी प्रतीत होती है। साथ ही जब हम उस व्याख्या से सम्बन्धित-वाद आदि को अथवा दूसरी व्याख्या या

---

१. धर्मचन्द संत : सिद्धान्तालोचन, पृ० ३८

व्याख्याओं को पढ़ते हैं तो वे भी हमारी रुचि को ग्रहण करती हुई प्रतीत होती हैं। एक कहानी है कि अंधों के गाँव में एक हाथी पहुँच गया। गाँव के पाँच प्रख्यात अंधे हाथी के समीप आकर उसकी व्याख्या प्रस्तुत करने लगे। किसी ने कान, किसी ने सूंड, किसी ने पीठ, किसी ने पैर और किसी ने पूंछ पर हाथ फेर कर अपनी-अपनी अवस्थिति के अनुसार हाथी का निरूपण किया। निजी स्थिति के दृष्टिकोण से प्रत्येक की व्याख्या सही थी, किन्तु दूसरे के दृष्टिकोण से वह त्रुटिपूर्ण थी। जीवन हाथी से भी विशाल है और उसी प्रकार जीवन का दर्पण साहित्य भी। उसकी विशालता के समक्ष हम सब उस गाँव के अंधों के समान ही हैं और इसीलिए केवल अपनी-अपनी स्थिति, अपने-अपने अनुभवों और अपनी-अपनी अनुभूतियों के दृष्टिकोण से ही हम जीवन की व्याख्या या आलोचना करने में समर्थ हो सकते हैं।

'साहित्य क्या है ?' इस प्रश्न के दो स्वाभाविक पहलू बनते हैं—एक तो वह जिसमें साहित्य की रूपाकृति की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और दूसरी वह जिसमें हम साहित्य के उद्देश्य की, स्वभाव की, बात सोचते हैं। 'उद्देश्य' के स्थान में 'स्वभाव' शब्द ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि इसमें किसी कृत्रिमता का बोझ नहीं है। स्वभाव को पहचान कर, उसे स्वीकार करके, हम उसे उद्देश्य बनाते हैं। साहित्योदय की प्रेरणा में जिस स्वभाव की परिलक्षणा होती है वह साहित्य के विकास के साथ साहित्य का उद्देश्य बन जाता है।

साहित्य के रूप को लेकर उसकी व्याख्या उपस्थित करने के निरर्थक शिष्टाचार की यहाँ कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अनेक साहित्य-मनीषियों के साहित्य की व्याख्या से सम्बन्धित निष्कर्ष हमारे सामने हैं। इसके अतिरिक्त अपनी उपचेतना में हम सब साहित्य और साहित्यिक कृतियों को देखते ही पहचानते आये हैं। आज तक कभी किसी ने ऊँट की अटपटी चाल या लखनवी शान को अथवा मनुष्य के दुख-सुख को भी 'साहित्य' कहने की भूल नहीं की।

ऊँट की अटपटी चाल, लखनवी शान और जीवन के सुख-दुख साहित्य नहीं हैं, किन्तु उनके प्रतिरूपण के सरस शब्द-चित्रों को लोग 'साहित्य' कहने लगे। इन शब्द-चित्रों में मनुष्य की सहृदयता, उसके संस्कार और कल्पना-कौशल आदि का सहयोग तो रहता ही

है, किन्तु सबसे अधिक योग-दान, रचयिता की अनुभूतियों और संवेदनाओं का होता है।[1] अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ जब कल्पना के माध्यम से शब्द-पद्धति से व्यक्त होती हैं, तब उनमें प्रेषण की अद्भुत क्षमता आ जाती है।

जीवन का प्रतिरूपण क्यों ?

जीवन का चित्रण या प्रतिरूपण करना क्या मनुष्य के लिए अनिवार्य था ? प्रतिरूपण ऐच्छिक भी होता है और अनैच्छिक भी। दूसरे में प्रतिरूपकार का कुछ ऐसा गाढ़ा संग-सा रहता है कि उसे प्रायः स्वयं जीवन ही समझ लिया जाता है, क्योंकि वह जीवन की प्रतिक्रिया के रूप में प्रादुर्भूत होता है। किसी प्रकार की अत्यन्त सुखानुभूति होने पर हमारे मुख से जो आनन्दोद्गार होता है, वह वस्तुतः हमारी आत्मिक सुख-स्थिति का भौतिक प्रतीकों में रूपान्तर है। आभ्यन्तर सुख-स्थिति हमारा जीवन है और उद्गार उसकी प्रतिकृति, प्रतिभा या उसका प्रतिरूपण है, जो अनैच्छिक है। यह उद्गार ही लोक-संपत्ति बन कर 'साहित्य' हो जाता है। वाल्मीकि के किसी जीवन-क्षण की अवस्था से तात्क्षणिक जीवनानुभूति का जो उद्गारस्वरूप प्रतिरूपण अनायास हो गया वह लोक-स्वीकृत होने पर संसार का आदि-काव्य कहलाया है।

उद्गार कष्ट में हो या सुख में, वह हृदय को हलका करने का प्राकृतिक साधन है। जब कोई बात हृदय के लिए असहनीय हो उठती है तो उसका भार कम करने के लिए उद्गार होता है। जिस प्रकार अतिकष्ट की संवेदना को हृदय नहीं सह सकता है उसी प्रकार अति सुख-संवेदना को सहना भी उसके लिए दुष्कर होता है। दोनों स्थितियों में हृदय पर भार पड़ता है और दोनों ही स्थितियों में उद्गार होता है जिससे हृदय हलका होता है। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में उद्गार आनन्द का प्रतीक है। यही साहित्य की कृत्रिमता है और यही वास्तविकता।[2]

यह बात भी अविस्मरणीय है कि अनैच्छिक उद्गार स्वभाव है। इसलिए एक ओर यदि वह किसी जीवन-क्षण का प्रतिरूप है तो

---

१. देखिये, सुमन एवं मल्लिक, साहित्य विवेचन, पृ० ८

२. उद्गार—जीवन का प्रतिरूपण, अर्थात् नकल (कृत्रिम)। नकल के रूप में उद्गार—जीवन की भारापन्हुति, अर्थात् आनन्द (वास्तविक)

दूसरी ओर वह एक दूसरे सत्य जीवन, आनन्द का संयोजक है। प्रतिरूपण (नक़ल) का गुण है कि वह किसी नव्य जीवन का आरम्भ कराती है। किसी विरहिणी नायिका से पूछिये कि उसके विरही जीवन में प्रियतम के चित्र या उसके पत्र का आगमन होने से उसके लिए कौन-सा दूसरा जीवन आरम्भ हो जाता है। इस प्रश्न का अधिक महत्त्व नहीं कि यह नक़ल 'समवेदी प्रतिरूपित' की है अथवा 'असमवेदी प्रतिरूपित' की, उसकी (नक़ल की) समवेदना प्रतिरूपक से तो रहती ही है, अन्यथा उसका स्वागत ही क्यों हो। इसी प्रकार उद्गाररूप नक़ल—यदि वह वाल्मीकि की भी हो—प्रतिरूपक (वाल्मीकि) के साथ सहानुभूति रखती हुई उसके लिए एक नये अर्थात् आनन्दमय, जीवन का द्वार खोलती है। साहित्य इस नये जीवन का भी उद्गार बन सकता है, उसका प्रतिरूपण हो सकता है। वाल्मीकि के उदाहरण में ऐसा ही हुआ : अधिकतर ऐसा ही होता भी है।

परन्तु ऐसा होने में साहित्य (प्रतिरूपण) धीरे-धीरे अनैच्छिक से ऐच्छिक बनने लगता है। स्वभाव धीरे-धीरे उद्देश्य में परिणत होने लगता है। भार हलका करने के लिए जो स्वाभाविक उद्गार होता है उसके महत्त्व को समझ कर हम उसे उपयोगी बनाने लगते हैं। वाल्मीकि का जो आदि-काव्य है वह तो 'मा निषाद' आदि में ही अवसित हो जाता है। उसके आगे की राम-चर्चा तो उपयोग के लिए प्रयुक्त (न कि अनैच्छिक) उद्गार है।

उपयोग की सपर्या में समझे-बूझे प्रतिरूपकार के सामने फिर असंख्य मानसिक बोझ कल्पना के माध्यम से उपस्थित होने लगते हैं, जिनको हलका करने की एक परंपरा बनती है और प्रथमोद्गार से उत्पन्न आनन्द की भावी शृङ्खला क़ायम रखने की लालसा जाग पड़ती है। निस्सन्देह बाद के ये असंख्य बोझ उतने भारी नहीं होते हैं, इनमें स्वतः उद्गार को प्रेरित करने की शक्ति वैसी नहीं होती – अतः ये अधिकतर दबे पड़े रहते हैं। इसलिए किसी भारी बोझ का संसर्ग प्राप्त होने पर, उसी के प्रभाव से ये प्रच्छन्न कल्पना द्वारा अनावृत होकर उभरते हैं और गौण उद्गार का हेतु बनते हैं।

किसी बड़े संसर्ग द्वारा छोटे संसर्गी तत्वों की कल्पना होना, उनकी स्मृति होना, भी स्वभाव है। स्वाभाविक सहज उद्गार की तुला में हम कल्पना-वृत्ति को मानव-स्वभाव की गौण प्रकृति कह सकते हैं।

यह आवश्यक नहीं हैं कि कल्पना में हमारे बोझों का उद्गम हमारे अपने व्यक्तिगत जीवन की ही कोई प्रत्यक्ष अनुभूति हो। पारस्परिक सामाजिक जीवन के संसर्ग और साहचर्य से समवेदना द्वारा वह दूसरों की अनुभूति में भी हो सकता है। संसर्ग की निर्बलता अथवा प्रबलता के हेतु से समवेदना की जो निर्बलता या प्रबलता बनेगी उसके कारण दूसरों की अनुभूति से मिलने वाला बोझ भी निर्बल या प्रबल बनेगा। प्रबलता में वह कभी-कभी इतना बढ़ सकता है कि वह स्वकीय-जैसा ही प्रतीत होने लगे। अपने निकट प्रियजनों के सुख या कष्ट का भार, संसर्ग और समवेदना की गहनता के कारण, प्रायः अपना-जैसा ही प्रतीत होने लगता है। साथ ही यह भी अवधारणीय है कि उक्त भार का सम्बन्ध निकटता और गहनता की अपेक्षा व्यक्ति की संवेदन-शीलता के साथ अधिक है। देखने में आता है कि बहुत से लोग अति निकट की अनुभूतियों को भी स्वीकार करने में शिथिल रहते हैं। इनके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो कुछ अनिकटवर्तिनी अनुभूतियों को भी अपना लेते हैं। वाल्मीकि ऐसे ही लोगों में थे जिनके लिए एक सुरतरत क्रौंच का बाणविद्ध होना अपने बाणविद्ध होने के समान ही था। आदि कवि के अतिसंवेदी व्यक्तित्व ने उनके जीवन के न जाने कितने दबे हुए बोझों के संचित आवेग को धारण कर, क्रौंच के साथ उनका आरोप कराते हुए, उनके मुख से अनैच्छिक उद्गार करा डाला। निस्सन्देह इस उगादर में आरोप की कल्पना का भाग था, परन्तु कवि के हृदयकोष से अभिभूत होकर वह कल्पना उसमें ऐसी मिल-जुल गयी कि उसमें और कवि के निजी बोझों में कोई भेद न रह गया और कवि का उद्गार प्रत्यक्ष आत्मानुभूति का-सा उद्गार हो निकला।

पीछे कहा जा चुका है कि 'साहित्य' उद्गार है और उद्गार का स्वरूप, हृदय को हलका करने की दृष्टि से, आनन्द का है। फलतः साहित्य का स्वभाव भी आनन्द ही है, यह कहने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। यह आनन्द जीवन की प्रतिकृति (नक़ल), प्रतिमा, प्रतिरूप, पुनरावृत्ति, पुनःसृजन द्वारा मिलता है। पुनरावृत्ति भी आनन्द ही है। पुनरावृत्तिमूलक आनन्दोद्गार की प्रेरणा का रूप ऐच्छिक और अनैच्छिक दोनों प्रकार का है। ऐच्छिकता में कल्पना का विलास अधिक उन्मुक्त होता है, इसलिए वह सहज अनैच्छिक उद्गार की तुलना में गौण पदवी की ही अधिकारिणी है, परन्तु उद्गारी के

संवेदना-प्राबल्य में समवेदना और आत्मानुभूति के एकाकार होने पर वह सहजोद्गार का रूप धारण करके मौलिक आनन्द की जननी वन सकती है।

साहित्य के गुण

साहित्य जव 'साहित्य' कहलाने लगा तव वह सामाजिक वस्तु वन गया। लोक में जिसे साहित्य-रूप में पहचाना जाता है वह तभी बनता है जव हमारी उक्ति एकाधिक व्यक्तियों का लक्ष्य रखती है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्तिगत आनन्दोद्गार को समाज ने अपने लिए स्वीकार किया तो उद्गारी के लिए भी समाज को स्वीकार करना स्वाभाविक हो गया। इसी से उद्गारी को यह लक्ष्य भी रखना पड़ता है कि उसके द्वारा की गयी जीवन की पुनरावृत्ति, आनन्द का उद्गार, समाज के लिए भी अर्थात् समाज के भी, जीवन की पुनरावृत्ति और उसके आनन्द का हेतु हो। यहाँ यह प्रकट होता है कि समवेदना, समाज के मानसिक बोझों के साथ अपने मानसिक वोझों के आरोप की प्रतिष्ठा साहित्य में होनी चाहिए। यह स्वाभाविक पद्धति है। जीवन के सुख-दु:खादिक में व्यक्तिगत रूप-वैविध्य के होते हुए भी उनमें अत्यन्त समानता भी है।

समाज

परमात्मा ने मनुष्य को विलक्षण मेधा दी है, भाव-सम्पत्ति दी है, किन्तु उसको एक विलक्षण प्रकृति भी दी है कि वह दूसरे मनुष्यों के साथ ही रहता है। इसीलिए हम अकेले मनुष्य की, मनुष्य रूप में, कल्पना नहीं कर सकते। समाज-शास्त्र के पंडितों ने भी यही सिद्ध किया है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समाज में ही जन्मता, वढ़ता, विकसित होता और मरता है। मनुष्य का जीवन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही सार्थक है। इतर मनुष्यों के साथ उसके सम्वन्ध उसके सामाजिक दु:ख-सुख का निर्माण करते हैं। उसकी संवेदना में अधिकांश ऊष्मा समाज की होती है। मनुष्य की प्रकृति और संस्कृति के निर्माण में भी समाज का योगदान अविस्मरणीय है। उद्गारों की निर्मिति और निष्कृति भी समाज में ही होती है।

जिसको हम समाज कहते हैं वह मनुष्यमात्र से ही निर्मित नहीं है। मनुष्य के साथ प्रकृति का भी सम्वन्ध है। जव मनुष्य शीतल, मंद और सुगन्ध वायु से आमोहित हो उठता है, खगरव से उल्लसित होता है, ताराखचित विभावरी को देख कर आह्लादित

होता है तब प्रकृति से उसके सम्बन्धों की उपेक्षा कैसे की जा सकती है। जिस गाय का वह दूध पीता है, जिस अश्व या गज पर सवारी करता है, जिस शुक को वह बार-बार पाठ पढ़ाता है, क्या वह विस्मरणीय है? ये सब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समाज के अंग हैं क्योंकि मानव-जीवन के घात-प्रतिघातों, क्रिया-प्रतिक्रियाओं में इनका भी अटूट योग है। इसी प्रकार रीति-रिवाज, रहन-सहन, वेश-भूषा, बोल-चाल आदि भी सामाजिक परिपार्श्व में महत्त्वहीन नहीं हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि देश-काल के वातावरण में मनुष्य की समष्टि ही समाज है। व्यष्टि के बिना समष्टि की और समष्टि से विरहित व्यष्टि की कल्पना केवल दुष्कल्पना हो सकती है।

साहित्य और समाज-संबंध निरूपण

पीछे कहा गया है कि साहित्य साहित्यकार के अन्तर का सरल शब्द-चित्र है, जिसमें देश-काल की प्रतिच्छाया अवश्य होती है। इसी प्रतिच्छाया में साहित्य समाज से सम्बन्धित होता है। इसके अतिरिक्त साहित्य से समाज प्रेरणा भी लेता है। हमारा प्राचीन साहित्य आज तक प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। साहित्य अपने गौण रूप में मनोविनोदन करता है, किन्तु प्रमुखतया सामाजिक निर्माण में योग देता है। साहित्य का सत्यांश सामाजिक भूमिका पर प्रतिष्ठित है, शिवांश कल्याणकारी है और सुन्दरांश कलामय होने से मन को मोहित-विनोदित करता है। बाबू गुलाबराय ने साहित्य और समाज के एवं अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की विवेचना करते हुए कहा है कि 'कवि और लेखक किसी अंश में समाज के प्रतिनिधि होते हैं और किसी अंश में वे समाज को अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व के आधार पर नये भाव और विचार प्रदान करते हैं। समाज कवि और लेखकों को बनाता है और लेखक तथा कवि समाज को बनाते हैं। दोनों में आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-भाव चलता रहता है। यही सामाजिक उन्नति का नियामक सूत्र बनाता है।'[1]

यह उक्ति उचित ही प्रतीत होती है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। जैसा बिंब होता है वैसा ही प्रतिबिंब होता है। समाज के आचार-विचार, चाल-ढाल, उत्थान-पतन का ज्ञान उसके

१. बाबू गुलाबराय : काव्य के रूप, पृ० ८

तत्कालीन साहित्य से भलीभाँति हो सकता है।[1] अच्छा साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधि होता है। कालिदास, माघ, बाण आदि अपने-अपने युग के प्रतिनिधि थे। इसी प्रकार कबीर, तुलसीदास आदि भक्त-कवि भी अपने-अपने युग के प्रतिनिधि थे। इनकी रचनाओं में युग उसी प्रकार से झलकता है जैसे दर्पण में मुख। इनकी सम्यक् गवेषणा हमें अनूठे ऐतिहासिक तथ्य प्रदान कर सकती है।

जिस प्रकार बेतार के तार का ग्राहक आकाश-मंडल में विचरती हुई विद्युत्-तरंगों को पकड़ कर उनको भाषित शब्द का आकार दे देता है, उसी प्रकार कवि या लेखक अपने समय के वायु-मंडल में घूमते हुए विचारों को मुखरित करता है। वैसे तो इतिहास-कार भी अपने समय की बात कह सकता है और कहता है, किन्तु कवि या साहित्यकार के कहने की शैली अनूठी होती है। साहित्यकार के कथन में जो तथ्य होता है उसका अनुभव तो सभी करते हैं, किन्तु कह नहीं सकते। वह अमूर्त को मूर्त, अचेतन को चेतन और अस्पष्ट को स्पष्ट करने की शक्ति रखता है।

साहित्यकार समाज का मस्तिष्क भी होता है और मुख भी। उसकी आवाज़ समाज की आवाज़ होती है। एक ओर वह समाज के विचारों और भावों को आत्मसात् करके अभिव्यक्ति प्रदान करता है और दूसरी ओर वह अपने कौशल से अपना संदेश समाज को ध्वनित करता है जिससे सामाजिक विचारों का शोधन, मार्जन एवं पोषण होता है। हम साहित्यकार के माध्यम से समाज के हृदय तक पहुँच सकते हैं। इसीलिए यह उक्ति समीचीन ही दीख पड़ती है कि 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि।' ऐतिहासिक घटनाएँ और परिस्थितियाँ साहित्यकार की लेखनी से निरूपित होकर पाठकों, श्रोताओं या दर्शकों के कल्पना-चक्षुओं के सामने आ नाचती हैं। भूत और वर्तमान का सम्बन्ध जोड़ने वाला साहित्यकार भविष्य की कल्पना करके, उसकी सम्भावनाओं का अनुमान करके भावी योजना का निर्देश ध्वनित करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य के जिन चरणों में दृढ़ता है, उन्हीं में स्थिरता भी है। उसके मूक स्वर में पोषकत्व भी है और क्रान्तिकारिता भी।

किसी जाति या समाज के सांस्कृतिक सूत्र भी साहित्य में ही

---

१. देखिये, प्रो० धर्मचन्द सन्त : सिद्धान्तालोचन, पृ० ६२

गहनता से संकलित मिलते हैं। संस्कृति के प्रमुख सूत्रों को साहित्य-पट में नियोजित करके साहित्यकार भावी पीढ़ियों के उपयोग एवं पथ-प्रदर्शन के लिए समाज को प्रदान करता है। समाज-निर्माण और सांस्कृतिक उत्थान का मार्ग प्रदर्शित करने में भी साहित्य से अमोघ सहायता ली जा सकती है।[1]

संस्कृत साहित्य और उसकी विशेषताएँ

जो कलाएँ आँख के द्वारा अन्तरात्मा को आकर्षित करती हैं, वे ही किसी जाति की भावना और सौन्दर्य-वृत्ति तथा उसके सर्जनशील मन की विशेष घनीभूत अभिव्यक्ति पर पहुँच सकती हैं, परन्तु उसकी अत्यन्त नमनशील और बहुमुखी आत्म-अभिव्यक्ति की खोज तो उसके साहित्य में ही की जा सकती है, क्योंकि स्पष्ट अलंकार की समस्त शक्ति या ध्वनि के अपने समस्त सूत्रों के साथ प्रयुक्त किया गया शब्द ही अभिव्यक्त अन्तरात्मा के विभिन्न रूपों, प्रवृत्तियों और बहुल अर्थों को अत्यन्त सूक्ष्म और विविध रूपों में हमारे सामने प्रकट करता है। किसी साहित्य की महत्ता सर्वप्रथम उसकी विषय-वस्तु के मूल्य एवं महत्त्व में और उसके विचार की उपयोगिता तथा आकारों के सौन्दर्य में निहित रहती है।

संस्कृत भाषा की प्राचीन एवं उच्चकोटिक रचनाएँ अपने गुण तथा उत्कर्ष के स्वरूप एवं बाहुल्य दोनों में, शक्तिशाली मौलिकता, ओजस्विता और सुन्दरता में, अपने सारस्वत कौशल और गठन में, वाक्शक्ति के वैभव, औचित्य और आकर्षण में तथा अपनी भावना के क्षेत्र की उच्चता और विशालता में अत्यन्त स्पष्टतः ही विश्व के महान् साहित्यों के बीच अग्रपंक्ति में प्रतिष्ठित है। निर्णय देने योग्य व्यक्तियों ने सर्वत्र ही यह स्वीकार किया है कि स्वयं संस्कृत भाषा भी मानव मन के द्वारा विकसित किये हुए अत्यन्त महान्, अत्यन्त पूर्ण और अद्भुत रूप से समर्थ साहित्यिक साधनों में से एक है। इसका गुण एवं स्वरूप, अपने-आप में इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि जिस जाति के मानस को इसने व्यक्त किया है एवं जिस संस्कृति को प्रतिबिंबित करने के लिए इसने एक दर्पण का काम किया है, उसका गुण और वैशिष्ट्य क्या था। कवियों और चिन्तकों ने इसका जो महान् और उदात्त प्रयोग किया वह इसकी क्षमताओं की उच्चता के

---

१. देखिये, बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३

मुकाबले हीन कोटि का नहीं था। यह बात भी नहीं है कि भारतीय मन ने ऊँची, सुन्दर और पूर्ण रचनाएँ केवल संस्कृत भाषा में ही की हैं, किन्तु अपनी अत्यन्त प्रधान, रचनात्मक और वृहत्तम कृतियों का बहुत बड़ा भाग उसने इसी भाषा में व्यक्त किया है।

जो जाति और समाज अपनी महान् साहित्यिक कृतियों और साहित्यिकों में वेद और उपनिषदों, महाभारत और रामायण जैसी शक्तिशाली रचनाओं को तथा भास, कालिदास, भवभूति आदि को गिनती है उस जाति और समाज को गौरवान्वित मानना होगा। संस्कृत साहित्य एक ऐसी मानसिक क्रियाशीलता का परिचय देता है जिसका सूत्रपात हुए तीन सहस्र वर्ष से भी अधिक हो गये हैं और जो आज तक भी समाप्त नहीं हुई है। वस्तुतः यह भारतीय संस्कृति में विद्यमान तथा असाधारण रूप से सबल और प्राणवंत किसी वस्तु का अनुपम, सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यन्त अकाट्य प्रमाण है।

राष्ट्र के गौरवमय यौवन-काल में, जबकि एक अगाध आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि कार्य कर रही थी, एक सूक्ष्म अन्तर्ज्ञानात्मक दृष्टि और एक महान् रूप में निर्धारित, गंभीर एवं विशद बौद्धिक और नैतिक विचार-श्रृङ्खला तथा साहसिक कार्य-धारा एवं सृजन-प्रवृत्ति क्रियाशील थीं जिन्होंने उसकी अनुपम संस्कृति एवं सभ्यता की योजना खोज निकाली एवं निर्धारित की और इसका स्थायी भवन खड़ा किया, ऐसे युग में हमें भारत का प्राचीन मानस उसकी प्रतिभा की चार परमोच्च कृतियों—वेद, उपनिषदों और दो बृहद् महाकाव्यों द्वारा प्रस्तुतीकृत मिलता है। इनमें से प्रत्येक एक ऐसी कोटि एवं शैली की रचना है जिसकी समता की रचना किसी अन्य साहित्य में सरलता से नहीं मिल सकती। इनमें से पहली दो उसके आध्यात्मिक और धार्मिक स्वरूप का प्रत्यक्ष आधार है। शेष दो उसके जीवन के महत्तम युग की हैं। वेद ने हमें इन चीज़ों के प्रथम प्रतिरूप और आकार प्रदान किये और उपनिषदों के बाद हम उस बुद्धि एवं जीवन की तथा उन आदर्शभूत नैतिक, सौन्दर्यात्मक एवं चैत्य और भाविक, ऐन्द्रिय तथा भौतिक ज्ञान, विचार, दृष्टि और अनुभव की ओजस्वी और सुन्दर प्रतियोगिता को देखते हैं जिनका कि हमारे महाकाव्य प्राचीन अभिलेख हैं और जिन्हें शेष समग्र साहित्य अविच्छिन्न रूप से विस्तारित करता है, परन्तु आधार बराबर वही रहता है। जो नये एवं प्रायः व्यापकतर प्रतिरूप तथा अर्थपूर्ण आकार पुराणों के

स्थान पर आते हैं या सम्पूर्ण समष्टि में कुछ वृद्धि, संशोधन और परिवर्तन करने के लिए हस्तक्षेप करते हैं वे अपनी मूल गठन और प्रकृति में आदि दृष्टि एवं प्रथम आध्यात्मिक अनुभव के रूपान्तर और विस्तार ही हैं। वे ऐसे व्यतिक्रम कदापि नहीं हैं जो उससे सम्बन्ध ही न रखते हों। संस्कृत साहित्य-सर्जना में महान् परिवर्तनों के होते हुए भी, भारतीय मन की दृढ़ लगन एवं अविच्छिन्न परंपरा कायम रही है, जो वैसी ही सुसंगत है, जैसी हम चित्रकला और मूर्तिकला में देखते हैं।

संस्कृत साहित्य में आत्म-अभिव्यंजना

पवित्र साहित्य के रूप में वैदिक सूक्तों को ठीक तरह से समझाने का एक बड़ा महत्त्व यह है कि यह हमें भारतीय मन पर शासन करने वाले प्रधान विचारों का ही नहीं, अपितु उसके आध्यात्मिक अनुभव के विशिष्ट प्रकारों, उसकी कल्पना के झुकाव, उसके सर्जनशील स्वभाव तथा उसके उन विशेष प्रकार के अर्थपूर्ण रूपों का भी मूल स्वरूप देखने में सहायता पहुँचाता है, जिनमें वह आत्मा और पदार्थों तथा जगत् और जीवन के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि की दृढ़तापूर्वक व्याख्या करता था। भारतीय साहित्य के एक बड़े भाग में हमें अन्तःप्रेरणा और आत्म-अभिव्यंजना का वही झुकाव देखने को मिलता है, जिसे हम अपने स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिकला में पाते हैं।

आत्म-अभिव्यंजना की विशेषताएँ

इसकी पहली विशेषता यह है कि इससे सतत रूप से अनन्त एवं वैश्व सत्ता का बोध होता है, तथा वस्तुओं का भी उस रूप में भान होता है जिस रूप में वे वैश्व दृष्टि में या उसके द्वारा प्रभावित होने पर दीखती हैं, अथवा जिस रूप में वे एकमेव और अनन्त की विशालता के भीतर या सम्मुख रखने पर दिखायी देती हैं। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह अपने आध्यात्मिक अनुभव को आभ्यन्तर चैत्य स्तर से लिये गये रूपकों के परमैश्वर्य के रूप में अथवा उन भौतिक रूपकों के रूप में देखने और व्यक्त करने में प्रयुक्त होता है जो चैत्य अर्थ, प्रभाव, रेखा और विचार-छटा के दबाव के द्वारा रूपान्तरित हो चुके हैं। इसकी तीसरी विशेषता पार्थिव जीवन को प्रायः परिवर्द्धित रूप में चित्रित करने की है, जैसाकि महाभारत और रामायण में हमें दृष्टिगोचर होता है, अथवा उसे एक विशालतर वाता-

वरण की शुभ्रताओं में सूक्ष्म रूप प्रदान कर तथा पार्थिव अर्थ की अपेक्षा किसी महत्तर अर्थ से संयुक्त करके चित्रित करने या, कम-से-कम उसे केवल उसके अपने पृथक् रूप में ही नहीं, प्रत्युत आध्यात्मिक और आन्तरात्मिक लोकों की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करने की है।

आध्यात्मिक एवं अनन्त सत्ता निकटस्थ और वास्तविक है तथा देवता भी वास्तविक है और हम से परे के लोक हमारी सत्ता से परे होने की अपेक्षा कहीं अधिक उसके भीतर अवस्थित हैं। जो चीज़ पश्चिमी मन के लिए एक गाथा और कल्पना है वह यहाँ एक वास्तविक तथ्य है और है हमारी आन्तरिक सत्ता के जीवन का एक तन्तु। जो चीज़ वहाँ एक सुन्दर काव्यमय परिकल्पना और दार्शनिक विचारण है वह यहाँ एक ऐसी वस्तु है जो अनुभव के लिए सर्वदा उपलब्ध और विद्यमान है। भारतीय मन की यह प्रवृत्ति, उसकी आध्यात्मिक सहृदयता एवं आन्तरात्मिक प्रत्यक्षवादिता ही वेद और उपनिषदों तथा पीछे के धार्मिक एवं धर्म्यदार्शनिक काव्य को अन्तःप्रेरणा की दृष्टि से इतना शक्तिशाली और अभिव्यंजना तथा रूपक की दृष्टि से इतना अन्तरंग और सजीव रूप प्रदान करती है, साथ ही अधिक लौकिक साहित्य में भी काव्यमय भावना और कल्पना की क्रिया पर इसका प्रभाव कुछ कम अभिभूतकारी होने पर भी अत्यन्त प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर होता है।[1]

परवर्ती संस्कृत साहित्य की एक विशेषता अविस्मरणीय है: वह यह है कि उसने धर्म और राजपरिवार का साथ नहीं छोड़ा है। मेरी दृष्टि में यह कहना उचित न होगा कि संस्कृत को केवल ब्राह्मणों ने अपनाया। जैन और बौद्ध पंडितों ने भी संस्कृत में प्रचुर साहित्य की सृष्टि की। संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में यह आरोप भी दूरगामी नहीं है कि उसमें लोक-जीवन उपेक्षित रहा है। संस्कृत साहित्य का गहन गवेषण इस तथ्य को अनावृत कर देता है कि उसमें भारतीय समाज अपने विविध पहलुओं में निरूपित हुआ है। हाँ, साहित्य में युग-मान्यताएँ जितनी प्रमुखता प्राप्त करती हैं उतनी ही प्रमुखता संस्कृत साहित्य में समय-समय पर उनको मिलती रही है और उन्हीं मान्यताओं के अनुरूप युग-समाज प्रतिरूपित होता रहा

१. योगिराज श्री अरविन्द: भारतीय साहित्य की अन्तरात्मा, धर्मयुग (अप्रैल १४, सन् १९५७)

है। संस्कृत साहित्य में सामाजिक निरूपण के मूल्यांकन के समय आलोचकों को इस सम्बन्ध में सतर्क रहना चाहिये कि वे तत्कालीन मूल्यों पर अपने दृष्टिकोण को आरोपित तो नहीं कर रहे हैं, अन्यथा सही मूल्य प्रकट नहीं हो सकते।

संस्कृत नाटक और समाज

संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य (काव्य) को दृश्य और श्रव्य, दो अंगों में विभक्त किया है।[1] दृश्य वह काव्य है, जिससे प्राप्त आनन्द का माध्यम दृष्टि है। साहित्य या काव्य के इस अंग को 'नाटक' कहते हैं। 'रूप' से सम्बन्धित होने के कारण इसे 'रूपक' भी कहते हैं। 'नाटक' शब्द 'नट्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'अभिनय करना'। अभिनेता का ही दूसरा नाम नट है और नट का भाव नाट्य है। रूपक, नाटक, नाट्य आदि का सम्बन्ध अभिनय से है—नट की स्थिति, वेशभूषा, क्रिया आदि से है। इस दृष्टि से 'रूपक' या 'नाटक' अभिधा बहुत सारगर्भित है। नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हमारे सामने रंगमंच पर जो कुछ प्रस्तुत होता है, उस सबका सम्बन्ध समाज से होता है। रंगमंचीय निर्देशों में भी सामाजिक परिप्रेक्ष्य की गवेषणा की जा सकती है। जहाँ श्रव्य काव्य वर्णनों द्वारा समाज को पाठकों या श्रोताओं के कल्पना-लोचनों के सामने लाता है वहाँ नाटक पात्रों के अभिनय और रंगमंचीय दृश्यों में समाज को अभिव्यक्त कर देता है। इसके अतिरिक्त कथोपकथनों में भी समाज की वर्णनात्मक अभिव्यक्ति मिल जाती है। अतएव नाटक सामाजिक अभिव्यक्ति का प्रौढ़तम साधन है।

नाटक के सम्बन्ध में, मेरी समझ में, यह मत उचित ही प्रतीत होता है कि 'नाटक हमारे यथार्थ जीवन के अधिक निकट है, उसका मानव-जीवन और समाज से बहुत निकट और घनिष्ट सम्बन्ध है। कविता, उपन्यास, कहानी इत्यादि समाज के चित्र को कल्पना द्वारा पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं, किन्तु नाटक शब्द पात्रों की वेशभूषा, आकृति, भावभंगी क्रियाओं के अनुकरण और भावों के अभिनय तथा प्रदर्शन द्वारा दर्शक को समाज के यथार्थ जीवन के निकट ला देते हैं। श्रव्य या पाठ्य काव्य का समाज से सीधा सम्बन्ध नहीं, उसमें केवल शब्दों और भावनात्मक चित्रों द्वारा कल्पना के योग से मानसिक चित्र

---

१. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुन: काव्यं द्विधा मतम्—साहित्यदर्पण, ६।१

प्रस्तुत किये जाते हैं। नाटक में कल्पना पर अधिक बल नहीं दिया जाता, रंगमंच की सहायता से समाज के वास्तविक उपादानों को एकत्र कर दिया जाता है।"[१] इस कथन से स्पष्ट है कि नाटक में जीवन की अभिव्यक्ति अधिक प्रत्यक्ष और यथार्थ होती है।

यह कहना नितान्त अनुचित होगा कि संस्कृत के राजाश्रित कवियों और नाटककारों की दृष्टि सामंती जीवन की संकीर्ण परिधि को छोड़ कर सामान्य जन-जीवन तक नहीं पहुँच पायी। यह ठीक है कि संस्कृत नाटकों की सृष्टि में राज-परिवारों का प्रतिरूपण प्रमुखता से हुआ है, किन्तु सामान्य युग-जीवन भी उपेक्षित नहीं हुआ। साहित्य में युग की उपेक्षा कदापि नहीं हो सकती। कभी प्रत्यक्ष रूप से और कभी अप्रत्यक्ष रूप से युग साहित्य में झाँकने ही लगता है। संस्कृत नाटकों में भी युग की झाँकी मिलती है। हाँ, धार्मिक और सामाजिक वर्गों को तत्कालीन मान्यताओं के अनुरूप ही नाटकों में प्रतिरूपित किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन संस्कृत नाटकों के युग में जितना सामंती-संस्कृति का महत्त्व था उतना ही आश्रम-संस्कृति का, किन्तु ये संस्कृतियाँ अपनी विशेषताओं के बावजूद भी एक-दूसरी से असंपृक्त नहीं थीं और इनका सम्बन्ध, प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः लोक-जीवन और लोक-संस्कृति से भी रहता था। जहाँ राजपरिवार, राजभवन और वैलासिक व्यवस्थाएँ थीं, वहाँ राजसेवक, परिजन, परिचारिका आदि की व्यवस्था भी थी। इसी प्रकार आश्रमों और मठों का जीवन भी सामान्य जीवन से एकदम कटा हुआ नहीं था। इसके अतिरिक्त राजा का सम्बन्ध उस प्रजा से होता था जो अनेक रीति-रिवाजों को मानने वाली, विविध धर्मों को समादृत करने वाली तथा अनेक व्यवसायों और व्यवहार-विधानों को अंगीकार करने वाली थी। इस प्रकार राज-परिवार और राजधर्म का सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार आश्रम-जीवन और जन-जीवन से अवश्य रहता था।

संस्कृत नाटक का सामाजिक परिपार्श्व इस उक्ति से भी समर्थित होता है कि 'संस्कृत नाटककार समाज के विशुद्ध वातावरण में विचरण करता था, समाज के सुख-दुःख की भावना उसके हृदय को स्पर्श करती थी, वह दीन-दुःखियों की दीनता पर चार आँसू

१. क्षेमचन्द्र 'सुमन' व मल्लिक : साहित्य विवेचन, पृ० १६१

बहाता था और सुखी जीवों के सुख के ऊपर रीझता था। वह भारतीय समाज का ही एक प्राणी था, जिसका हृदय सहानुभूति की भावना से नितान्त स्निग्ध होता था। वह अपने काव्यों (नाटकों) में जनता के हृदय की बातों का, प्रवृत्तियों का, जितना वर्णन करता था उतना ही अपने देश की संस्कृति के मूल्यवान् आध्यात्मिक विचारों का भी अपनी रचनाओं में चित्रण करता था।"[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि नाटक अपने आप में एक सामाजिक संस्था (Institution) है। नाटक की मूल प्रेरणा उसकी दृश्यात्मकता है। अभिनय-सापेक्ष होने से उसका सम्बन्ध देखने-दिखाने से है, अतएव नाटक की यह प्रकृति समाज से उसका अटूट सम्बन्ध बना देती है। अभिनय के अतिरिक्त नाटक (संस्कृत नाटक) नृत्य और संगीत से भी गहन सम्बन्ध रखता है, प्रत्युत यह कहना ही समीचीन होगा कि नृत्य और संगीत संस्कृत नाटक के अंग हैं। नृत्य और संगीत भी समाज-सापेक्ष्य हैं। नृत्य तो अपने आप में दृश्यात्मक है ही, किन्तु संगीत भी नाटक में दृश्यात्मकता का गुण धारण कर लेता है क्योंकि वह नृत्य का साथ देकर उसकी दृश्यता को सफल बनाता है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र-विशारदों ने नृत्य को नाट्य-परंपरा से भिन्न नहीं माना है। सामान्यतया नाटकों के तीन प्रकार माने गये हैं—वाक्-नाट्य, गीति-नाट्य और नृत्य-नाट्य। इनमें संवादों को प्रमुखता मिलती रही है, जो कभी गद्य, कभी पद्य और कभी दोनों में होते थे। संवादों के साथ रसाभिनय तो अवश्य होता था, किन्तु हस्त-मुद्राएँ आदि नहीं के बराबर होती थीं। आंगिक अभिनय भी सीमित अपितु नहीं के बराबर होता था।

गीति-नाट्यों में कथा पद्यमय गीतों में कही जाती थी। इनके कथानक इस प्रकार चुने जाते थे कि सुरस संगीत का पूर्णतः प्रस्फुटन हो सकता था। जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' इसी प्रकार की रचना है। इन रचनाओं में संवाद और वर्णन दोनों पद्य में होते थे और इन्हें संगीत-शास्त्र के रागों और तालों में बाँध कर गाया जाता था। साथ ही वाद्य-यंत्रों का भी स्वतंत्र उपयोग किया जाता था। नट इन पदों को गाता हुआ अभिनय करता था। कभी-कभी पद नेपथ्य से भी गाये जाते थे।

---

१. देखिये, बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५

इस प्रकार के नाटक के अभिनय में नृत्य के अंग हारादि तथा पद-विन्यास आदि का प्रचुर मात्रा में उपयोग होता था। यह नाट्य-परंपरा रास-यात्रा के रूप में आज भी विद्यमान है। लोक-नृत्यों की शैली में इसका अधिक प्रचलन है। पंजाब का हीर-रांझा; राजस्थान का रासो, स्वांग; उत्तर-प्रदेश का नौटंकी, रासलीला; बंगाल की यात्रा आदि सब गीति-नाट्य ही हैं। बिहार में भोजपुरी के विदेशिया तथा मैथिली में विद्यापति के गीति-नाट्य अब भी सजीव हैं।

नृत्य नाट्य-कला से भिन्न कला नहीं है। संस्कृत नाटक में पद्य-प्राचुर्य मिलता है। इससे स्पष्ट है कि गायन पर भी अभिनय होता था। अतएव जनता का मनोरंजन केवल संवादों से नहीं होता था, वरन् पद-गायन तथा उस पर आधारित नृत्याभिनय से भी होता था। नाट्य-शास्त्र के अनुसार 'नाटक' के तीन अंग माने गये हैं—

१. नृत्त—जो 'ताललयाश्रयम्'[1] होता है अर्थात् इसमें गात्र (पादादि) का संचालन ताल-लय पर आधारित होता है।

२. नृत्य—'भावाश्रयं नृत्यम्'[2] कह कर इसमें पादादि गात्र-संचालन के अतिरिक्त भावों का अभिनय भी सम्मिश्रित किया गया है।

३. नाट्य—'रसाश्रयं नाट्यम्'[3] से स्पष्ट है कि नाट्य में रस-योजना का प्रमुख स्थान है। 'नाटक' इन तीनों का आवश्यकतानुसार योजन है।

हमारे नाट्यशास्त्र में चार प्रकार के अभिनय का उल्लेख है[4]—

१. सात्त्विक—मुख द्वारा व्यंजित रस-संचार को सात्त्विक अभिनय कहते हैं।

२. आंगिक—जो अभिनय शरीर के अंगों द्वारा किया जाता है उसे आंगिक कहते हैं।

३. वाचिक—अभिनय का यह प्रकार वाणी द्वारा सम्पन्न होता है।

---

१. दशरूपक, १.९

२. वही, १.९

३. वही, १.९

४. भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः।
आंगिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा। साहित्यदर्पण, ६.२

४. आहार्य—जो अभिनय वेश-भूषा के द्वारा होता है उसे आहार्य कहते हैं।

इनमें से सात्त्विक, आंगिक और आहार्य सरलता से नृत्य की परिभाषा में सम्मिलित किये जा सकते हैं।

हमारी प्राचीन अभिनय और नाट्य शैली सच्चे अर्थ में नाटक को नाटक और दृश्य काव्य बनाती है। भारतीय नाट्यशास्त्र में जो रस-विवेचन और अभिनय-क्रिया, हस्तमुद्राभाषा, नायक-नायिका-भेद तथा विभिन्न अंगों की जो उपयोग-क्रियाएँ मिलती हैं, वे जगत् में अनूठी हैं। इस प्रकार भाषा और वाणी का स्थान, समय तथा पात्रानुरूप प्रयोग एवं वेश-भूषा का विशद विवेचन भी संस्कृत नाटक की विशेषता है।

संस्कृत नाटक की प्रमुख विशेषताएँ

संस्कृत नाटक की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो इसे अन्य देशों तथा अन्य भाषाओं के नाटकों से पृथक् कर देती हैं। देश और काल की मान्यताओं एवं प्रतिष्ठाओं की दृष्टि से इनका भी सामाजिक मूल्य है। हमें इनकी खिड़कियों से भारतीय समाज की विशिष्ट झाँकियाँ सरलता से मिल जाती हैं।

संस्कृत नाटक की सबसे बड़ी और प्रमुख विशेषता है, उसकी सुखान्तता।[1] प्रायः सभी संस्कृत नाटकों का अंत सुखद होता है।

१. सुखान्तता

नाटक के आदि मध्य में कितनी ही दुर्घटनाएँ, कितनी ही दुःखद परिस्थितियाँ और कितने ही करुणाजनक दृश्यों की प्रस्थापनाएँ हो सकती हैं, किन्तु उन सब का नियोजन इस प्रकार से किया जाता है कि अन्त सुखद होता है। इसका प्रमुख कारण संस्कृत-नाटककारों अथवा भारतीय समाज का जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण है। भारतीय नाटककार की यह धारणा है कि जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति है। किसी दिशा में कर्तव्यनिष्ठा की अटूटता दिखा कर नाटककार नायक और उसके साथियों को दुःख के दलदल से निकालता हुआ सुखारूढ़ करता है। कर्तव्यपरायण एवं सत्यनिष्ठ व्यक्ति के जीवन का अन्त दुःखद कदापि नहीं होता। यह ठीक है कि उच्च संकल्प के

---

१. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४२४

निर्वाह-पथ में अनेक विघ्न और संकट प्रस्तुत होते हैं, किन्तु अन्त में उन सबका पर्यवसान सुख में होता है। महान् पुरुषों के जीवन का दुःखान्त जीवन में महत् की प्रतिष्ठा को एक भीषण चुनौती बन सकता है, जिससे निराशा के बलवती होने पर समाज में अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव यह आवश्यक प्रतीत होता है कि महापुरुषों के जीवन का अन्त दुःखमय न दिखाया जाय। निस्सन्देह यह दृष्टिकोण समाज-हित की भावना पर आधारित है।

२. युग-जीवन की अभिव्यक्ति

संस्कृत नाटक की दूसरी विशेषता है—उसमें तत्कालीन समाज की प्रतिच्छाया। संस्कृत नाटक अपने युग के सामाजिक वर्गों, मान्यताओं, निष्ठाओं, आर्थिक एवं नैतिक व्यवस्थाओं तथा राजनीतिक प्रयोजनों को बड़ी ईमानदारी से आकलित और प्रस्तुत करता है। उत्तम, मध्यम और अधम पात्रों[1] के सम्बन्ध से संस्कृत नाटक अपने समय की सामाजिक व्यवस्था को प्रस्तुत करता है। नाटक और पात्रों की भाषा-भेद संबंधी मान्यताएँ भी सामाजिक वातावरण और युग-मान्यताओं को ही अभिव्यंजित करती हैं।

वेश्या के अतिरिक्त सभी स्त्रियाँ संस्कृत नाटक में 'प्राकृत' बोलती हैं।[2] इससे उस समय की स्त्री की शिक्षा के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। वेश्या की संस्कृतज्ञता और पटुता से तत्कालीन समाज में उसके स्थान की सूचना मिल जाती है। प्राकृतों के अनेक भेद तथा नाटकों में महाराष्ट्री प्राकृत का विशेष समादर इस बात का प्रमाण है कि देश में अनेक प्रादेशिक भाषाए प्रचलित थीं। शिष्ट साहित्य एवं सार्वभौम भाषा के रूप में संस्कृत का सम्मान होता था तथा प्राकृतों में प्रथम स्थान महाराष्ट्री को दिया जाता था। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से शौरसेनी अधिक विस्तीर्ण भू-भाग की बोली थी, किन्तु परम्परा ने महाराष्ट्री को ही अधिक साहित्यिक सम्मान प्रदान कर रखा था।

कुछ लोगों का विचार है कि संस्कृत नाटकों में संघर्ष का अभाव

---

१. दशरूपक, २.४५

२. वही, २.६५

है। मेरी दृष्टि में यह आरोप सर्वथा अनर्गल है क्योंकि संघर्ष के बिना चरित्र का विकास नहीं होता और न भाव-गंभीरता का ही समावेश हो सकता है, अतएव संघर्ष तो किसी भी महाकाव्य या नाटक का सामान्यतया अनिवार्य तत्त्व है। नायक की क्षमता अथवा अन्य पात्रों के चारित्रिक उत्कर्ष को प्रत्यक्ष कराने में संघर्ष की व्यवस्था अनिवार्यतः उपयोगी है। हां, यह दूसरी बात है कि वाह्य संघर्ष न दिखा कर कभी-कभी अन्तर्द्वन्द्व ही से काम ले लिया जाय। अन्तर्द्वन्द्व भी प्रतिक्रियाओं को जन्म देकर नाटक के विकास में योग देता है। संघर्ष (भले ही वह अन्तर्द्वन्द्व ही क्यों न हो) कथा-वस्तु के विस्तार की भूमिका तथा आस्वाद की पृष्ठभूमि में चटनी का काम करता है। धीरता और उदात्तता की भूमिका पर आचरण में संघर्ष की जितनी मात्रा उपयुक्त होती है, संस्कृत नाटककार ने उसकी उतनी ही व्यवस्था की है।

संघर्ष

संस्कृत नाटक में उत्तम, मध्यम और अधम पात्रों के प्रयोग के सम्बन्ध में विशेष नियम थे। प्रमुख पात्र या नेता इतिहास-प्रसिद्ध, उच्चवर्ण, प्रशस्तवंश एवं धीरोदात्त होता था। तृतीय श्रेणी के पात्रों की योजना प्रायः इस प्रकार की होती थी कि वे या तो नेता के संपर्क में प्रत्यक्ष रूप से आ सकते थे अथवा उसके किसी प्रियजन या परिजन के संपर्क में आ सकते थे। उपरूपकों में कुछ ऐसे भी होते थे जिनमें अधम पात्रों का अथवा मध्यम पात्रों का ही प्रयोग होता था।[1] यह व्यवस्था सामाजिक आचरण को भ्रंश मुक्त रखने की दृष्टि से की जाती थी। भाण आदि उपरूपकों में जिस आचरण का प्रतिरूपण होता था वह उत्तम पात्रों के लिए शोभन प्रतीत नहीं होता था। इसीलिए उनमें उत्तम पात्रों की योजना एक प्रकार से वर्जित थी।

पात्र-योजना

विदूषक की व्यवस्था भी संस्कृत नाटक की विशेषताओं में से है। वह नायक का अन्तरंग मित्र होता था। उसका कार्य केवल हास्य-रस की सृष्टि करना ही नहीं था, अपितु समय-समय पर उसे उचित परामर्श

---

१. दशरूपक, ३.४९

देना भी था। उसके जोड़ का पात्र प्राचीन ग्रीक नाटकों में भी नहीं है। हाँ, मध्यकालीन पाश्चात्य नाटकों में ऐसा ही एक 'फूल' संज्ञक-पात्र होता था, किन्तु वह निरा हास्योपादान होता था। उसके विपरीत विदूषक नायक को अपने परामर्श से विकट परिस्थितियों और आपदाओं से निकाल कर धर्मादि फल की दिशा में प्रेरित करता था। आधिकारिक को निर्बाध रखता हुआ तथा प्रासंगिक या प्रासंगिकों को चटपटापन प्रदान करता हुआ विदूषक दर्शकों के रसास्वाद में यथेष्ट योगदान देता था। कुसुम, वसन्त आदि अभिधा वाला विदूषक अपने कर्म, वपु, वेष, भाषा आदि से हास्यकर तथा स्वकर्मज्ञ होता था।[1]

संस्कृत नाटक का एक विशेष पात्र कंचुकी होता था जो 'रनवास' का द्वारपाल या रक्षक होता था। उसकी आज्ञा के विना कोई व्यक्ति रनवास में प्रवेश नहीं कर सकता था। वह वृद्ध या क्लीव होता था। वह विशिष्ट आयुधों और वेशभूषा से सज्जित होता था। राजपरिवारों की रक्षा-व्यवस्था का परिज्ञान कंचुकी की व्यवस्था से भी हो सकता है।

संस्कृत नाटकों के प्रमुख अंगों में प्रस्तावना का प्रमुख स्थान है। संस्कृत नाटक का प्रारम्भ प्रस्तावना[2] से होता था। प्रस्तावना नान्दी से प्रारम्भ होती है, जिसमें दर्शकों के कल्याण के लिए राष्ट्रिय देव की उपासना की जाती थी। फिर सूत्रधार और नटी के संभाषण से नाटककार और उसकी कृति तथा उसके कथासूत्र का अति संक्षिप्त परिचय दिया जाता था।

अंग

इसी प्रकार अंत में भरत-वाक्य रहता था जिसमें नाटक का नायक या प्रधान पात्र देश, समाज एवं राष्ट्र की समृद्धि के लिए अपने इष्टदेव से प्रार्थना करता था। इस प्रकार नाटक का आदि और अन्त मंगल-कामना से ओतप्रोत होता था। इन दोनों अंगों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी उपेक्षणीय नहीं है।

प्रस्तावना और भरत-वाक्य के बीच में अनेक अंकों की स्थिति होती थी, जिसमें पाश्चात्य नाटकों की भाँति दृश्य व्यवस्था नहीं होती थी। प्रथम, द्वितीय आदि से दृश्यों की अभिधान व्यवस्था नहीं होती थी। जिसको हम नाटक या रूपक अभिधा प्रदान करते हैं वह प्रायः

१. साहित्यदर्पण, ३.४२

२. दशरूपक ३.७-८

पांच अंकों का होता था। किसी किसी नाटक में पांच से अधिक तथा दस तक अंक हो सकते थे, जो 'महानाटक' अभिधा प्राप्त करता था।[1] शूद्रक का 'मृच्छकटिकम्' महानाटक है क्योंकि इसमें दस अंक हैं। चार या चार से कम अंक वाले रूपक को नाटिका[2] कहते थे, जैसे 'रत्नावली'। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' रूपक या नाटक का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। भाण और प्रहसन को देख कर हम संस्कृत में एकांकी का अनुमान भी कर सकते हैं। आधुनिक एकांकी को संस्कृत एकांकी के परिपार्श्व में रख कर तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर हमारे सामने प्राचीन भारतीय एकांकी की विशेषताएँ भी आ जाती हैं।

अंक की समाप्ति पर रंगमंच का रिक्त होना अत्यावश्यक है। प्रमुख अंकों के अतिरिक्त संस्कृत नाटकों में विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख—इन पांच अर्थोपक्षेपकों[3] का भी विशेष स्थान है। ये संस्कृत नाटक की मौलिक उद्भावनाएँ हैं। इनमें स्वगत भाषण अथवा संभाषण द्वारा प्रेक्षकों का ध्यान ऐसी घटनाओं की ओर आकर्षित किया जाता है जिसका रगमंच पर दिखलाना अनावश्यक प्रतीत होता है, किन्तु कथानक का क्रम जानने के लिए उनका उल्लेख आवश्यक होता है। विष्कम्भक और प्रवेशक में अन्तर यह होता है कि विष्कम्भक नाटक के प्रथम अंक के प्रारम्भ या दो अंकों के मध्य में आता है[4], परन्तु प्रवेशक सदैव दो अंकों के मध्य में आता है[5]। विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध और संकीर्ण। शुद्ध में एक अथवा दो मध्यम पात्रों का संस्कृत में संभाषण होता है जबकि संकीर्ण में निम्न अथवा मध्यम पात्र प्राकृत भाषा में वार्तालाप करते हैं। प्रवेशक में केवल निम्न पात्रों का प्रयोग होता है। यवनिका के पीछे स्थित पात्रों द्वारा दी हुई वस्तु की सूचना को चूलिका[6] कहते हैं। अंकावतार में प्रथम अंक में ही वस्तु का विच्छेद किये बिना दूसरे अंक की वस्तु की सूचना

---

१. दशरूपक, ३.३८

२. वही, ३.४४

३. साहित्य दर्पण, ६.५४

४. वही, ६.५५-५६

५. वही, ६.५७

६. वही, ६.५८

दी जाती है ।[1] अंक के अन्त में छूटी हुई कथा की सूचना को अंकास्य[2] कहते हैं ।

नाटक के तत्त्व

संस्कृत नाटक में प्रमुखतः तीन तत्त्व माने गये हैं—वस्तु, नेता, और रस[3] । नेता के सम्बन्ध में संक्षेप में पहले कहा जा चुका है । विस्तृत वर्णन यथास्थान दिया जायेगा । यहाँ 'वस्तु' और 'रस' का संक्षिप्त परिचय देना भी समीचीन ही होगा ।

संस्कृत नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक के अतिरिक्त कल्पित अथवा मिश्रित भी हो सकती है,[4] किन्तु अधिकांशतः ऐतिहासिक या पौराणिक कथावस्तुओं का सम्मान ही विशेष रूप से किया गया है । कल्पना के पुट से उनमें मिश्रित कथावस्तु की योजना की गयी है । प्रायः सभी संस्कृत नाटकों की कथावस्तु रामायण, महाभारत, पुराण, बृहत्कथा आदि पर आधारित है । ऐतिहासिक अथवा पौराणिक होने पर भी कथावस्तु में कल्पना के रंग से मौलिकता लाई गई है ।

यों तो संस्कृत नाटक में प्रायः सभी रस रह सकते हैं, किन्तु प्रमुख रस-वीर और शृङ्गार में से कोई एक होता है ।[5] भवभूति ने

रस

'उत्तररामचरित' में 'करुण' रस को प्रधानता देकर नाटक के लिए तीन रस (वीर, शृङ्गार एवं करुण) प्रमुख रूप से सम्मानित कर दिये हैं । इतर रस नाटक में गौण रूप से प्रतिष्ठित रहते हैं । हाँ, शान्त-रस को संस्कृत नाटक में प्रमुख स्थान नहीं दिया जाता क्योंकि उसका स्थायी भाव निर्वेद प्रेक्षोपयुक्त नहीं होता । वह नाटक के विकास में वाधक सिद्ध होता है । रसों की यह व्यवस्था संस्कृत नाटक में सामान्य सामाजिक भावनाओं को अव्याहत रखने की दृष्टि से ही की गयी है ।

---

१. साहित्यदर्पण ६.५६
२. वही, ६.६०
३. दशरूपक, १.११
४. वही, १.१५
५. साहित्यदर्पण, ६.१०

अन्यत्र यह कहा जा चुका है कि संस्कृत नाटकों में पद्य-प्रयोग उन्मुक्त रूप से हुआ है। पद्य, लय और ताल से पोषित होकर नृत्य को सहयोग देता है। नृत्य में दृश्य और श्रव्य दोनों का सहयोग होता है और पद्य उचित संगीत का वातावरण बना कर नृत्य की दृश्यता को मधुर श्रव्यता की भूमिका प्रदान करता है। संस्कृत नाटकों का पद्य-भाग संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में होता था। भाषा-भेद से एक ओर तो तत्कालीन सामाजिक मान्यताएँ प्रत्यक्ष होती हैं और दूसरी ओर सभी सामाजिक वर्गों में संगीत-रुचि का परिचय मिलता है।

पात्र और पद्य

संस्कृत-साहित्य प्रकृति के प्रति वहुत जागरूक एवं निष्ठावान् रहा है। साहित्य में प्रकृति-चित्रण न केवल समाज और प्रकृति के सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है, वरन् तत्कालीन साहित्यकार के सौन्दर्य-बोध को भी प्रकट करता है। शकुन्तला की विदाई के समय कालिदास ने प्रकृति का जो रूप प्रस्तुत किया है उसमें नाटककार की मनोवृत्ति की ही प्रेरणा नहीं है, वरन् आश्रम-वासियों के प्रकृति सम्वन्धों की भी प्रेरणा है।[1]

प्रकृति-निष्ठा

इन सव बातों के अतिरिक्त संस्कृत नाटक में अलौकिकता, आकाशभाषित,[2] भाग्यवाद और आश्रम एवं मठ के साथ-साथ राजप्रासाद, गृह-कानन एवं केलि-कानन का वर्णन उस समय के भावात्मक एवं ऐश्वर्यात्मक वातावरण का परिचय देता है। इन सब के ऊपर है संस्कृत नाटकों में धार्मिक भावनाओं की प्रतिष्ठा। इस प्रकार संस्कृत नाटक का अध्ययन तत्कालीन समाज के ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक परिपार्श्वों के उद्घाटन में बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है।

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४.११

२. साहित्यदर्पण, ६.१४०

१

आलोच्य नाटक युग: ऐतिहासिक परिचय

भूमिका में कहा जा चुका है कि युग और साहित्य का गहन सम्बन्ध है। साहित्य में युग प्रतिबिंबित होता है और साहित्य युग के निर्माण में योग देता है। यह जानने से पूर्व कि आलोच्य नाटकों में समाज के किस रूप का चित्रण हुआ है, यह जानना अधिक आवश्यक है कि आलोच्य नाटक किस युग से सम्बन्धित है और उस युग तथा तत्कालीन समाज की क्या-क्या विशेषताएँ हैं।

साहित्यकार के युग का ज्ञान या तो अन्तःसाक्ष्य के आधार पर हो सकता है या बहिर्साक्ष्य के आधार पर। अन्तःसाक्ष्य दो प्रकार का होता है: एक तो वह जिस में कवि या साहित्यकार अपने या अपने युग के सम्बन्ध में स्वयं कुछ बोलता-कहता है और दूसरा वह जिसमें युग साहित्य में उसी प्रकार सन्निविष्ट हो जाता है जैसे दूध में घी। बहिर्साक्ष्य समकालीन रचना या रचनाओं अथवा ऐतिहासिक सूत्रों से प्राप्त होता है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य के प्रणेता अपने सम्बन्ध में प्रायः मूक रहे हैं, संभवतः इसलिए कि आत्म-परिचय की कोई परम्परा नहीं थी। इसके अतिरिक्त आत्म-परिचय निन्दात्मक और प्रशंसात्मक अपनी दोनों 'अतियों' में अप्रशस्य है। प्राचीन साहित्य की धर्मप्रवणता के कारण भी साहित्यकार उसमें आत्म-परिचय की गुंजाइश नहीं पाता था। प्राचीन संस्कृत नाटक में तो ऐसे परिचय के लिए और भी कम अवकाश था। नाटककार अपने पात्रों को आगे करके स्वयं उनके पीछे छिप जाता है। ऐसी स्थिति में संस्कृत नाटककार अपना परिचय देने के लिए कौन-सा स्थान खोजता? प्रस्तावना में भी ऐसे परिचय के लिए विशेष अवकाश नहीं होता है, अतएव संस्कृत नाटकों में आत्म-परिचय लगभग नहीं के बराबर है और युग-परिचय भी अप्रत्यक्ष रूप

से ही मिलता है, जिसकी पुष्टि ऐतिहासिक सूत्रों से ही की जा सकती है। आलोच्य नाटक भास, कालिदास और शूद्रक से सम्बन्धित हैं, इसलिए इनके युग का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है।

भास-युग

कहा जाता है कि संस्कृत वाङ्मय में नाटकों की सजीव एवं मूर्त्त परम्परा का प्रवर्त्तन भास के द्वारा ही किया गया, किन्तु यह अत्यन्त खेद का विषय है कि दीर्घकाल तक भास की कृतियाँ उद्भासित नहीं हो पाईं। इसलिए भास के अस्तित्व का परिचय कुछ यत्र-तत्र विकीर्ण संकेतों से ही मिल सकता था।[1] संस्कृत साहित्य का विद्यार्थी श्री टी० गणपति शास्त्री की अध्यवसायपूर्ण गवेषणा की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता, जिसके परिणाम-स्वरूप इतनी दीर्घ अवधि के पश्चात् भास साहित्य-जगत में पुनः प्रतिष्ठित हुए। श्री शास्त्रीजी ने त्रावणकोर में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करते समय भास के तेरह रूपक खोज निकाले, जिन्हें उन्होंने 'त्रयोदश त्रिवेन्द्रम् नाटकानि'[2] नाम से प्रकाशित कराया।

शास्त्रीजी की इस उपलब्धि से सहृदय पाठकों और समीक्षकों के मन में अमित जिज्ञासा जाग्रत हुई और भास के सम्बन्ध में गवेषणाओं की बाढ़-सी आ गई। परिणामतः भास का समय पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों[3] के विवाद का विषय बन गया और वह ईसवी-पूर्व छठी शताब्दी से ईसा की ११वीं शताब्दी तक फैल गया। श्री ए० डी० पुसलकर ने भास-काल से सम्बन्धित अनेक मत-मतान्तरों का मंथन कर नाटकों में चित्रित सामाजिक स्थिति के आधार पर उनका समय ईसवी-पूर्व चतुर्थ शताब्दी निरूपित[4] किया। इन नाटकों के उद्भावक श्री गणपतिशास्त्री ने भी इसी मत को प्रामाणिक माना है।[5]

---

१. देखिये, चन्द्रशेखर पाण्डेय, संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० ८९-९१
२. गणपति शास्त्री : 'त्रयोदश त्रिवेन्द्रम् नाटकानि' सन १९१२-१३
३. देखिये, पुसलकर : भास : ए स्टडी, पृ० ६१ (टिप्पणी)
४. देखिये, पुसलकर : भास : ए स्टडी, पृ० ६१ (टिप्पणी)
५. देखिये, गणपति शास्त्री : वासवदत्ता की भूमिका

इस प्रकार भास का समय मौर्य शासन के प्रारम्भिक काल में सन्निविष्ट हो जाता है।[1]

कालिदास-युग

विवेच्य नाटककारों में भास के पश्चात् कालिदास का नाम उल्लेखनीय है। वे संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य साहित्यकार हैं। उनकी कीर्ति-कौमुदी इस विशाल भारतवर्ष को ही आनन्द सागर में विभोर नहीं कर रही है, प्रत्युत सुदूर पश्चिमी संसार के तप्त हृदयों को भी आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन की सुशिक्षा देकर तृप्त कर रही है।[2], इस महाकवि का इतिवृत्त भी अंधकार में निमग्न है। शताब्दियों के सतत अनुसंधान के बाद भी कालिदास के काल का प्रश्न अनिश्चय के हिंदोल में झूल रहा है। उनके आविर्भाव काल के विषय में प्रमुखतः तीन मत हैं—प्रथम के अनुसार उनका प्रादुर्भाव विक्रम सम्वत् के प्रारम्भ में, द्वितीय के अनुसार गुप्तकाल में और तृतीय के अनुसार षष्ठ शतक में सिद्ध होता है। डा० कर्ण के अनुसार कालिदास का समय छठी शताब्दी का प्रथमार्ध सिद्ध होता है। डा० भण्डारकर भी इसी मत के समर्थक प्रतीत होते हैं।[3] आजकल प्रायः सभी सुप्रसिद्ध भारतीय एवं अभारतीय विद्वान्[4] कालिदास का समय गुप्तकाल में मानते हैं। श्री वासुदेव उपाध्याय ने 'गुप्त साम्राज्य का इतिहास' में इसी मत को स्वीकार किया है।[5]

कालिदास के ग्रंथों के गंभीर पर्यवेक्षण से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि वे गुप्त-युग के अद्वितीय रत्न थे। बाण ने अपने 'हर्षचरित' में बड़े आदर से कालिदास का उल्लेख किया है। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि बाण के समय तक कालिदास बहुत प्रसिद्ध हो चुके

---

१. एन० एन० घोष : भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० १२४

२. देखिये, वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ९९

३. देखिये, आर० जी० भण्डारकर ग्रंथ III, पृ० २०

४. देखिये, डा० कीथ, डा० स्मिथ, मैकडॉनल, मैक्समूलर, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री वी० वी० मिराशी, डा० आर० जी० भण्डारकर, पं० रामावतार शर्मा, डा० भगवतशरण उपाध्याय, श्री हरिनाथ डे, श्री बी० सी० मजुमदार।

५. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० १००

थे। जो हो, इस महाकवि ने अपने ग्रंथों में उच्च एवं आदर्श सभ्यता का जैसा चित्र प्रस्तुत किया है वैसा गुप्त-युग के सिवाय अन्यत्र मिलना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।

शूद्रक-युग

आलोच्य नाटकों से सम्बन्धित तीसरे नाटककार शूद्रक हैं। शूद्रक के समय के निरूपण के विषय में भी बड़ा मतभेद है। पुराणों में आंध्रभृत्य कुल के प्रथम राजा शिमुक का वर्णन मिलता है। अनेक भारतीय विद्वान् राजा शिमुक के साथ शूद्रक की अभिन्नता स्वीकार कर इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी मानते हैं, परन्तु 'मृच्छकटिक' की इतनी प्राचीनता स्वीकार करने में अनेक विद्वानों को आपत्ति है।

वामनाचार्य ने अपनी 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में (शूद्रकादि-रचितेषु प्रबन्धेषु) शूद्रक विरचित प्रबन्ध का उल्लेख किया है और 'द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्'[1] —'मृच्छकटिक' के इस द्यूत-प्रशंसा-परक वाक्य को उद्धृत भी किया है जिससे प्रमाणित होता है कि 'मृच्छकटिक' की रचना 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' (आठवीं शताब्दी) के पहले ही हो गई होगी।

वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी ने भी अपने 'काव्यादर्श' में 'मृच्छकटिक' के 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' पद्यांश को अलंकार-निरूपण करते समय उद्धृत किया है[2]। आचार्य दण्डी का समय सप्तम शतक माना गया है। इससे प्रमाणित होता है कि 'मृच्छकटिक' की रचना उससे भी पहले हो चुकी थी।

इन बहिरंग प्रमाणों के अतिरिक्त समय-निरूपण में 'मृच्छकटिक' के अन्तरंग प्रमाणों से भी प्रभूत सहायता मिल सकती है। नवम अंक में वसन्तसेना की हत्या करने के लिए शंकार आर्य चारुदत्त पर अभियोग लगाता है। अधिकरणिक के सामने प्रस्तुत किये जाने पर धर्माधिकारी मनु के अनुसार निर्णय करता है—

---

१. मृच्छकटिकम्, अंक २, पृ० ११३

२. देखिये, बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४६०

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवै रक्षतैः सह ॥[१]

यह निर्णय ठीक मनुस्मृति के अनुरूप है—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम् ॥
न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि ।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥[२]

इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'मृच्छकटिक' की रचना मनुस्मृति के अनन्तर हुई होगी । 'मनुस्मृति' का रचनाकाल विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है। अतएव 'मृच्छकटिक' की रचना निश्चित रूप से इसके बाद की होनी चाहिये।

'मृच्छकटिक' के नवम् अंक में कवि ने बृहस्पति को अङ्गारक अर्थात् मंगल का विरोधी बतलाया है,[३] परन्तु वराहमिहिर ने इन दोनों ग्रहों को भिन्न माना है ।[४] प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर का सिद्धान्त ही आजकल फलित ज्योतिष में सर्वमान्य है। मंगल तथा बृहस्पति आजकल भी भिन्न ही माने जाते हैं, परन्तु वराहमिहिर के पूर्ववर्ती कोई-कोई आचार्य इन्हें शत्रु भी मानते थे, जिसका उल्लेख बृहज्जातक में भी मिलता है। वराहमिहिर का परवर्ती ग्रंथकार बृहस्पति को मंगल का शत्रु कभी नहीं कह सकता, अतः शूद्रक वराहमिहिर से पूर्व के ठहरते हैं। वराहमिहिर की मृत्यु ५८९ ई० में हुई थी अतएव शूद्रक का रचना-समय वराहमिहिर के सिद्धान्त के प्रचलन से पूर्व होना चाहिये। अर्थात् 'मृच्छकटिक' की रचना ५वीं शताब्दी में अथवा छटी शताब्दी के प्रारम्भ में हुई होगी ।

डा० भोलाशंकर व्यास ने भी 'मृच्छकटिक' का रचना-काल पंचम शतक का उत्तरार्द्ध या छठे शतक का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया है।[५]

---

१. मृच्छकटिकम्, ९.३९
२. मनुस्मृति, ८.३८०-८१
३. मृच्छकटिकम्, ९.३३
४. जीवेन्दूष्णकरा : कुजस्य सुहृद : । बृहज्जातक, २.१६
५. डा० भोलाशंकर व्यास : संस्कृत कवि-दर्शन, पृ० २८४

यह काल गुप्त-साम्राज्य का ह्रासकाल और हर्ष-साम्राज्य के उदय का पूर्व काल था[1]।

इस प्रकार भास, कालिदास और शूद्रक का समय मौर्य-काल और गुप्त-काल की सीमाओं में परिमित हो जाता है। सांस्कृतिक और सामाजिक उत्थान-पतन की दृष्टि से यह युग बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इन दोनों युगों का विवेचन हम विकासक्रम की सीमाओं में इस प्रकार कर रहे हैं।

पारिवारिक स्थिति

समाज संघटना की प्रमुख इकाई परिवार है। भारतीय समाज में संयुक्त-परिवार-प्रणाली को सर्वाधिक प्रश्रय मिला है। धार्मिक अनुशासन, नैतिक भावना सहयोगी प्रवृत्ति के कारण कुटुम्ब का संयुक्त रूप ही अधिक श्रेयस्कर समझा गया है।

आलोच्य नाटक-कालीन समाज में संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी। पिता के जीवन-काल में कुटुम्ब का विभाजन बुरा समझा जाता था। मौर्य-काल में एक ही मकान में माता-पिता, बच्चे, उनके बच्चे, चाचा-भतीजे, चचेरे भाई रहते थे। धनिकों के कुटुम्ब में उनके सेवक-वर्ग भी सम्मिलित होते थे। ब्राह्मणों के कुटुम्बों में उनके कतिपय विद्यार्थियों की परिगणना होती थी[2]। लड़के-लड़कियों के विवाहादि सम्मिलित कुटुम्ब में ही होते थे। विवाह के पश्चात् लड़कों को परिवार से अलग नहीं माना जाता था अपितु उनके आय-व्यय और अन्य आवश्यकताओं का गृहस्वामी पूरा-पूरा ध्यान रखता था।

गुप्तकालीन शिलालेखों और प्राप्त सिक्कों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि उस काल में भी संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली ही प्रचलित थी। पिता की मृत्यु के उपरान्त भी लड़के, पोते, भाई आदि एक ही मकान में साथ-साथ रहते थे।[3]

संयुक्त-परिवार-प्रथा के कारण चलाचल सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न जल्दी-जल्दी नहीं उठा करता था। फिर भी पिता की सम्पत्ति पर सभी पुत्रों का समान अधिकार समझा जाता था। पिता के जीवन-

---

१. पाण्डेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, तृतीय संस्करण, पृ० ११४

२. देखिये, भटनागर एवं शुक्ल : भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ० १७३

३. वही, पृ० १६६

काल में इसका बंटवारा नहीं होता था। मृतक की विधवा का उसकी सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं समझा जाता था। यदि मृतक पुत्रहीन हो तो या तो वह सम्पत्ति उसके निकट कुटुम्वियों यथा—भाई, चाचा आदि में वँट जाती थी, अन्यथा वह राज्याधिकृत कर ली जाती थी। लड़की का कुटुम्व की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं समझा जाता था। इस प्रथा से अचल सम्पत्ति—भूमि आदि—का छोटे-छोटे भागों में बंटवारा नहीं हो पाता था।

संयुक्त-कुटुम्ब-प्रणाली से समाज में सद्भावनापूर्ण वातावरण और सहयोग की भावना को वल मिला हुआ था, जिस का प्रभाव आर्थिक जीवन पर भी पड़ता था। शिक्षा आदि के लिए भी संयुक्त-परिवार अच्छी संस्था रही।

संयुक्त परिवार की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखने में परिवार का प्रत्येक सदस्य अधिक-से-अधिक योगदान देता था। गृहस्वामी की प्रतिष्ठा पर पूरा कुटुम्व का कुटुम्व आत्मदान करने को प्रस्तुत रहता था।

विवाह

समाज का ढांचा विवाह-सम्वन्धों पर आधारित है, इसलिए भारतीय समाज में विवाह को वहुत पवित्र अनुष्ठान के रूप में स्वीकृत किया गया है।

विवेच्य-काल में विवाह का रूप वहुत कुछ सुस्थिर-सा-होता था। सामान्यतया सजातीय विवाह ही श्रेष्ठ समझे जाते थे, किन्तु अन्तर्जातीय विवाह भी नितान्त निषिद्ध नहीं थे। इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान संकर वर्ण (अन्तराल) कहलाती थी।[1] अर्थशास्त्र में अनुलोम विवाह और प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न उस प्रकार की सन्तान को कुक्कुटक, पुक्कस, वेण, कुशीलव आदि संज्ञाएँ दी गई हैं।[2]

मौर्यकाल में वहु-विवाह की प्रथा थी। मैगस्थनीज़ के वर्णन एवं कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' दोनों ही इस वात की पुष्टि करते हैं।[3] इस

---

१. देखिये, राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २४२

२. अर्थशास्त्र, III, ७

३. देखिये, सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २७२

काल में पुनर्विवाह का प्रचलन भी था किन्तु इसके लिए विशेष प्रकार की व्यवस्था थी[1]। १२ वर्ष की कन्या और १६ वर्ष के बालक का विवाह कर दिये जाने की व्यवस्था चाणक्य ने दी है[2]। आठ प्रकार के विवाहों का ब्यौरा, कौटिल्य ने दिया है। इससे सिद्ध है कि मौर्यकाल में ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच आदि विवाहों के प्रकार प्रचलित रहे होंगे[3]।

विधवा-विवाह नितान्त निषिद्ध तो नहीं था, किन्तु अभिशंसा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था, अपितु हेय स्थिति का ही सूचक माना जाता था। 'तलाक़' की प्रथा भी थी किन्तु उसके लिए विशेष नियम थे और विवाह के प्रथम चार प्रकारों में 'तलाक़' नहीं ली जा सकती थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में 'तलाक़' के लिए 'मोक्ष' शब्द व्यवहृत हुआ है। चाणक्य ने 'नियोग' प्रथा की व्यवस्था भी दी है और उसे हेय न मानने की सलाह दी है[4]। स्वयंवर और सती-प्रथा का प्रचलन भी था[5]।

गुप्तकाल में भी स्मृतियों से अनुमोदित विवाह के आठों प्रकार[6] का प्रचलन था। कालिदास ने गान्धर्व विवाह[7] को निकृष्ट नहीं ठहराया। मौर्यकाल की अपेक्षा इस काल में विवाह प्रौढ़ावस्था में किया जाता था। इन्दुमती और शकुन्तला के विवाहों की अवस्था गुप्तकालीन सिक्के पर अंकित कुमारदेवी के चित्र से मिलती-जुलती है[8]। महर्षि वात्स्यायन ने भी 'विगाढयौवना'[9] के विवाह को ही उचित कहा है।

---

१. देखिये, सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २७२
२. देखिये, दयाप्रकाश : भारत का इतिहास, पृ० १६०
३. वही, पृ० १६०
४. देखिये, सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २७३
५. देखिये, राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २५६
६. मनुस्मृति : १.२१, याज्ञवल्क्य : १.५८-६१
७. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ३.२१
८. एलेन, गुप्त क्वाइन्स, प्लेट नं० १
९. कामसूत्र, पृ० १६३

विधवा-विवाह, मोक्ष (तलाक़), नियोग, सती आदि की प्रथा प्रचलित थी। संभवतः विवाह में तिलक, दहेज़ आदि प्रथा का अभाव था[1]।

आर्य-संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—वर्ण-व्यवस्था। भारत-प्रवेश के पश्चात् ही आर्यों ने अपने समाज को चतुर्वर्णों में प्रस्थापित कर लिया जिसके आधार पर समाज की गति का संचालन सुव्यवस्थित हो गया। कालान्तर में इस व्यवस्था ने कुछ दृढ़ और स्थिर रूप धारण कर लिया और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग बन गई।

वर्ण एवं वर्ग-व्यवस्था

मौर्यकाल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण अपनी-अपनी सीमाओं में रहते हुए भी नितान्त असंपृक्त नहीं थे। बौद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा के कारण कहिये या अन्य किसी कारण से, इस काल के प्रारम्भ में ब्राह्मण वर्ण को वैदिक-कालीन आदर नहीं मिल पा रहा था। यही कारण था कि चाणक्य जैसे महान् पण्डित को भी सीधे राजनीति में उतर आना पड़ा। मौर्यकाल की सुदृढ़ शासन-व्यवस्था ने एक बार पुनः ब्राह्मण वर्ण को प्रतिष्ठित किया, किन्तु अशोक के शासन में पुनः बौद्ध-धर्म चरमोन्नति कर गया जिसके फलस्वरूप सनातन-धर्मी ब्राह्मणों का तेज कुछ फीका पड़ने लग गया।

इस काल में वर्ण-व्यवस्था बड़ी जटिल हो गई थी तथा इसका आधार कर्म न होकर जन्म हो गया था। राजा का परम कर्त्तव्य था कि उस वर्ण-व्यवस्था की रक्षा करे[2]। इन चारों वर्णों के अतिरिक्त और बहुत से व्यावसायिक वर्ण थे जिनको इनमें ही अन्तर्भुक्त समझा जाता था। वर्ण के साथ-साथ आश्रम-व्यवस्था पर भी बल दिया जाता था और ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा पाने के लिए राजकुमारों तक को बड़े-बड़े गुरुकुलों में जाना पड़ता था।

जैसाकि ऊपर लिखा गया है, विवाहादि के सम्बन्धों में सवर्ण-व्यवस्था ही अधिक उपयुक्त समझी जाती थी, किन्तु विशेष परिस्थितियों में इस व्यवस्था के प्रतिकूल आचरण भी होता था, यद्यपि ऐसा करना बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाती थी।

---

१. देखिये, वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० २४५

२. देखिये, दयाप्रकाश : भारत का इतिहास, पृ० १८९

इस वर्ण-व्यवस्था के विषय में मैगस्थनीज़ ने लिखा है—किसी को अपने वर्ण से वाहर विवाह करने की अनुमति नहीं थी, कोई अपने व्यवसाय अथवा शिल्प के अतिरिक्त दूसरा व्यवसाय या शिल्प नहीं अंगीकार कर सकता था।'[1] वस्तुत: मैगस्थनीज़ ने तत्कालीन समाज के सात वर्गों का विवेचन किया है और वह वर्ण-व्यवस्था को ठीक से समझ न सका। मैगस्थनीज़ के अनुसार उस समाज के सात वर्ग निम्नलिखित थे—१. दार्शनिक, २. कृषक, ३. ग्वाले, ४. कारीगर, ५. सैनिक, ६. निरीक्षक और, ७. अमात्य। इन वर्गों में दार्शनिक वर्ग को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। वस्तुत: यह वर्ग ब्राह्मण-वर्ण से सम्बन्ध रखता था। भविष्यवाणी करना और शिक्षा देना इसका कार्य था।[2] इसके पश्चात् 'दूसरा वर्ण कृषकों का था। जनसंख्या का अधिकांश भाग इसी वर्ग के लोगों का था।'[3] इसके पश्चात् आखेटकों और पशुपालकों का वर्ग आता है। वस्तुत: उसका यह वर्गीकरण किसी निश्चित वैज्ञानिक व्यवस्था पर बल नहीं देता क्योंकि 'इस यवनदूत का सामाजिक पर्यवेक्षण विशेष महत्त्व का नहीं[4]। यह भारत की सामाजिक व्यवस्था से भली प्रकार परिचित नहीं था।'[5]

इसके अतिरिक्त दास-प्रथा भी प्रचलित थी। दासों के साथ सामान्यतया अच्छा व्यवहार किया जाता था।

गुप्तकाल में वर्ण-व्यवस्था और भी सुदृढ़ हो गई थी। वात्स्यायन ने उसका विशद विवेचन किया है। उस समय समाज चार वर्णों में विभक्त हो गया था और इन वर्णों और आश्रमों का पालन करना आवश्यक हो गया था।[6] इस काल में कई उपजातियों का निर्माण हो गया था जो व्यवसायाधारित थीं। 'कायस्थ' एक अलग जाती बन गई थी, किन्तु इतिहासकारों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जो

---

१. देखिये, राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २५६
२. देखिये, सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ४७०
३. देखिये, राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २५५
४. भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १४५
५. दयाप्रकाश : भारत का इतिहास, पृ० १८६
६. वर्णाश्रमाचारस्थितिलक्षणत्वाच्च लोकयात्रायाः। कामसूत्र, पृ० २०

लेखक थे, वे कायस्थ कहलाते थे[१]। शूद्रक ने भी कायस्थों को न्यायालय-लेखक बतलाया है[२]। इनके इलावा इस काल में शूद्रों के चाण्डाल, अन्त्यज आदि प्रभेद भी हो गये थे। ये अस्पृश्य समझे जाने लग गये थे।[३]

इस काल में चारों वर्णों में परस्पर अच्छा सम्बन्ध था तथा आपस में विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित था।[४]

वस्तुतः वर्ण-व्यवस्था आर्य-सामाजिक जीवन की प्रमुख संस्था रही। प्रायः सभी सम्राटों ने, जो अधिकांशतया क्षत्रिय होते थे, इस व्यवस्था की सुरक्षा में योग दिया। ब्राह्मण-वर्ग अपने त्याग और तपोमय जीवन के कारण मूर्धन्य पद का अधिकारी रहा। मौर्य-साम्राज्य का संस्थापक और महामहिम प्रधान अमात्य चाणक्य फूस की झोंपड़ी में निवास करता था। चन्द्रगुप्त ने कृषक-वर्ग और व्यापारी-वर्ग की सुविधा के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न किया। इससे वैश्य-वर्ग की आर्थिक उन्नति हुई। गुप्तकाल में इस व्यवस्था में सुदृढ़ता ही आई। आलोच्य नाटकों के पर्यावलोकन से तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी ऐतिहासिक विवरण की पुष्टि होती है।

पुरुष और नारी सामाजिक जीवन रूपी रथ के दो समान महत्त्वपूर्ण पहिये हैं। आदिकाल में तो नारी को पुरुष से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था किन्तु धीरे-धीरे पुरुष ने सत्ता को अपने हाथ में कर नारी का स्थान अपने से बहुत नीचे कर दिया।

नारी की स्थिति

मैगस्थनीज़ के विवरणों और अर्थ-शास्त्र के अध्ययन से ऐतिहासिकों ने निष्कर्ष निकाला है कि मौर्यकाल में नारी की स्थिति सामान्यतया अच्छी नहीं थी।[५] स्त्रियाँ ख़रीदी व बेची जाती थीं। एक जोड़ा बैल या गाय देकर कन्याएँ विवाह के लिए ख़रीद ली जाती थीं। स्त्री को आधुनिक अर्थ की स्वतंत्रता भी नहीं प्राप्त थी। विवाह में भी उच्चकुल का व्यक्ति निम्नकुल की स्त्री के साथ विवाह कर लेता था

---

१. देखिये, ओझा : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ४७

२. मृच्छकटिकम्, ९.१४

३. फ़ाहियान का यात्रा-विवरण, पृ० ३१

४. देखिये, वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० २०९

५. सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २७३

या ख़रीद कर रखेल रख लेता था। पति की आज्ञा के विना घर छोड़ कर जाने तक में वह दण्ड की भागिनी वनती थी। पर्दे की भी प्रथा थी। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि स्त्रियों की स्थिति नितान्त अनुन्नत थी। समाज में स्त्रियों का आदर होता था तथा सामाजिक जीवन में भाग लेने की उनको पर्याप्त स्वतंत्रता थी। उनके प्रति अन्याय करने वाले व्यक्ति को राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता था[1]।

इनके अतिरिक्त कुछ दार्शनिक स्त्रियाँ भी होती थीं, पर वे संभोग नहीं करती थीं[2]।

गुप्तकालीन समाज में स्त्रियों का स्थान अधिक उच्च था। स्त्रियाँ गृहलक्ष्मी समझी जाती थीं[3]। स्त्री को आदर्श पत्नी एवं विदुषी बनाने के लिए स्त्री-शिक्षा पर भी ज़ोर दिया जाता था। कालिदास के 'शाकुन्तलम्' में शकुन्तला द्वारा प्रेम-पत्र-लेखन का वर्णन इसकी पुष्टि करता है कि गुप्तकाल में स्त्री-शिक्षा का अच्छा प्रचार था। गुप्त-सम्राटों के सिक्कों पर राजाओं के साथ राजमहिषियों के चित्र इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि तत्कालीन समय में स्त्रियों को अच्छा स्थान प्राप्त था। पर्दे की प्रथा भी नहीं थी[4]।

इतना होते हुए भी स्त्री की वर्तमान अर्थ वाली स्वतंत्रता का अभाव था, कौटुम्बिक सम्पत्ति में उन्हें दायाधिकार भी प्राप्त नहीं थे[5]। विवाह में आसुर, राक्षस और पैशाच विवाह उनकी दयनीय स्थिति की ही सूचना देते हैं। वहु-विवाह-प्रथा भी थी।

सब मिला कर आलोच्यकालीन समाज में स्त्रियों की दशा न तो अत्यन्त बुरी थी और न वैदिककाल के समान शीर्षस्थानीय ही। वह सामान्यतया 'सद्गृहिणी' का जीवन व्यतीत करती थी और अपने सद्गुणों के कारण सम्मान पाती थी तथा दुर्गुणों के कारण दण्डनीय समझी जाती थी। शिक्षा का प्रसार मौर्यकाल की अपेक्षा गुप्तकाल में अधिक हो गया था, तब भी स्त्री को वहुत उच्च स्थान नहीं मिल सका

---

१. दयाप्रकाश : भारत का इहिास, पृ० १९१

२. देखिये, राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २४८

३. देखिये, वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० २७२-७३,

४. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० २४४

५. वही, पृ० २४२-४५

था। दुष्यन्त शकुन्तला के साथ किये गये गान्धर्व विवाह को खटाई में डाल कर उसे अपमानित जीवन व्यतीत करने के लिए विवश कर देता है। उधर कण्वाश्रम में भी उसके लिए कोई स्थान नहीं बच पाता जबकि इसमें शकुन्तला निर्दोष थी। यदि स्त्री की अवस्था बहुत अच्छी होती तो कालिदास की शकुन्तला को भरे-दरबार में इस प्रकार अपमानित नहीं होना पड़ता। गुप्तकालीन इतिहास भी इस बात की पुष्टि करता है।

रहन-सहन का ढंग

प्रत्येक युग या समाज-विशेष की अपनी एक विशिष्ट रहन-सहन-पद्धति होती है। युगानुकूल वेशभूषा, आहार, आवास, आमोद-प्रमोद आदि को इसके अन्तर्गत सन्निविष्ट किया जा सकता है। मौर्यकालीन समाज का रहन-सहन सात्त्विक होते हुए भी अलंकृत था। मैगस्थनीज़ ने उस समय के निवासियों में यह देखा कि जीवन की सरलता के बावजूद भी वे लोग नाना प्रकार के तथा चटकीले रंगों के वस्त्र पसंद करते थे। सोने-चाँदी, हीरे-जवाहरात के आभूषण तथा बेलबूटेदार मलमल का प्रयोग करते थे। वस्त्रों में पुरुष उष्णीष और उत्तरीय का प्रयोग करते थे।[1] निआर्कस ने सिन्धु नदी के किनारे रहने वाले लोगों के वस्त्रों के वर्णन में लिखा है कि वे लोग चमकदार सूती वस्त्र पहनते थे। एक पिण्डली तक लम्बा कुर्ता तथा दो अन्य वस्त्र होते थे जिनमें से एक को कंधे पर डाल लेते और दूसरे को सिर पर बाँध लेते थे। हाथी-दाँत के कुण्डल, चमड़े के सफ़ेद जूते जिन पर बेल-बूटे कढ़े होते थे, उन्हें अधिक पसंद थे।[2] शरीर पर सुगन्धित अंग-लेपन का प्रचलन था।

भोजन में चावल, जौ, गेहूँ आदि प्रमुख खाद्यान्न थे। लोगों का ध्यान सुस्वादु भोजन की ओर अधिक था। भोजन में मांस का भी प्रयोग था किन्तु मदिरा का विशेष स्थान नहीं था। मदिरा पर राज्य-नियंत्रण भी था और केवल उत्सव-समारोहों में ही खुलकर प्रयोग की छूट रहती थी। सामान्यतया मुख्य आहार भात था जिस पर मसालेदार मांस रखा जाता था। भोजन करने के लिए विशेष प्रकार की मेज़ बनी होती थी जिस पर सोने-चाँदी के प्याले भी रखे जाते थे।[3] भोजन अकेले करना

---

१. देखिये, राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २५७

२. वही, पृ० २५७

३. सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २७६

ही अधिक पसंद किया जाता था। प्रतिदिन दो बार भोजन करने की प्रथा थी। बाज़ारों में भी कई प्रकार का भोजन उपलब्ध होता था।

मैगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र नगर के निर्माण में लकड़ी का विशेष उपयोग बताया है। भवन सुन्दर और कलापूर्ण ढंग से निर्मित होते थे। भोजनालय, स्नानागार आदि की अलग-अलग व्यवस्था थी। प्रासादों की शोभा बढ़ाने के लिए सुनहरे स्तम्भों पर सोने की उभरी हुई बेलें मण्डित रहती थीं। प्रायः घरों की दीवारों पर सुन्दर चित्र-कारी की प्रथा थी।

आमोद-प्रमोद के कई साधनों का उल्लेख मैगस्थनीज़ नें भी किया है और तत्कालीन साहित्य से भी उसका अनुमोदन होता है। आन्तरिक खेलों में शतरंज अधिक प्रिय खेल था। कुछ ऐसी पेशेवर जातियाँ भी थीं जो अपने कौतुकों से मनोरंजन किया करती थीं यथा—नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवक, कुशीलव आदि। इनके अति-रिक्त आखेट, नाव चलाना, दौड़, दंगल, कुश्ती आदि अनेक मनोरंजन के बाह्य साधन थे। स्वयं राजा व सामान्त बैलों और घोड़ों की दौड़ करवाते थे जिन में सोने-चाँदी की बाज़ी लगाया करते थे। मुर्गों, बटेरों, घोड़ों, भैंसों और हाथियों की लड़ाई भी होती थी।[1] सामाजिक उत्सवों और त्योहारों पर आमोद-प्रमोद किया जाता था। दीपावली, गिरिपूजा, पुष्प-समारोहों पर धूम मची रहती थी। राजा के जन्म-दिवस का समारोह भी मनाया जाता था। राज्य में स्थान-स्थान पर उद्यानों का प्रबन्ध भी था, जिनमें कृत्रिम जलाशय निर्मित होते थे। 'कथासरित्सागर' में पाटलिपुत्र को पुष्पों की नगरी, ज्ञान, संस्कृति और ललित कलाओं का भण्डार तथा 'विश्व के नगरों की रानी' कहा है[2]।

रहन-सहन का यह भौतिक जीवन गुप्तकाल में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया था। लोग सुखमय जीवन बिताते थे। फ़ाहियान ने तत्कालीन समाज की सुख-सम्पत्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

गुप्तकाल में रेशमी और ऊनी वस्त्रों का प्रयोग बहुत अधिक बढ़ गया था। कुछ रेशमी वस्त्र चीन से आते थे जिनके लिए चीनांशुक

---

१. देखिये, राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० ९३

२. लूनिया : भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास, पृ० १७०

संज्ञा दी गई थी[१] । साधारण पुरुष उष्णीष तथा राजा मुकुट धारण करते थे । स्त्रियाँ साड़ी-चोली का भी प्रयोग करने लग गई थीं । गुप्त-काल में आभूषण का प्रयोग बहुत अधिक होने लग गया था । केयूर, हार, अंगुलीयक आदि का प्रचलन बढ़ गया था । अमूल्य मणियों, रत्नों के हार, अंगूठियों, रत्न-जड़ित भुजबंधों तथा कुण्डलों आदि का उपयोग होता था ।[२] लोग फ़ैशन-पसंद भी थे । घुँघराले केशों का बड़ा शौक था । स्त्री, पुरुष, बच्चे सभी रखते थे । अपने केशों को सुगन्धित करने के लिए सुगन्धित चूर्ण जलाये जाते थे जिन की गर्मी से स्त्रियाँ अपने केशों को सुखाया करती थीं[३] । केशों पर सुन्दर मन्दार के फूल लगाये जाते थे ।

भोजन में चावल के अतिरिक्त गुड़, घृत, दधि, मोदक, पूपक, दाल, रोटी, दूध, मिठाई आदि का खुल कर प्रयोग होता था । गुप्तकाल में मांस का प्रयोग सीमित समाज में ही होता था । मदिरा का निषेध भी था, किन्तु उत्सवों, समारोहों के अतिरिक्त भी कुछ लोग उसका सेवन करते थे । भोजन के लिए सोने, चाँदी, ताँबे, लोहे आदि के पात्र काम में लाये जाते थे ।[४] लहसुन, प्याज़ आदि का प्रयोग गुप्तकाल में प्राय: बन्द ही हो गया था[५] ।

आवासों को कलात्मक ढंग से सजाया जाता था । मौर्यकालीन लकड़ी के भवन अब नहीं रह गये थे, सुन्दर तराशे हुए पत्थरों के भवनों का निर्माण होता था । उस समय का वास्तु-शिल्प उत्कृष्ट कोटि का था । कालिदास ने 'मेघदूत' और 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में जिन कला-पूर्ण आवासों का चित्रण किया है वे गुप्तकाल की वास्तुकला की उत्कृष्टता के प्रमाण हैं ।

चौपड़ और शतरंज घर के भीतर लोकप्रिय आमोद-प्रमोद के साधन थे ।[६] उत्तरकालीन मौर्य-साम्राज्य में बौद्ध-धर्म के कारण

---

१. 'चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य'—अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १.३१
२. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० २३५
३. जालोदगीर्णैः उपचितवपुः केशसंस्कारधूपैः । पूर्वमेघ, ३२
४. देखिये, वाटर : ह्वान्सांग, भाग १, पृ० १४०, १५१, १६८, १७९
५. डा० वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० २३८
६. लूनिया : भारतीय सभ्यता तथा संस्कृतिका विकास, पृ० १९७

आखेट की महिमा कम हो गई थी, किन्तु गुप्तकाल के आते-आते उसकी पुनः प्रतिष्ठा हो गई। नटों, कलाविदों, नाटकों, प्रहसनों, मेलों और तमाशों का प्रचुर प्रचलन था। पशुओं की लड़ाई भी होती थी। द्यूत-क्रीड़ा का बहुत अधिक प्रचार था।

इस प्रकार आलोच्य नाटकों का काल रहन-सहन की दृष्टि से भारतीय संस्कृति का उत्कृष्ट काल था। सब प्रकार की सुख-सामग्री एवं भोग-विलास के प्रसाधनों से युक्त यह काल इतिहास में अपनी अलग ही विशेषता रखता था। क्या वस्त्राभूषण, क्या आहार, क्या आवास, सभी दृष्टियों से इस काल में नागरिक उत्तम जीवन व्यतीत करते थे। उनका रहन-सहन कलापूर्ण एवं सुरुचिपूर्ण था। वस्तुतः सुदृढ़ शासन-व्यवस्था, पर्याप्त व्यापारोन्नति एवं उन्नतशील कृषि-काल में रहन-सहन का स्तर स्वयमेव ही उच्च हो जाता है।

शिक्षा-प्रणाली

समाज की उन्नतशील अवस्था का एक बड़ा उत्तरदायित्व उसकी शिक्षा-पद्धति पर होता है। सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन के सुप्रवाह को शिक्षानुमोदित मस्तिष्क ही भली प्रकार से चला सकता है।

मौर्यकालीन शिक्षा भारतीय संस्कृति के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। शिक्षा का कार्य आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय आदि करते थे जिन्हें राज्य और समाज की ओर से धन, भूमि आदि की पूर्ण सहायता दी जाती थी। तक्षशिला शिक्षणालय उस समय का विश्वविख्यात शिक्षा-केन्द्र था। इसके अतिरिक्त उज्जैन, वाराणसी आदि के विश्वविद्यालय भी बहुत प्रसिद्ध थे। तत्कालीन आचार्य अपने शिष्यों को वेद, अष्टादश विद्या, विविध शिल्प, धनुर्विद्या, हस्तिविद्या, मनन-विद्या, पक्षियों की बोली समझने की विद्या, चिकित्साशास्त्र आदि की शिक्षा देते थे। तक्षशिला में एक आचार्य के पास ५०० विद्यार्थी रहते थे जहाँ उच्चकोटि के राजकुमार भी शिक्षा पाते थे। स्वयं चाणक्य ने वहीं शिक्षा पाई थी और अपने प्रिय शिष्य चन्द्रगुप्त को वहीं सर्वविद्या-निष्णात किया था। दो तरह के अन्तेवासी आचार्य से शिक्षा ग्रहण करते थे। प्रथम 'धम्मन्तेवासिक' जो दिन में सेवा करते और रात में शिक्षा पाते, और दूसरे 'आचारिय भागदायक' जो आचार्य के घर ज्येष्ठ पुत्र की तरह शिक्षा प्राप्त करते थे और उसकी

फ़ीस चुकाते थे, जो लगभग १००० कार्षापण होती थी[1]।

गुप्तकाल में तक्षशिला विश्वविद्यालय की भांति नालन्दा महाविद्यालय शिक्षा का प्रख्यात केन्द्र था। उसे यद्यपि राज्य की ओर से संरक्षण मिला हुआ था, किन्तु अन्तेवासी अपनी फ़ीस देते थे। इस काल में शिक्षा संस्कृत और प्राकृत दो भाषाओं में दी जाती थी[2]। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र का-सा रहता था। इस काल में स्त्री-शिक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया था। वेद-वेदांगों के साथ दर्शन, धर्म-शास्त्र, आयुर्वेद, धनुष-कला, सर्पविद्या, निधिकला आदि की शिक्षा भी दी जाती थी। चीनी यात्री फ़ाहियान और ह्वेन्सांग ने सहस्रों संस्थागारों का वर्णन किया है जिन में शिक्षा दी जाती थी[3]। पाटलिपुत्र परीक्षा-केन्द्र था।

गुप्तकाल में लिपि का भी पूर्ण विकास हो गया था जिसे गुप्तलिपि कहा जाता था। यह ब्राह्मी लिपि का ही रूप थी।

मौर्यकाल और गुप्तकाल की सुशिक्षा में बौद्धिक और शारीरिक दोनों प्रकार की शिक्षा का स्थान था। तत्कालीन राजनीति को ध्यान में रखते हुए युगानुकूल शस्त्र-विद्या अवश्य दी जाती थी। राजकुमारों और सामन्तकुमारों की शिक्षा इस दृष्टि से कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण हुआ करती थी। चाणक्य जैसे निष्णात नीति-विशारद और वररुचि, पतञ्जलि जैसे महान् वैय्याकरण इस युग की शिक्षा की देन थे। उनके अतिरिक्त गुप्तकालीन कालिदास, चरक, शूद्रक आदि विद्वानों की शिक्षा का श्रेय भी तत्कालीन पद्धति को ही है।

सभ्यता और संस्कृति के साथ-साथ समाज की धार्मिक अवस्था में भी परिवर्तन होते हैं। आलोच्य-नाटकों का काल भौतिक एवं राजनीतिक उन्नति की दृष्टि से अपने चरमोत्कर्ष पर था। यद्यपि मौर्यकाल के पूर्व ही भारत में बौद्ध और जैन धर्मों का आविर्भाव हो चुका था, किन्तु उसके प्रारम्भिक काल में सामान्य-

धार्मिक स्थिति

१. देखिये, सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २७८

२. देखिये, डा० वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० १८३

३. वही, पृ० १८२

तया वैदिक देवताओं की उपासना का सर्वत्र प्रचार था। इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की स्तुति और पूजा भी प्रचलित थी। वासुदेव, कृष्ण और बलराम के उपासक भी थे। साथ ही नवोदित बौद्ध और जैन-मत भी धीरे-धीरे अपने उत्कर्ष की ओर बढ़ रहे थे। वस्तुतः मौर्य-शासक उदारधर्मा थे, इसलिए सभी भारतीय धर्म फूल-फल रहे थे। ब्राह्मण-धर्मी यज्ञों और अनुष्ठानों का भी प्रचार कम न था।

इसके बावजूद भी मौर्यकाल में बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म को अधिक उन्नति करने का अवसर मिला। स्वयं चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन साधु भद्रबाहु का शिष्यत्व स्वीकार कर जैनधर्मानुरूप दीक्षा ग्रहण की एवं सिंहासन का त्याग कर दिया[1]। राज दरबार में जैन-प्रभाव छा चुका था। इधर बौद्ध-धर्म भी विकसित होता जा रहा था और अशोक के शासन-काल में तो यह उन्नति की चरमावस्था को पहुँच गया। यद्यपि अशोक स्वयं बौद्ध-धर्मानुयायी हो गया था और उसने उसके प्रचार के अनेक उपाय भी किये किन्तु फिर भी उसकी धार्मिक नीति उदार रही। सभी धर्मों को स्वतन्त्रतापूर्वक फैलने की अनुमति प्राप्त थी। फिर भी सामान्य जनता में यज्ञादि हिंसात्मक अनुष्ठानों के प्रति विरक्ति बढ़ती जा रही थी जिससे स्वभावतः ही ब्राह्मण-धर्म की क्षति हो रही होगी।

गुप्तकाल में सनातन-धर्म ने पुनः अपनी लुप्त प्रतिष्ठा का उद्धार कर लिया। वस्तुतः मौर्य राजवंश के पतन के पश्चात् ही अहिंसात्मक सद्धर्मों की निर्वीर्यता से शासक-समुदाय ऊबने लग गया था। आखेटादि साहसिक कर्मों पर भी धर्म का आवरण चढ़ जाने से जो दुर्बलता छा रही थी उससे स्वभावतः वीर जाति अपना पीछा छुड़ाना चाहती रही होगी। इसके अतिरिक्त बौद्ध-धर्म में कितने ही अनाचारों का प्रचार भी बढ़ने लग गया था। परिणामतः गुप्त-काल में पुनः अश्वमेध यज्ञों की बाढ़ आयी, वैदिक देवी-देवताओं का आह्वान और पौरहित्य कर्म की प्रतिष्ठा हुई। विष्णु, शिव, सूर्य, वराह आदि अवतारों का पूजन-कीर्तन होने लगा। शक्ति की पूजा को भी प्रोत्साहन मिला।[2] किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि बौद्ध-धर्म अथवा जैन-धर्म की अवनति हो गई थी। ये भी अपनी स्वाभाविक

१. देखिये, डा० राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० ६७
२. डा० वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, २२२-२५

गति धारण किये हुए थे। सम्राट् उदारचेता थे, अतएव बौद्ध-विहार और मठों की स्थापना का कार्य भी उतनी ही तीव्र गति पर था जितना कि सूर्य-मन्दिर और शिव-मन्दिर का निर्माण। उन्होंने किसी धर्म-विशेष के साथ पक्षपात का व्यवहार नहीं किया। सम्राट् समुद्रगुप्त के समय में कितने ही विहारों और मठों की प्रतिस्थापना इसका प्रमाण है। हाँ, समय के प्रभाव के कारण निरीश्वरवादी बौद्ध-धर्म में भी भक्ति का प्रसार होने लग गया था, अवतारवाद की कल्पना को वल मिलने लग गया था।

वस्तुतः भारत की प्राचीन धार्मिक नीति विवादात्मक होते हुए भी उदार रही और यहाँ के सम्राटों का सभी के प्रति समान व्यवहार रहा। यही कारण है कि मौर्यकाल के संस्कृत नाटकों में सनातन-धर्मी देवी-देवताओं का प्रचुर वर्णन उपलब्ध होता है और गुप्तकालीन नाटकों में वौद्ध-धर्म और जैन-धर्म के प्रति भी उपेक्षा का भाव दृष्टि-गोचर नहीं होता। जनता धर्म-प्राण थी, चाहे वह किसी धर्म में विश्वास करती हो। जन-जीवन में धर्म को नैतिकता के साथ स्वीकार कर लिया गया था, पूजा-उपासना, धार्मिक कृत्यों का चारों ओर वोलवाला था और मन्दिरों आदि के निर्माण को प्रोत्साहन मिला हुआ था। प्रायः धार्मिक स्वतन्त्रता थी और किसी पर धर्म को जवर्दस्ती नहीं लादा जाता था। सभी धर्मों में दार्शनिकता का समावेश हो चुका था जिनको लेकर समय-समय पर सभाओं और राज-दरवारों में शास्त्रार्थ होते थे।

आर्थिक स्थिति

सामाजिक जीवन के मूल में अर्थ-व्यवस्था का वड़ा महत्त्व है। समाज की सुख-समृद्धि का अनुमान उसके आर्थिक ढाँचे से भी लगाया जा सकता है। आलोच्य नाटक-युगों में भारतीय समाज सुख-सुविधा के साधनों से सम्पन्न था, कला-कौशल की उन्नति में सचेष्ट था एवं आमोद-प्रमोद के क्षेत्र में पर्याप्त विकासशील था। अतएव निश्चय ही उन कालों में आर्थिक व्यवस्था समुन्नत रही होगी। इतिहास इस वात का साक्षी है[1] कि मौर्यकाल और गुप्तकाल में भारतीय समाज सभी दृष्टियों से पर्याप्त उन्नति कर गया था। उसकी आर्थिक स्थिति भी सुव्यवस्थित थी।

---

१. देखिये, लूनिया : भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास, पृ० १६२-६७

मौर्य वंश भारतीय साम्राज्य के क्षितिज में प्रथम ऐतिहासिक घटना थी, किन्तु उसका विकास इतनी तीव्रता एवं सुदृढ़ता के साथ हुआ कि भारत का यह प्रथम साम्राज्य आज तक अनुकरणीय बना रहा। प्राचीन सभ्यता के उस दौर में "देश के आर्थिक जीवन का बहुत बड़ा भाग राज्य के नियन्त्रण में था[1]। देश के कृषि, उद्योग, तथा व्यापार पर राजा का नियन्त्रण था[2]।"

इधर गुप्तकाल भारतीय इतिहास में स्वर्ण-युग के नाम से
रहा है। साहित्य के साथ-साथ कला-कौशल और भौतिक
काल ने अपने-आपको वहुत आगे प्रतिष्ठित कर रखा
न्नति के साथ-ही-साथ धन-धान्य की भी प्रचुर
जनता वैभवशालिनी थी तथा सुख से अपना
"[3]। पूरे साम्राज्य में कोई भी आर्त, दरिद्र,
खी नहीं था[4]। इससे सिद्ध होता है कि
समाज की आर्थिक स्थिति पर्याप्त उन्नत थी।

राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था की आधार-
विनिमय-प्रणाली, व्यवसाय आदि होती हैं।
के समाज में उनकी अवस्था निश्चय ही
रूप तत्कालीन समाज का आर्थिक ढाँचा

र्थिक व्यवस्था में एक बड़ा उत्तरदायित्व-
है। शस्यश्यामला भारत-भू सदैव ही
न-धान्य उत्पादक रही है। इसलिए
जस किसी भी शासक-वर्ग ने यहाँ की
षि-व्यवस्था को सर्वप्रथम स्थान दिया
र्थिक स्तर उन्नत रहा।

मौर्यकाल में स्वयं प्रथम सम्राट् ने इस ओर विशेष ध्यान

---

१. राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २६०

२. वही।

३. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ४३

४. आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो, दण्डयो न वा यो भृशंपीडितः स्यात्।—स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ वाला लेख।

दिया। स्वयं राजा की निजी ज़मीन के रूप में देश की कृषि का बड़ा भाग सीधे-सीधे राज्य के हाथों में था[१]। मैगस्थनीज़ द्वारा वर्णित तत्कालीन समाज के सात वर्गों में कृषक-वर्ग को द्वितीय स्थान प्राप्त था। देश की जनता में कृषकों की संख्या सबसे अधिक थी[२]। ये लोग युद्ध करने तथा अन्य राजकीय कर्त्तव्यों से मुक्त रहते थे[3]। युद्धकाल में भी ये सुरक्षित रहते थे तथा कोई भी पक्ष कृषक-वर्ग को हानि नहीं पहुँचाता था।

सिचाई की व्यवस्था बहुत समुन्नत थी। भूमि को माप कर उसे नहरों द्वारा सींचा जाता था। चन्द्रगुप्त नें तो एक पर्वतीय नदी को रुकवा कर सुदर्शन नामक बाँध का निर्माण भी कराया जिससे आनें वाली शताब्दियों तक लाभ हुआ[४]। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के सिचाई-साधनों का वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हुआ है। मैगस्थनीज़ ने स्वयं यहाँ की कृषि-व्यवस्था की प्रशंसा की है—"जहाँ दो फ़सलें नियमित रूप से उत्पन्न की जाती हैं और कभी अकाल नहीं पड़ता[५]। भूमि-कर अनाज अथवा मुद्रा किसी भी रूप में दिया जा सकता था। राजा केवल कर लेने का ही अधिकारी नहीं था, अपितु आपत्ति के समय कृषकों के लिए बीज-अन्न आदि की व्यवस्था भी करता था। फ़सलों को अकाल, टिड्डी, चूहों, जंगली पशुओं आदि से बचाने का भी पूर्ण प्रबन्ध राज्य की ओर से होता था। कृषि-कर्म के औज़ार बनाने वाले शिल्पी करों से तो मुक्त थे ही, साथ ही उन्हें राज्य-कोष से उपवेतन भी मिलता था[६]।

---

१. राधाकुमुद मुकर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २६०

२. देखिये, भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १४४-४५

३. मैगस्थनीज़, देखिये, सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २५८

४. रुद्रदामा का जूनागढ़ वाला लेख। देखिये, भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १४३

५. देखिये, सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २५८

६. देखिये, लूनिया : भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास, पृ० १६८

यह राजकीय सुरक्षा एवं नागरिक सुरुचि का ही परिणाम था कि वर्ष में दोनों फ़सलें अच्छी प्रकार उत्पन्न की जाती थीं। फ़सलों में विभिन्न प्रकार के चावल कोदों (कोद्रव) तिल तथा केशर, मूँग (मुद्रग) उड़द (माष), मसूर, कुलुत्थ आदि दालें, यव, गेहूं (गोधूम), कलाय, अलसी (अतसी), सरसों (सर्षम) शाक, मूल आदि सब्जियाँ और कद्दू, लौकी, कूष्मांड, अंगूर, (मृदवीका) आदि फल तथा गन्ने का उत्पादन होता था[1]।

गुप्तकाल में भी कृषि की प्रधानता रही। गुप्त-सम्राटों ने भी कृषि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। राजा समस्त भूमि का माप करवाता था तथा उस भूमि को टुकड़ों-प्रत्यय में बाँटता था[2]। सिंचाई की ओर भी गुप्त सम्राटों ने पूर्ण ध्यान दिया। चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित 'सुदर्शन' बाँध का जीर्णोद्धार स्कन्दगुप्त द्वारा किया गया था[3]। इसके अतिरिक्त गुप्त-नरेश आदित्यसेन की स्त्री ने भी एक वृहत् जलाशय का निर्माण कराया था[4]। सिंचाई की उस व्यवस्था और सम्राटों की निगरानी का स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि भूमि उर्वरा हुई और देश धन-धान्य पूर्ण हुआ जिससे कला-कौशल और साहित्य के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति को समर्थन मिल सका।

वाणिज्य-व्यापार

वाणिज्य-व्यापार समाज की आर्थिक स्थिति की दूसरी मुख्य आधार-शिला है। वस्तुत: उत्पादन के समुचित आयात-निर्यात के बिना आर्थिक ढाँचा अधिक सुस्थिर नहीं रखा जा सकता।

मौर्यकाल में व्यापार के सम्बन्ध में राजा के ऊपर एक विशेष उत्तरदायित्व था। उसकी आय का बड़ा भाग उसी पर निर्भर होने के कारण वह सम्पूर्ण देश के व्यापार पर नियन्त्रण रखे हुए था।

व्यापार के लिए नियत पण्यशालाएँ (मंडियाँ) होती थी जहाँ

---

१. देखिये, राधाकुमुद मुकुर्जी : चंद्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २६२

२. देखिये, कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इंडिकेरम्, भाग ३, नं० १४

३. जूनागढ़ का लेख, देखिये, कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इंडिकेरम्, भाग ३, नं १४

४. तस्येव प्रियभार्यया नरपते : श्री कोणदेव्या सर: ।–अपरसद का शिलालेख।

माल का क्रय-विक्रय किया जाता था। व्यापार में झूट, मिलावट, कपट, सट्टेबाज़ी, चोरी आदि पर राज्य कठोर दण्ड की व्यवस्था करता था[1]।

आचार्य चाणक्य के अर्थशास्त्र में इस प्रकार का विधान बड़े विस्तृत रूप में किया गया है। मौर्यकाल में भारत का आन्तरिक व्यापार बहुत उन्नत था। देश के विभिन्न भागों से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का व्यापार होता था। कितने प्रकार के मोती, हीरे, जवाहरात, मणि, मूँगा, सुगन्धित लकड़ी, साल, कम्बल, रेशम, लिनेन, कौशेय, सूती कपड़े आदि का व्यापार वहुत उन्नत अवस्था में था[2]। स्त्रियों का भी व्यापार होता था। व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से होता था। व्यापार अपने मार्गों पर निर्भर था जिसकी उचित व्यवस्था साम्राज्य ने कर रखी थी। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इन मार्गों की भी व्यवस्था दी है[3]।

गुप्तकाल में व्यापार मुख्यत: छोटी-छोटी समितियों के हाथ में था[4]। व्यापार-मार्ग सुरक्षित थे और चोर-डाकुओं का डर नहीं था। स्थल और जल दोनों मार्गों से आयात-निर्यात होता था भारत से ऊन, रेशम, मलमल, सूक्ष्म वस्त्र, मणि, हीरे, हाथी दाँत, मोरपंख, सुगन्धित द्रव्य, मसाला आदि का निर्यात प्रचुर मात्रा में होता था तथा घोड़ा, सोना, मूँगा, कपूर, रेशम का तागा, चन्दन आदि का विदेशों से आयात किया जाता था[5]। स्त्री-व्यापार भी गुप्तकाल में वर्जित नहीं था।

गुप्तकाल में व्यापारिक सुविधा के लिए सड़कों और जलमार्गों का भी निर्माण हुआ था। अच्छे-अच्छे वंदरगाहों को प्रतिष्ठित किया गया था भड़ोंच के अतिरिक्त पूर्वी समुद्र-तट पर कदूर, घंटशाली, कावेरी पट्टनम, तोंदई कोरकई आदि प्रसिद्ध वन्दरगाह थे।

इस काल में भारत का व्यापार मिस्र, रोम, फ़्रांस, ग्रीस, फ़ारस आदि के साथ वड़े विस्तृत पैमाने पर होता था।

---

१. देखिये, राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २६६
२. देखिये, वही, पृ० २७७-७८
३. अर्थशास्त्र, VII. १२
४. देखिये, वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ४४
५. वही, पृ० ५०-५१

मौर्यकाल और गुप्तकाल के व्यापारिक ढांचे के समुन्नत रूप ने तत्कालीन समाज को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। श्री-वृद्धि और सुख-समृद्धि के साधनों में व्यापार का स्थान बहुत ऊँचा है। साथ ही राज्य-कोष को व्यापार से बहुत अधिक लाभ होता है। दोनों के इतिहास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन कालों में भारतीय व्यापार अपनी चरमोन्नति पर था।

विनिमय-प्रणाली

वस्तु का वस्तु के साथ विनिमय वस्तुतः उस काल का प्रचलन माना जाना चाहिये जबकि सिक्कों और मुद्राओं का आविष्कार नहीं हुआ होगा। यों सामान्यतया आज तक इस प्रणाली का कोई न कोई रूप देखा जा सकता है।

मौर्यकाल में सिक्कों और मुद्राओं का आविष्कार हो चुका था। वेदों में भी 'निष्क' नामक सिक्के का प्रयोग मिलता है[१]। 'अर्थशास्त्र' में 'कोष-प्रवेश्य' और 'व्यावहारिकी' दो प्रकार के सिक्कों का विवरण दिया गया है। राजकीय कर तथा क्रय-विक्रय के लिए 'कोष-प्रवेश्य' सिक्कों को ही प्रामाणिक माना जाता था[२]।

सिक्के अनेक मूल्यों के होते थे जिनका निर्धारण धातु एवं आकार पर निर्भर करता था। सुवर्ण, कार्षापण, पण, माषक, काकणि अर्धकाकणि आदि स्वदेशी सिक्कों के अतिरिक्त फ़ारस के सोने के 'डेरिक' और चाँदी के 'सिगलोई' या 'रोकेत्य' सिक्के भी उस समय विनिमय में काम आते थे।

मुद्रा-संचालन के लिए मौर्यकाल में एक पृथक् अमात्य होता था जिसे 'लक्षणाध्यक्ष' कहते थे। टकसाल का अधिकारी 'सौवर्णिक' कहलाता था। प्रचलित सिक्कों की जांच-पड़ताल के लिए 'रूपदर्शक' होता था[3]।

विनिमय-प्रणाली में गुप्तकालीन समाज कुछ और आगे बढ़ा पाया जाता है। समुद्रगुप्त ने भूमि-कर के लिए अन्न अथवा मुद्रा की

---

१. ऋग्वेद, I. १२६. २

२. सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २६८

३. राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २८०-८१

छूट दे रखी थी। मौर्यकाल में भूमि-कर सामान्यतया उत्पादनांश के रूप में ही लिया जाता था। यों कोई चाहे तो मुद्रा-रूप में भी जमा करा सकता था। पर उस काल की अपेक्षा गुप्तकालीन कृषक 'मुद्रा' का प्रयोग अधिक करने लग गये थे। इसके अतिरिक्त इस काल की मुद्रा अधिक सुडौल और सुन्दर होती थी। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर उसका चित्र वीणा, बाण-धनुष आदि सहित है, जो इस बात को सिद्ध करता है कि सिक्कों में कला-प्रियता भी आ गई थी। राजा का नाम सिक्के पर अवश्य अंकित होता था। मौर्यकाल की भाँति[1] प्रत्येक नागरिक धातु ले जाकर सौवर्णिक से सिक्के नहीं बनवा सकता था। सिक्के राज्य की ओर से ही बनाये जाते थे।

इस प्रकार आलोच्य नाटकों के काल में विनिमय के लिए सिक्कों और मुद्राओं का प्रचुर प्रयोग इतिहास-सम्मत सिद्ध होता है। यद्यपि पारस्परिक विनिमय-प्रणाली भी प्रचलित रही होगी, किन्तु पर्याप्त मात्रा में अनेक प्रकार की मुद्राओं और सिक्कों का आविष्कार यही सिद्ध करता है कि विनिमय के लिए सोने-चाँदी, तांबे आदि के सिक्के प्रयुक्त होते थे।

समाज की आर्थिक स्थिति पर उद्योगों एवं विभिन्न व्यवसायों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। कृषि के पश्चात् वाणिज्य का प्रमुख आधार उद्योगों से निर्मित वस्तुओं का ही होता है।

उद्योग एवं व्यवसाय

मौर्यकाल में छोटे और बड़े कितने ही प्रकार के उद्योगों को प्रोत्साहन मिला हुआ था। ऊन के कम्बल, शाल-दुशाले आदि बनाये जाते थे। खानों का खुदान-उद्योग भी उन्नत था। नमक बनाने, चमड़े रँगने, वस्त्र बुनने, कच्ची धातु को गला कर नई चीज़ों का निर्माण करने आदि—कितने ही प्रकार के उद्योगों का प्रचलन था। इनके अतिरिक्त स्वर्णकार, लोहकार, वैद्यक, शराब, बूचड़खाने, जहाज़ की नौकाओं का निर्माण, मनोरंजन, भोजन बनाने, शौण्डिक,[2] आदि कितने ही अन्य व्यवसायों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक चलाया जाता था। गणिकाएँ एवं रूपजीवा आदि वेश्याओं के व्यवसाय भी विधान-सम्मत थे।

---

१. सत्यकेतु विद्यालंकार: भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २६९
२. वही, पृ० २६२-६३

इनके अतिरिक्त गन्धपण्या, मालापण्या, गौरक्षक, कर्मकार, तालापचारा (गाने बजाने वाले), राज (मकान बनाने वाले), मणि-कारू (विविध रत्नों, मणियों व हीरे आदि को काट-तराश कर उनके आभूषण बनाने वाले), देवताकारू (विविध देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ बनाने वाले), शिल्पियों का भी उल्लेख 'अर्थशास्त्र' में हुआ है।

गुप्तकाल में सोने-चाँदी के व्यवसाय के साथ लौह-व्यवसाय का अच्छा प्रसार हुआ। कच्चे लोहे को गला कर फ़ौलाद बनाया जाता था तथा उससे शस्त्रादि का निर्माण होता था। लोहे का व्यवसाय इतनी अधिक मात्रा में होता था कि भारतीय आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् लोहा फ़िनीशिया आदि देशों को भेजा जाता था[1]। सम्राट् चन्द्रगुप्त का महरौली लौह-स्तम्भ इस उन्नत लौह-व्यवसाय का प्रमाण है। गुप्तकाल में सोने-चाँदी के सिक्के को ढालने का व्यवसाय मौर्य-काल की अपेक्षा अधिक उन्नत हो गया था। सामुद्रिक व्यवसाय में भी लोग अधिक रुचि लेने लग गये थे।

इस प्रकार आलोच्य नाटक-कालीन समाज में कृषि, व्यापार, व्यवसाय एवं उद्योग तथा विनिमय-प्रणाली बहुत उन्नत दशा को प्राप्त थी जिससे तत्कालीन आर्थिक स्थिति का अनुमान सहज ही लग जाता है। वस्तुतः मौर्यकाल और गुप्तकाल भारतीय संस्कृति के अति उन्नत कालों में परिगणित हैं जिसका बहुत बड़ा श्रेय तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के पर्याप्त विकास को भी है। दोनों कालों के शासकों ने शासन को सुव्यवस्थित कर समाज की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ एवं समुन्नत करने की ओर पर्याप्त ध्यान दिया। इसी का परिणाम था कि इस काल में साहित्य, कला-कौशल आदि की पर्याप्त उन्नति हो सकी।

राजनीतिक वातावरण

यह सौभाग्य की बात है कि आलोच्य नाटकों के काल में राज-नीतिक सत्ता सुदृढ़ और सुव्यवस्थित थी। मौर्य-साम्राज्य भारतीय इतिहास में प्रथम प्रामाणिक ऐतिहासिक साम्राज्य के रूप में सामने आता है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने अत्याचारी नन्द-वंश का नाश कर तथा यूनानी प्रभाव के जुए को दूर कर भारत की राज-

१. ओझा : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १६८

नीति को पहली बार एकच्छत्र रूप प्रदान किया था। मौर्य सम्राट् ने अपने साम्राज्य को नई-नई दिग्विजयों से बढ़ाया और पुरानी परम्परागत दुर्व्यवस्थाओं को परिमार्जित किया। इस कार्य में उसके सुयोग्य एवं दृढ़-संकल्पी मंत्री चाणक्य का कौशल सराहनीय माना जायेगा। साथ ही नन्द-साम्राज्य की सुरक्षित सेना का कुशलतापूर्वक सदुपयोग भी शासन-व्यवस्था में लाभकारी सिद्ध हुआ। इस प्रकार मौर्यकाल का राजनीतिक वातावरण एक सुन्दर व्यवस्था के रूप को सामने रखता है। इधर गुप्तकाल में तो समुद्रगुप्त की विजयवाहिनी ने ही सभी छोटे-मोटे राजनीतिक गुटों को समाप्त कर साम्राज्य को आक्रमण के भय से मुक्त कर लिया था जिसके कारण स्वयं समुद्रगुप्त एवं उसके उत्तराधिकारियों को शासन-प्रबन्ध की ओर अधिक ध्यान देने का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया था।

मौर्यकालीन एवं गुप्तकालीन राजनीतिक व्यवस्था का हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचन कर सकते हैं—

(क) शासन-प्रणाली

यह ऊपर बताया जा चुका है कि मौर्य और गुप्त सम्राटों ने भारत के छोटे-मोटे राज्यों को जीत कर एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इतने बड़े साम्राज्य का संचालन तभी ठीक हो सकता था, जबकि शासन-प्रणाली बहुत सुव्यवस्थित और सुदृढ़ हो। मौर्य साम्राज्य के शासन-प्रबन्ध को देख कर तो आज भी चकित रह जाना पड़ता है। मैगस्थनीज़ के प्रामाणिक विवरणों के अतिरिक्त कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' भी इस व्यवस्था को बहुत स्पष्ट रूप से सम्मुख रखता है। वस्तुतः मौर्यों का शासन जनहितकारी निरंकुश शासन था[1]। अत्याचारी नन्द-कुल का नाश कर ब्राह्मण चाणक्य ने जनता का अनुमोदन प्राप्त कर नये सम्राट् को मूर्धाभिषिक्त किया था। अतः मौर्य सम्राट् अनाचारी नृपतियों के अन्त से भली भाँति परिचित थे।

प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से मौर्य और गुप्तों ने अपने विशाल साम्राज्य को १. केन्द्रीय, २. प्रान्तीय और ३. स्थानीय शासन-विभागों में विभक्त कर रखा था जिनका पृथक्-पृथक् ब्यौरा इस प्रकार दिया जा सकता है।

---

१. लूनिया : भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास, पृ० १६०

केन्द्रीय शासन में प्रधान राजा था, वह समस्त सत्ता का स्रोत था। उसका आदेश अन्तिम होता था। उच्चस्थ कर्मचारियों की नियुक्ति राजा स्वयं करता था। परन्तु

१. केन्द्रीय शासन

सारी सत्ता का स्वामी होते हुए भी मौर्य सम्राट् अपने को जनता का सेवक समझता था[1]। शासन-कार्य में सहायता देने के लिए मंत्रि-परिषद् थी। साम्राज्य के विविध अधिकरण अनेक उच्चपदस्थ राजपुरुष—अमात्य, महामात्य, अध्यक्ष आदि के प्रबन्ध में थे[2]। इसके अतिरिक्त अग्रनोमी (ज़िला अधिकारी), अस्ट्यनोमी (नगर के अधिकारी), देहात के हित के लिए राजुक, ज़िलों के लिए प्रादेशिक, एवं उच्च-कार्यों के लिए महामात्र या महामात्य अधिकारी होते थे[3]। कौटिल्य ने अठारह तीर्थों अथवा विभागों का उल्लेख किया है जिनमें मंत्री, पुरोहित, सेनापति आदि भी सम्मिलित थे[4]।

गुप्तकाल में भी केन्द्रीय शासन-प्रणाली लगभग इन्हीं पद-चिह्नों पर स्थित थी यद्यपि उस काल में राजा की स्थिति अधिक सुदृढ़ हो गई थी। साम्राज्य की केन्द्रीय सत्ता का संचालन राजा अपने या मंत्रि-मंडल के सहयोग से करता था। गुप्त सम्राट् चक्रवर्ती सम्राट् थे। सर्वोच्च सत्ता सम्राट् के ही हाथ में होती थी। उनके अन्तर्गत छोटे-छोटे सामन्त होते थे जिनका विरुद 'महाराजा' होता था।

वस्तुतः उस काल का केन्द्रीय शासन बहुत कुछ वर्तमान संघीय शासन जैसा माना जा सकता है। प्रान्तों के आन्तरिक मामलों में केन्द्र कोई हस्तक्षेप नहीं करता था, किन्तु सार्वजनिक मामलों में रुचि अवश्य रखता था। मौर्यकाल और गुप्तकाल में केन्द्र की स्थिति सुदृढ़ थी और सभी प्रकार की राजाज्ञा का प्रसारण केन्द्र की ओर से होता था।

---

१. लूनिया : भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास, पृ० १६०
२. भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १४०
३. लूनिया : भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास, पृ० १६०
४. भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १४०

मौर्य साम्राज्य अनेक उपराज्यों तथा प्रान्तों में बँटा हुआ था और इनमें से प्रत्येक हिन्दू राज्य युगों से प्रतिष्ठित तथा एक निश्चित रूप में ढले हुए नमूने पर संगठित था[1]।

२. प्रान्तीय शासन अशोक के शिलालेखों से चार उपराज्यों का उल्लेख मिलता है—१. तक्षशिला, २. उज्जैन, ३. तोसलि और ४. स्वर्ण-गिरि। इन उपराज्यों में शासक राजकुमार होते थे। केन्द्रीय शासन (पाटलिपुत्र) को मिला कर ये पाँच चक्र समझे जाते थे[2]। इन चक्रों के अन्तर्गत छोटे शासन-केन्द्र थे जिन्हें प्रान्त कह सकते हैं और उनमें कुमारों के अधीन महामात्य शासन करते थे। प्रान्त का प्रधान 'समाहर्ता' कहलाता था। प्रत्येक प्रान्त में लगभग चार ज़िले होते थे[3]। प्रत्येक ज़िले का अधिकारी 'स्थानिक' कहलाता था[4]। वस्तुतः प्रान्तीय शासन-व्यवस्था नौकरशाही राजतंत्र द्वारा संचालित होती थी। इस व्यवस्था की सफलता सम्राट् के गुप्तचर-विभाग पर निर्भर करती थी।

गुप्तकाल में प्रशासन के चार विभाग थे—१. केन्द्रीय, २. भुक्ति (प्रान्त), ३. विषय एवं ४. ग्राम। केन्द्र का वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

गुप्त-लेखों में प्रान्त के लिए देश या भुक्ति शब्द का प्रयोग मिलता है। समस्त साम्राज्य भुक्तियों (प्रान्तों) में विभक्त था। भुक्ति शासक को 'उपरिकर महाराज' कहते थे। इनके अन्य नाम राष्ट्रीय, भोगिक, भोगपति तथा गोप्ता भी मिलते हैं[5]। पुण्ड्रवर्धन, मन्दसौर, सौराष्ट्र आदि भुक्तियों का उल्लेख गुप्त लेखों से प्राप्त होता है। शासक 'कुमार' या राजकुल के लोग होते थे जिनकी मन्त्रणा के लिए परिषद् की योजना होती थी।

भुक्ति के अन्तर्गत विषय-व्यवस्था थी। विषयों की स्थिति आधुनिक ज़िलों के समान मानी जा सकती है। यहाँ का शासक

---

१. राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० ८१
२. सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २४१
३. समाहर्ता चतुर्धा जनपदं विभज्य—अर्थशास्त्र, II. ३५
४. एवं च जनपदचतुर्भागं स्थानिकः चिन्तयेत्। वही, II. ३५
५. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ३१

'विषयपति' कहलाता था जिसकी नियुक्ति 'भोगपति' ही करता था। कई लेखों में विषयपति के लिए 'कुमारामात्य' की पदवी मिलती है। विषयपति का भी एक मंत्रिमंडल होता था जिसमें चार सदस्य होते थे—नगरश्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथमकुलिक एवं प्रथम कायस्थ। ये अपनी-अपनी समितियों के मुखिया होते थे। इन कर्मचारियों की नियुक्ति संभवत: निश्चित काल के लिए होती थी। दामोदरपुर में ताम्रपत्रों के अध्ययन से पता चला है कि विषयपति का कार्यकाल पाँच वर्ष का होता था।

वस्तुत: मौर्यकाल और गुप्तकाल का प्रान्तीय शासन बहुत सुव्यवस्थित था। यह सुव्यवस्था का ही परिणाम था कि इतने विशाल साम्राज्य की प्रशासनिक कार्यवाही उस काल में भी सुचारु ढंग से होती थी।

३. स्थानीय प्रशासन

केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन से सम्राट् का सीधा सम्पर्क रहता था। इसलिए इस प्रकार के शासन को इतिहासकारों ने नौकरशाही शासनतन्त्र की अभिधा दी, किन्तु यदि देखा जाय तो यह प्रशासन तो ऊपरी ढाँचा था, वास्तविक शासन-प्रणाली की व्यवस्था स्थानीय प्रशासन के हाथ में रहती थी। मौर्य-काल में स्थानीय प्रशासन दो भागों में बँटा हुआ था, (क) नगर-प्रशासन, (ख) जनपद या ग्राम-प्रशासन। इसी प्रकार गुप्तकाल में भी नगरों और ग्रामों की स्थानीय प्रशासन-व्यवस्था पृथक्-पृथक् थी।

(अ) नगर-प्रशासन

मैगस्थनीज़ ने मौर्यकालीन नगर-प्रशासन का सविस्तर वर्णन किया है। नगर के प्रवन्ध के लिए छः समितियों का एक परिवार होता था। प्रत्येक समिति में पाँच-पाँच सदस्य होते थे। ये समितियाँ निम्नलिखित थीं—१. शिल्पकला-समिति—यह औद्योगिक कलाओं की देख-रेख करती थी; २. वैदेशिक समिति—विदेशियों की देख-रेख एवं प्रबन्ध का कार्य इसके हाथ में था, ३. जनसंख्या-समिति—जन्म-मृत्यु की सूचि सहित जन-गणना का कार्य इसके हाथ में था; ४. वाणिज्य-व्यवसाय-समिति—इसका सम्बन्ध व्यापार से था; ५. वस्तु-निरीक्षक-समिति—इसका काम व्यव-

सायियों का नियन्त्रण था; ६. कर-समिति—यह विक्रीत वस्तुओं पर कर वसूल करती थी।

मैगस्थनीज़ ने यह वर्णन पाटलिपुत्र का दिया था, किन्तु उसी प्रकार का शासन-प्रबन्ध अन्य नगरों में भी होता होगा[1]।

गुप्तकाल में नगर-प्रशासन के लिए नगर में एक सभा होती थी, जिसका गठन आजकल की 'म्यूनिसिपैलिटी' जैसा होता था। यह सभा ही पूरे नगर के शासन-स्वास्थ्य आदि का प्रबन्ध करती थी। तत्कालीन नगरपति 'द्रांगिक' कहलाता था। नगर की व्यवस्था रखना, सफ़ाई रखना, कर वसूल करना आदि कार्य 'द्रांगिक' के होते थे। विषयपति 'द्रांगिक' की नियुक्ति करता था[2]।

आलोच्य नाटकों के काल में, यद्यपि एकतंत्र सम्राट् का शासन था, और वही सर्वोपरि सत्ता थी, किन्तु नगर आदि के प्रशासन में सम्राट् विशेष हस्तक्षेप नहीं करता था।

मौर्यकाल में जनपद-शासन का निम्नतम केन्द्र 'ग्राम' था। ग्राम का शासक 'ग्रामिक' होता था। ग्राम के वृद्धों की सहायता से वह ग्राम पर शासन करता था। पाँच अथवा दस ग्रामों का शासक 'गोप' कहलाता था। उसके ऊपर 'स्थानिक' होता था जो जनपद के चौथाई भाग पर शासन करता था[3]। ग्राम का अपना कोष होता था। सार्वजनिक-हित का कार्य ग्राम ही करता था; लोगों के मनोरंजन की व्यवस्था भी ग्राम करता था। यह ग्राम-संस्था न्याय का भी कार्य करती थी[4]। ग्राम अपने नियम स्वयं बनाते थे और उन पर आचरण करते थे। ऐसी स्थिति में उन पर राजतंत्र की नौकरशाही का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। 'गोप' और 'स्थानिक' के अतिरिक्त ग्राम में और कर्मचारी भी होते थे, यथा—१. अध्यक्ष—सोने, रत्न-आभूषणों के काम पर निगरानी रखने वाला, २. संख्यायक—ग्राम का मुनीम, ३. अनीकस्थ—

(आ) जनपद या ग्राम-प्रशासन

१. भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १४१-४२
२. डा० वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २ पृ० ३५-३६
३. भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १४२
४. सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० १४१

हाथियों को सधाने वाला, ४. चिकित्सक, ५. अश्वदमक—घोड़ों को सधाने वाला, ६. जंघाकरिक—हरकारा तथा संदेशवाहक[1]।

गुप्तकाल में 'विषय' के अन्तर्गत अनेक ग्राम होते थे। ग्राम के अधिपति को 'ग्रामपति' या 'महत्तर' कहते थे। ग्रामपति की सहायता के लिये एक सभा होती थी जिसे 'पंचायत' कहते थे[2]। ग्राम-पंचायत सदा अपने कामों में स्वतंत्र होती थी। राजकीय कर को छोड़ कर उस पर केन्द्र का कोई सीधा नियन्त्रण नहीं रहता था। दामोदरपुर के ताम्रपत्र के अनुसार ग्राम-पंचायत में निम्नलिखित पदाधिकारियों का ब्यौरा मिलता है—१. महत्तर, २. अष्टकुलाधिकारी, ३. ग्रामिक—ग्राम के प्रधान-प्रधान व्यक्ति, ४. कुटुम्बिन्—परिवार के मुख्य व्यक्ति[3]। राजा के सदृश महत्तर को भी ग्राम का समस्त अधिकार प्राप्त था। शासन का सारा कार्य वह ग्राम-सभा की सलाह से करता था, जिसके अन्तर्गत कई उपसमितियाँ भी होती थीं।

ग्राम-प्रशासन की इस सुव्यवस्था से भारतीय इतिहास की कई शताब्दियों ने लाभ उठाया। स्थानीय शासन की इस स्वतंत्र पद्धति के कारण केन्द्रों में होने वाली उथल-पुथल ग्रामों को अधिक प्रभावित नहीं कर सकती थी। केन्द्र की सत्ता का सम्बन्ध केवल कर-वसूली तक रहने के कारण ग्राम-शासन अपनी सुचारु गति से चलता रहता था।

तत्कालीन सुव्यवस्था एवं राजनीति की मूलाधार सैनिक शक्ति थी। जिस सम्राट् का सैन्य-संगठन दुर्बल हुआ, उसका पतन अवश्यम्भावी बना। मौर्य साम्राज्य की सेना अत्यन्त सुव्यवस्थित थी। वह पूर्ण रूप से शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित थी[4]। चन्द्रगुप्त के हाथ में नन्द-वंश की विशाल सेना का नेतृत्व आ गया था। इसके साथ ही वह स्वयं एक कुशल सेनापति था। डा० राधाकुमुद मुकुर्जी के अनुसार चन्द्रगुप्त की सेना में कुल मिला कर ६,९०,०००

(ख) सैन्य संगठन

---

१. राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० १७४

२. डा० वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ३६

३. वही, पृ० ३७

४. लूनिया : भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० १६१

सैनिक रहे होंगे[1] जो हाथी, रथ, घोड़े और पैदल विभागों में विभक्त थे। सेना पर युद्ध-कार्यालय नियन्त्रण रखता था, जिसके तीस सदस्य होते थे जो छः मंडलों में कार्य करते थे। ये छः विभागों का कार्यभार संभालते थे—१. पैदल सेना, २. घुड़सवार सेना, ३. युद्ध-रथ, ४. युद्ध के हाथी, ५. परिवहन, रसद व सैनिक सेवा, ६. नौ-सेना। कौटिल्य ने घोड़ों तथा ऊँटों की सहायक सेना और उनके साथ कुछ गधों का होना भी स्वीकार किया है जो सूखे मौसम में काम दे सकें[2]।

प्रारम्भ में सेना के कार्य की देख-भाल सम्राट् स्वयं करता था। अन्तिम मौर्य सम्राट् के शासनकाल में यह कार्य सेनापति करने लग गया था।

मौर्य-सम्राटों की भाँति गुप्त-सम्राटों की भी एक विशाल और शक्तिशाली वाहिनी थी। सेना से सम्बन्धित व्यवहार के निरीक्षणार्थ एक विभाग होता था जिसका पदाधिकारी 'रण भाण्डागारिक' कहलाता था। सेना का सब से बड़ा पदाधिकारी महासेनापति कहलाता था। इसी को महाबलाधिकृत या महाबलाध्यक्ष भी कहते थे। इसके नीचे सेनापति या बलाधिकृत होते थे जो सैनिकों की नियुक्ति करते थे। हाथियों का नायक 'कटुक' कहलाता था, घुड़-सवारों के प्रधान को 'भटाश्वपति' कहते थे। सेना की छोटी टुकड़ी को 'चमूप' कहते थे। नगरों की व्यवस्था और प्रशासन की सुविधा के लिए इस सेना के अतिरिक्त पुलिस-विभाग भी होता था। यह दण्ड देने की व्यवस्था करता था। पुलिस के सबसे बड़े अधिकारी को 'दण्डपाशिक' कहते थे। सम्पूर्ण राज्य में गुप्तचर-विभाग का फैलाव भी था जो अपराधों की तुरन्त सूचना देते थे। खुफ़िया पुलिस-विभाग के कर्मचारी को 'दूत' नाम से पुकारते थे।[3]

मौर्य एवं गुप्त कालों में सैनिक-व्यवस्था बहुत सुदृढ़ रही। अशोक के शासन-काल में कलिंग-विजय के पश्चात् बौद्ध-धर्म के प्रभावस्वरूप सैन्य-निरीक्षण में कुछ शिथिलता आ गई, जिसका परिणाम आगे आने वाले मौर्य-सम्राटों को भोगना पड़ा। गुप्त साम्राज्य में भी जब

---

१. राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २२१
२. 'खरोष्ट्राश्वबलप्रायः' दे०, राधाकुमुद मुकुर्जी : वही, २२३
३. डा० वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० १४

तक सैन्य-व्यवस्था सुदृढ़ रही, गुप्त सम्राटों का भाग्य-सितारा प्रखर रहा। विदेशी शत्रुओं को भी इस शक्तिशाली सेना के सन्मुख झुकना पड़ा। इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोच्य नाटकों के काल में सैन्य-संगठन बहुत उत्कृष्ट कोटि का था।

३. न्याय-व्यवस्था एवं दण्ड-विधान

विशाल मगध-साम्राज्य में न्याय के लिए अनेकविध न्यायालय थे। सबसे छोटा न्यायालय ग्राम-संस्था का होता था, फिर संग्रहण का, फिर द्रोणमुख का और फिर जनपद का। छोटे-छोटे मामले यहीं निपट जाया करते थे। इनके ऊपर पाटलिपुत्र के न्यायालय थे और सब से ऊपर राजा। न्यायालय दो भागों में विभक्त थे। १. धर्मस्थीय—इसमें व्यक्तियों के आपसी अभियोग पेश होते थे, २. कण्टकशोधन—इसमें वे मुकदमें उपस्थित होते थे जिनका सम्बन्ध राज्य से होता था। दण्ड-नीति कठोर थी। अंग-भंग, प्राणदण्ड आदि कठोर दण्ड छोटे-छोटे अपराधों पर भी दे दिये जाते थे। इस न्याय-व्यवस्था का इतना प्रभाव था कि चोरी-डाकाज़नी की घटनाएँ लुप्त हो गई थीं और लोग घरों पर ताला तक नहीं लगाते थे[1]।

गुप्तकाल में भी न्याय-व्यवस्था बहुत सुन्दर रही। फ़ाह्यान ने अपने विवरण में लिखा है कि अपराध बहुत कम होते थे। और सहस्रों मील की यात्रा करने पर भी उसे कोई चोर नहीं मिला। गुप्त-शासन में चार प्रकार के न्यायालय थे। १. राजा का न्यायालय, २. पूग, ३. श्रेणी तथा ४. कुल[2]। गुप्तकाल में अपराधों की संख्या बहुत कम होने के कारण दण्ड भी सरल हो गये थे, फिर भी भय का पर्याप्त स्थान था। फ़ाह्यान लिखता है कि राजा न प्राणदण्ड देता था और न शारीरिक दण्ड। अपराधी की अवस्थानुसार 'उत्तम-साहस' या 'मध्यम-साहस' का दण्ड दिया जाता था[3]। शारीरिक दण्ड देने वाले को 'दाण्डिक' कहा जाता था।

---

१. लूनिया : भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० १६१

२. डा० वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ११

३. याज्ञवल्क्य ने भी उत्तम, मध्यम, अधम साहस में दण्ड देने का विधान बताया है। याज्ञ० स्मृति, १:३६६

मौर्य शासन में मुख्य आय का साधन 'कर' था। धान एवं मुद्रा दोनों रूप में ही कर लगाये जाते थे। राजस्व के निम्नलिखित स्रोत थे।

राजकीय आय

१. सीता (राजा की भूमि) से होने वाली आय, २. भाग—कृषि उत्पादन का छठा भाग, ३. कर—फलों पर लिया जाने वाला कर, ४. विवीत—चरागाहों का कर, ५. वर्तनी—सड़क का कर, ६. रज्जु—भूमि पैमाईश कर, ७. चोर, रज्जु, चोकीदारी, पुलिस कर, ८. सेतु—सिंचाई कर, ९. वन, १०. व्रज—पशुपालन, ११. बलि—राजा को दिया जाने वाला उपहार और १२. खनि[1]—सोना, चाँदी, हीरे-जवाहरात आदि। इनके अतिरिक्त वाणिज्य, व्यवसाय, आदि से आने वाला कर भी राजकीय आय का बहुत बड़ा स्रोत था। अन्य करों में विक्रय-कर, मदिरा-कर, मोतियों, मछलियों पर कर, दण्ड आदि कितने ही स्रोतों से राजकीय कोष-पूर्ति होती रहती थी।

गुप्तकाल में राजा की आय कई विभागों से होती थी। प्रायः आय के मूलस्थान ये थे—१. नियमित-कर २. सामयिक-कर ३. अर्थ-दण्ड ४. राज्य-सम्पत्ति से आय ५. अधीन सामन्तों से उपहार।

नियमित कर में भूमि-कर, उपरि-कर, भूतोवात प्रत्याय, (नशीली चीज़ों पर टैक्स), विष्टी (बेगार) तथा अन्य कर जैसे गौ, बैल, दूध आदि आते थे[2]। भूमि-कर धान और मुद्रा दोनों में ही चुकाया जा सकता था। कृषि के उत्पादन के लिए सिंचाई का भी प्रवन्ध था जिस पर भी कर लिया जाता था। राजकीय सम्पत्ति में राजा की खेती, जंगल, चरागाह आदि से आने वाली आय परिगणित होती थी।

वस्तुतः मौर्य और गुप्त काल के सम्राट् जनहितकारी थे, अतएव 'करों' की व्यवस्था आय को देख कर ही की गई थी। वे केवल कर वसूल करना ही नहीं जानते थे, इसे लोक-कल्याण में लगाने की विधि से भी परिचित थे। यही कारण था कि इतने सारे कर अखरते

---

१. डा० राधाकुमुद मुकुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० १७४

२. डा० वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग-२, पृ० १७

नहीं थे। लोगों की आय अपरिमित थी। उसमें से राजकीय कर देने में किसी को असन्तोष नहीं होता था।

कला-कौशल

आलोच्य नाटकों का काल भारतीय इतिहास में कला-कौशल की दृष्टि से स्वर्णकाल माना जाता रहा है। इस युग में साहित्य, शिल्प, विज्ञान एवं अन्य कलात्मक सृष्टि को पूरा प्रोत्साहन मिला। मौर्यकाल में साहित्य की दृष्टि से कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र', भद्रबाहु का 'कलासूत्र', बौद्ध 'कथावत्थू' आदि ग्रंथों के अतिरिक्त भास आदि नाटककारों की प्रतिभा भी इसी युग में चमकी। कतिपय वैय्याकरणों को भी इसी युग ने जन्म दिया। पूर्ववर्ती पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' के अतिरिक्त कात्यायन और पतंजलि जैसे महान् आचार्य इसी युग के आस-पास हुए हैं। वात्स्यायन के काम-सूत्र की रचना का काल भी बहुत से विद्वान् यही मानते हैं।

साहित्य की दृष्टि से गुप्तकाल तो निःसन्देह स्वर्णकाल था। दिग्विजयी गुप्त सम्राटों ने साहित्य-कला को पूर्ण प्रोत्साहन दिया। कवि-कुल-गुरु कालिदास से लेकर विशाखदत्त, भारवि, भट्टि, मातृगुप्त, सौमिल्ल, वासुल आदि कवि तथा 'पंचतंत्र' की रचना का काल यही माना जाता है। व्याकरण और कोष सम्बन्धी अनेक ग्रंथ सामने आये। चन्द्रगोमिन ने 'चान्द्र व्याकरण' की रचना की। 'अमर कोष' के रचयिता इसी युग में हुए। स्मृतियों में 'नारद-स्मृति','कात्यायन-स्मृति', 'वृहस्पति-स्मृति' का निर्माण हुआ। गणित और ज्योतिष आदि विज्ञानों ने उन्नति की और आर्यभट्ट, वराहमिहिर जैसे गणितज्ञ और ज्योतिषाचार्य इसी युग में हुए। ज्योतिष विषयक प्रथम ग्रंथ 'वैशिष्ठ-सिद्धान्त' इसी युग में लिखा गया। आयुर्वेदाचार्य चरक के पश्चात् वाग्भट, धन्वन्तरि आदि इसी युग में हुए। गुप्तकाल में रसायन विद्या की भी उन्नति हुई। दिल्ली के समीप महरौली का विशाल लौह-स्तम्भ इसका जीता-जागता उदाहरण है। इसके अतिरिक्त दार्शनिक साहित्य की भी इस युग में बहुत उन्नति हुई। षड्दर्शनों का निर्माण तो मौर्येतर काल में हो चुका था। मीमांसा पर 'शावर भाष्य' का निर्माण हुआ, न्याय सूत्रों पर 'वात्स्यायन भाष्य' लिखा गया, एवं बौद्ध-दर्शन का बहुत विकास हुआ। पाँचवीं शती के आरम्भ में महान् बौद्ध दार्शनिक बुद्धघोष हुआ। इस प्रकार साहित्य, व्याकरण, ज्यो-

तिष, दर्शन, आयुर्वेद की दृष्टि से इस काल का अननुमेय विकास हुआ। संस्कृत भाषा का तो जैसे यह काल वस्तुतः ही स्वर्ण-युग था।

उक्त कालों में शिल्प की भी वहुत उन्नति हुई। मौर्य-काल में पाटलिपुत्र का निर्माण उसकी शिल्प-उन्नति का परिचय देता है। राजप्रासादों में खंभों आदि पर सोने का काम किया हुआ था। लकड़ी के सुन्दर भवन-निर्माण उस समय की शिल्पज्ञता के नमूने हैं। इनके अतिरिक्त अशोक के साँची, सारनाथ आदि के वनाये स्तूप शिल्प-विद्या के जीते-जागते नमूने हैं। मौर्यकाल की प्रसिद्ध मूर्त्ति आगरा और मथुरा के बीच परखुम ग्राम से प्राप्त हुई है जो सात फुट ऊँची है और भूरे बलुए पत्थर की वनी है। भाब्रू, भरहुत आदि के शिला-लेख इस काल की शिल्प-कला के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पत्थरों को काट कर गुहाओं के अन्दर जो चित्र वनाये गये हैं वे मौर्यकालीन शिल्प-विद्या के प्रमाण हैं।

गुप्तकाल में यह कला अपनी उन्नति के चरम पर पहुँच गई थी। मूर्त्ति-निर्माण में पत्थर, ताम्बे आदि पर वनी मूर्त्तियाँ प्राप्त हैं। प्रस्तर फलकों पर भी बहुत-सी मूर्त्तियों का निर्माण हुआ था। महात्मा बुद्ध, पौराणिक देवी-देवताओं आदि की मूर्त्तियां, जो कलात्मकता के साथ निर्मित की गई हैं, विश्व इतिहास में प्रसिद्ध उदाहरण हैं। विशाल प्रस्तर-स्तम्भों पर खुदाई और कारीगरी का काम हो रहा है। भवन और मन्दिरों के निर्माण की तो इस युग में बाढ़-सी आ गई। नागोर के शिव-मन्दिर, अजबगढ़ राज्य के पार्वती-मन्दिर, देवगढ़ के दशावतार-मन्दिर के अतिरिक्त बहुत से गुप्तकालीन मन्दिर इस काल की भवन-निर्माण-कला के सुन्दर नमूने पेश करते हैं। गुप्तकाल की गुहाएँ भी इस कला की जानकारी के अच्छे साधन हैं। चित्रकला तो गुप्त-काल की सर्वश्रेष्ठ थी। अजन्ता के गुहा-चित्रों ने तत्कालीन चित्र-कला की सर्वश्रेष्ठता को प्रमाणित करते हुए उस काल की सुरुचि और सम्पन्नता का भी प्रमाण दिया है। संगीत की दृष्टि से भी इस काल में पर्याप्त उन्नति हुई। स्वयं सम्राट् समुद्रगुप्त प्रसिद्ध वीणावादक थे। बाघ के गुहा-मन्दिरों में संगीत और नृत्य मंडलियों के चित्र बने हुए हैं जिनसे सिद्ध होता है कि संगीत और नृत्य का इस काल में वहुत प्रसार था। सर्वसाधारण लोग भी इसमें अभिरुचि रखते थे।

वस्तुतः आलोच्य नाटकों का काल साहित्य, विज्ञान, शिल्प,

संगीत आदि सभी प्रकार की कलाओं में बड़ा-चढ़ा था। इसीलिये मौर्यकाल और गुप्तकाल भारतीय संस्कृति के इतिहास में बहुत महत्त्व-पूर्ण स्थान के अधिकारी बने हुए हैं।

निष्कर्ष

आलोच्य नाटककालीन भारत की स्थिति पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि उस काल में भारतीय समाज चतुर्दिक् उन्नति के शिखर पर था। सामाजिक जीवन सुखी, सम्पन्न और सुरुचि-पूर्ण था। पारिवारिक जीवन से लेकर राजनीतिक, धार्मिक और बौद्धिक सभी प्रकार के जीवन में लोग ऐश्वर्य एवं आनन्द का जीवन व्यतीत कर रहे थे। भोजन, रहन-सहन, कला, साहित्य आदि में यह संस्कृति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। आर्थिक दृष्टि से देश धन-धान्यपूर्ण था, व्यापार उन्नति पर था। राजनीतिक सुव्यवस्था थी, सम्राट् एकच्छत्र होते हुए भी अपने को प्रजा का सेवक समझते थे। परिणामतः वे लोक-कल्याण की चिन्ता में ही निरत रहते थे। वैसे प्रजातंत्र-शासन भी था और लोग अपने शासन का महत्त्व समझते थे। सर्वत्र राजनीतिक चेतना थी। यद्यपि शासन का आधार सेना थी किन्तु उसका दर्जा बहुत उच्च नहीं माना जाता था। दार्शनिक लोग, जो समाज का निर्माण निर्लिप्त होकर करते थे, सर्व-श्रेष्ठ समझे जाते थे। उसके पश्चात् देश के यथार्थ नागरिक कृषक समझे जाते थे। कृषि-उत्पादन की ओर सम्राटों का पूर्ण ध्यान था। यही कारण था कि देश में किसी चीज़ की कमी नहीं थी, दूध-दही और घी की नदियाँ बहती थीं।

यद्यपि नगरों का जीवन विलासमय था किन्तु ग्रामों में जीवन सात्त्विक ढंग से व्यतीत होता था जिन पर नगरों की उथल-पुथल का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता था। नगरों में भी विलासिता जीवन का अंग नहीं थी, अपितु संस्कृति के विकास में सहायक बनकर रहती थी। लोग बहुत वीर और बहादुर थे।

धर्म के विषय में वैयक्तिक स्वतंत्रता के दर्शन होते हैं। बौद्ध, जैन तथा सनातन-धर्म साथ-साथ उन्नति कर रहे थे। तीनों धर्म एक-दूसरे के प्रतिपक्षी बने हुए थे, किन्तु धार्मिक सहिष्णुता का अभाव नहीं था। किसी धर्म के राजधर्म हो जाने पर उसकी उन्नति होना

तो स्वाभाविक था किन्तु दूसरे धर्मों पर कुछ अपवादों को छोड़ कर रोक नहीं लगाई जाती थी।

वस्तुतः इस युग का जीवन सुखमय था। इसीलिए विभिन्न प्रकार की कलाओं को उन्नति करने का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ। साहित्य, संगीत, शिल्प, विज्ञान आदि ने इस काल में आश्चर्यजनक उन्नति की। निःसन्देह मौर्य-युग और गुप्त-युग भारतीय संस्कृति के स्वर्णकाल रहे, जिनकी झलक तत्कालीन नाटकों में मिलती है, जिसे हम विस्तार से अलग-अलग दिखायेंगे।

२

आलोच्य नाटकों का परिचय

विगत अध्याय में भास, कालिदास एवं शूद्रक के युग का ऐतिहासिक परिचय दिया जा चुका है जिसमें सामाजिक परिस्थितियों की सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत की गयी है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कोई भी साहित्यकार अपने युग से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। वह अपने चारों ओर के वातावरण को बड़े ध्यान से देखता है जिससे उसकी स्मृति पर उसका एक मान-चित्र अंकित हो जाता है और उसकी कृति में उसके अनेक खण्ड-चित्र उतरते चले जाते हैं। कभी-कभी वे चित्र इतने गहन एवं संबद्ध होते हैं कि पाठक, श्रोता या दर्शक को उनमें अखंडता की प्रतीति होती है। आलोच्य नाटक भी ऐसे ही अनेक चित्रों से परिपूर्ण हैं। इन चित्रों के निर्माण में तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का विशेष योग है। जहाँ साहित्य अपने युग का चित्र प्रस्तुत किये बिना नहीं रह सकता वहाँ उसकी प्रवृत्तियाँ भी परम्पराओं का सहयोग पाकर युग-चित्र की व्यवस्था को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकती है। इसी दृष्टि से आलोच्य नाटकों के परिचय को अपेक्षित समझा गया है।

परिचय-क्रम में भास के नाटक पहले आते हैं। यह प्रसिद्ध है कि भास ने तीस से भी अधिक ग्रंथों की सर्जना की थी, किन्तु अब तक इनमें से केवल तेरह रूपक उपलब्ध हो सके हैं, जिनके नाम ये हैं—मध्यम-व्यायोग, दूतघटोत्कच, कर्णभार, ऊरुभंग, पंचरात्र, दूतवाक्य, बालचरित, प्रतिमा-नाटक, अभिषेक-नाटक, अविमारक, चारुदत्त, प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्त। कथाधार की दृष्टि से इन नाटकों को चार वर्गों में रख सकते हैं—१. कौरव-पाण्डव-कथाधार नाटक, २. कृष्ण-कथाधार नाटक, ३. रामकथाधार नाटक तथा

४. काल्पनिक नाटक। प्रथम वर्ग में मध्यम-व्यायोग, दूतघटोत्कच, कर्णभार, ऊरुभंग, पंचरात्र तथा दूतवाक्य आते हैं। दूसरे वर्ग में 'बालचरित' को रखा जा सकता है। तीसरा वर्ग रामकथा से सम्बन्धित है। इसमें प्रतिमा-नाटक और अभिषेक नाटक के नाम उल्लेखनीय हैं, और चौथे वर्ग के नाटकों में 'अविमारक', 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' 'स्वप्नवासवदत्त' की गणना होती है।

प्रथम वर्ग

यह भास का एकांकी रूपक है। इसमें मध्यम पाण्डव[1] के व्यक्तित्व को सब से अधिक प्रभावशाली प्रदर्शित किया गया है। कथा इस प्रकार है कि हिडिम्बा का पुत्र घटोत्कच अपनी माता की आज्ञा से वलि के लिए एक ब्राह्मण को पकड़ कर ले जाना चाहता है। ब्राह्मण को विपन्न दशा में देखकर भीम दयार्द्र होकर उसकी रक्षा करना चाहते हैं। घटोत्कच को डाँटते हुए भीम कहते हैं—"विप्र-परिवार रूपी चन्द्र के लिए तुम राहु क्यों बने हो ? ब्राह्मण सदैव अवध्य है, अतः तुम उसे छोड़ दो"[2]। अपना निर्देश अस्वीकृत हो जाने पर ब्राह्मण के स्थान पर भीम स्वयं हिडिम्वा के पास जाने को उद्यत हो जाते हैं। भीम को लेकर घटोत्कच माँ के पास पहुँचता है। हिडिम्त्रा अपने कल्पित आहार के स्थान पर भीम को देखकर विस्मित होती है और 'आर्यपुत्र' कह कर उनका अभिवादन करती है। घटोत्कच भी भीमसेन में अपने पिता को अवगत कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार भीम और हिडिम्बा के सांयोगिक मिलन के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

१. मध्यम-व्यायोग

यह एक एकांकी रूपक है जो कौरव-पांडव-कथा से संबद्ध है। प्रारम्भ में सूत्रधार विष्णु की प्रार्थना करता है जिस में रूपक की निर्विघ्न समाप्ति की कामना की गयी है। नेपथ्य के शब्दों से उसे कुछ ऐसी प्रतीति होती है कि भीष्म के वध से क्रुद्ध कौरवों ने अभिमन्यु का वध कर डाला है।

२. दूतघटोत्कच

---

१. भास के अनुसार भीम।

२. मध्यम-व्यायोग, १. ३३-३४

अभिमन्यु-वध से पांडव-दल में प्रतिशोधाग्नि भड़क उठती है। वैसे तो रण-क्षेत्र में बहुत से वीर हताहत होते रहते हैं, किन्तु अभिमन्यु-वध की पीठिका में कुचक्रता, अनीति आदि की प्रमुखता है। अभिमन्यु के नृशंसता-पूर्ण वध से पाँडवों की क्षोभाग्नि अनियंत्रित हो जाती है। निरस्त्र बालक अभिमन्यु की हत्या के समाचार से धृतराष्ट्र तक का हृदय करुणार्द्र हो जाता है। वे इस दुष्कृत्य के लिए कौरवों को मन ही मन धिक्कारते हैं[1]। पुत्र-वध के समाचार से अर्जुन के हृदय में बड़ी विकट एवं तीव्र प्रतिक्रिया होती है। वह अपनी प्रतिज्ञा घोषित करता हुआ कहता है कि यदि वह सूर्यास्त से पूर्व अभिमन्यु के हत्यारे जयद्रथ का वध न कर सका तो स्वयं अग्नि-प्रवेश करके प्राणान्त कर लेगा। इस प्रतिज्ञा को सुन कर दुर्योधन बड़ा प्रसन्न होता है। वह अपने प्रयत्नों से अर्जुन की प्रतिज्ञा-पूर्ति के मार्ग में अनेक जटिल बाधाएँ प्रस्तुत करता है।

अभिमन्यु-वध के विषय में धृतराष्ट्र दुर्योधनादि से वार्त्तालाप करते हैं। उनकी दृष्टि में अभिमन्यु-वध बिल्कुल अनुचित है, किन्तु दुर्योधन, दुःशासन आदि उसे उचित बतलाते हैं। इधर घटोत्कच कृष्ण-संदेश लेकर सभा में प्रवेश करता है और अभिमन्यु-वध से खिन्न कृष्ण का संदेश सुनाता है। उसकी अवज्ञा करता हुआ दुर्योधन बड़े दुर्विनीत शब्दों में कह देता है कि कृष्ण कोई राजा नहीं है, उसका संदेश सर्वथा महत्त्वहीन है। तब घटोत्कच कृष्ण की अतुलनीय महिमा का वर्णन करता है। दुर्योधन घटोत्कच को राक्षस कहता हुआ उसकी उपेक्षा कर देता है और अन्त में यह कहता है कि इस संदेश का उत्तर तीक्ष्ण बाणों से रण-क्षेत्र में दिया जायेगा। नाटक के अन्तिम श्लोक में घटोत्कच कृष्ण-संदेश को दुहराता है।

३. कर्णभार

यह रूपक एक उत्सृष्टिकांक है। इसका कथानक कर्ण-कथा से संबद्ध है। इसमें कर्ण की दानशीलता का गुणगान है। ब्राह्मण-वेश-धारी कर्ण इन्द्र को अपने अमूल्य कर्ण-भूषण तक दान में दे देता है।

---

१. बहूनां समवेतानामेकस्मिन्निर्घृणात्मनाम्।
बाले पुत्रे प्रहरतां कथं न पतिता भुजाः॥
—दूतघटोत्कचम्, १.१७

इस रूपक के प्रारम्भ में महारथी कर्ण युद्ध-क्षेत्र में जाने के लिए सज्जित दिखाये गये हैं। इस समय उनके मन में शत्रु-सेना को परास्त करने का अटूट उत्साह दृष्टिगोचर होता है। उनके तेजोमय मुख-मण्डल एवं ओजपूर्ण वाणी से पराक्रमशीलता प्रकट होती है। उन्हें आज अर्जुन से लोहा लेना है। अतः वे सोत्साह अपने सारथि शल्य को उस स्थान पर रथ ले चलने का आदेश देते हैं जहाँ अर्जुन का रथ है।

इसी समय सहसा उनके मन में अनेक दुर्बल विचार प्रवेश कर जाते हैं और उनका उत्साह उद्वेग में परिवर्तित हो जाता है[1]। सर्व-प्रथम उनको अपने जन्म की कथा का स्मरण हो आता है। वे सोचते हैं कि वस्तुतः उनका जन्म कुलीना कुन्ती के गर्भ से हुआ है, किन्तु राधा नाम की अज्ञात कुलशीला स्त्री के द्वारा पालित-पोषित होने के कारण उन्हें 'राधेय' संज्ञा दी गई। आज वह दिन आ गया है जब कि उन्हें अपने छोटे भाई युधिष्ठिरादि से युद्ध करना पड़ेगा। इन विचारों में डूबे हुए कर्ण यह अनुमान लगाते हैं कि आज निश्चय ही उनके समस्त अमोघास्त्र व्यर्थ सिद्ध होंगे।

इसी प्रसंग में उन्हें अपने गुरु परशुराम का शाप भी स्मरण हो आता है कि 'युद्धकाल में तुम्हारे अस्त्र विफल रहेंगे'। परशुराम की प्रतिज्ञा थी कि वे शस्त्रविद्या ब्राह्मण को ही सिखाते थे, क्षत्रिय आदि को नहीं। कर्ण ने अपने-आपको ब्राह्मण बता कर परशुराम से शस्त्रविद्या सीख तो ली पर एक दिन उसके क्षत्रिय होने का भेद खुल गया। इससे परशुराम ने उससे क्रुद्ध हो कर शाप दे दिया। वही शाप कर्ण को शल्य की तरह खटक कर हतोत्साह कर रहा है। कर्ण अपने सारथि शल्य को शस्त्र-प्राप्ति का वृत्तान्त कहते हुए अपने शस्त्रास्त्रों का परीक्षण प्रारम्भ करते हैं और उन्हें सर्वथा प्रभावशून्य पाते हैं। उनके मनोदौर्बल्य के कारण उनके हाथी-घोड़े भी स्खलित होने लगते हैं। इन सब बातों से कर्ण किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं। इस दशा से शल्य

---

१. अन्योन्यशस्त्रविनिपातनिकृत्तगात्र-
योधाश्ववारणरथेषु महाहवेषु।
क्रुद्धान्तकप्रतिमविक्रमिणो ममापि
वैधुर्यमापतति चेतसि युद्धकाले ॥ —कर्णभारम्, १.६

में भी शैथिल्य आ जाता है। यहीं पर कर्ण में उत्साह का पुनः संचार होता है और वह शल्य को यूद्धभूमि में ले चलने के लिए आदेश देते हैं।

शल्य रथ को युद्धभूमि की ओर ले जाने को उद्यत हो ही रहा था कि दैव दुर्विपाक से वहाँ एक भिक्षु आ गया और कर्ण के समक्ष उपस्थित होकर भिक्षा की याचना करने लगा। कर्ण ने अपने स्वभावानुसार भिक्षुक का अभिवादन किया और उसे स्वर्णमण्डित शृङ्गवाली सहस्रों गायें स्वीकार करने को कहा, पर भिक्षु ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। यह देखकर दानवीर कर्ण ने सहस्रों हाथी-घोड़े, अमित स्वर्ण-सम्पूर्ण पृथ्वी, अग्निष्टोम यज्ञ का फल तथा अपना मस्तक तक दे देने का प्रस्ताव किया, किन्तु हठी भिक्षु ने उन्हें भी ग्रहण नहीं किया। अन्त में कर्ण ने अपने अमूल्य कवच-कुण्डल देने का प्रस्ताव किया जिसे भिक्षुक ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। शल्य के मना करने पर भी दानी कर्ण ने अपने कवच-कुण्डल भिक्षुक को प्रदान कर दिये।

वह भिक्षु और कोई नहीं था, ब्राह्मण-वेश में स्वयं इन्द्र था। वह अभीप्ट कवच-कुण्डल लेकर यथास्थान चला गया। उसने कर्ण से हठपूर्वक लिया हुआ दान तो ले लिया किन्तु अपनी कपट-लीला पर उसे अनुताप होने लगा। वह सोचने लगा कि एक ओर तो कर्ण जैसा विमुक्तहस्त दानी और दूसरी ओर मुझ जैसा छद्मवेशी प्राणी। परिणामतः आत्मग्लानि से मुक्ति पाने के लिए उसने कर्ण के पास 'विमला' नामक एक अमोघ शक्ति भेजी जिसकी सहायता से किसी भी एक पाण्डव का वध किया जा सकता था। कर्ण ने उसे अस्वीकार करते हुए कहा—'कर्ण दिये हुए दान का प्रतिदान ग्रहण नहीं करता।' अन्त में देवदूत के समझाने पर कर्ण ने उस शक्ति को स्वीकार कर लिया।

इस प्रसंग के पश्चात् कर्ण और शल्य पुनः रथारूढ़ होकर युद्ध-भूमि की ओर प्रस्थान करते हैं। यहीं भरत-वाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

यह रूपक भी कौरव-पांडव-कथा पर आधारित है। कर्णभार की तरह यह भी एक अंक का 'उत्सृष्टिकांक' है। संस्कृत साहित्य में यही एक मात्र दुःखान्त रूपक है।

४. ऊरुभंग

इस रूपक का कथानक महाभारत-युद्ध के अन्तिमांश से सम्बन्धित है। युद्ध में कौरवों तथा पाण्डवों की समस्त सेना विनष्ट हो जाती है। कौरव-पक्ष के वीरों में केवल दुर्योधन जीवित बचता है। रूपक के प्रारम्भ में सूत्रधार युद्ध-भूमि का वर्णन करता है। तदनन्तर भीम और दुर्योधन के गदा-युद्ध का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

दोनों वीर परस्पर एक-दूसरे पर गदा-प्रहार करते हैं। भीम दुर्योधन के प्रहार से कुछ क्षण के लिए मूर्च्छित होकर गिर जाता है। यह देखकर पाण्डव-पक्ष के सभी लोग विषण्ण हो जाते हैं, पर बलराम अपने शिष्य दुर्योधन के पराक्रम को देखकर हर्षित होते हैं। भीम के सचेत होने पर श्री कृष्ण उसे एक गुप्त संकेत[1] करते हैं, जिसके अनुसार वह दुर्योधन की जंघा पर मर्मान्तिक प्रहार करता है। परिणामतः दुर्योधन की जाँघें टूट जाती हैं और वह गिर पड़ता है।

अपने शिष्य की दयनीय दशा देखकर बलराम भीम पर अत्यंत कुपित हो जाते हैं और उसके द्वारा दुर्योधन की जाँघ पर किये गये गदा-प्रहार को धर्म-विरुद्ध बताते हैं। बलराम के भीम की भर्त्सना करने पर दुर्योधन को सान्त्वना मिलती है।

दुर्योधन को मरणासन्न देख कर धृतराष्ट्र, गांधारी आदि शोक-मग्न हो जाते हैं। दुर्योधन उन सबको अपने वीरोचित स्वभाव से सान्त्वना देता हुआ शोक न करने की सलाह देता है।

इसी समय दुर्योधन को ढूँढता हुआ अश्वत्थामा प्रवेश करता है और दुर्योधन की दशा को देख कर पाण्डवों पर क्रुद्ध हो उठता है। वह आवेश में आकर श्रीकृष्ण तथा अर्जुन को मार डालने की प्रतिज्ञा करता है। दुर्योधन इस प्रतिज्ञा की पूर्ति को असंभव बता कर उसे शान्त करने का असफल प्रयास करता है। उसे अपने प्रति-शोध लेने के संकल्प पर दृढ़ देख कर धृतराष्ट्र तथा बलराम भी उसका समर्थन करते हैं। अश्वत्थामा दुर्योधन के सिंहासन पर उसके पुत्र दुर्जय का राज्याभिषेक करता है। उधर दुर्योधन अपने पूर्वजों का स्मरण करता हुआ देहत्याग देता है।

इसी स्थल पर भरतवाक्य के साथ यह रूपक समाप्त होता है।

---

१. एष इदानीमपहास्यमानं भीमसेनं दृष्ट्वा स्वपूरुमभिहत्य कामपि संज्ञां प्रयच्छति जनार्दनः। —ऊरुभंग, अंक १, पृ० २६

तीन अंकों का यह 'समवकार' रूपक भी कौरव-पाण्डव-कथा पर आश्रित है। इसके प्रथम अंक में दुर्योधन के विशाल यज्ञ का निरूपण किया गया है। यज्ञ की समाप्ति

५. पंचरात्र

पर दुर्योधन आचार्य द्रोण को यज्ञ-दक्षिणा भेंट करता है, किन्तु उसे अस्वीकार करते हुए द्रोण कहते हैं—'पाण्डवों को उनका राज्यार्ध दे दो, यही मेरी आचार्य-दक्षिणा है'। शकुनि द्रोण के इस प्रस्ताव का प्रतिवाद करता है और इसे दुर्योधन के प्रति आचार्य की धर्म-प्रवंचना बताता है। द्रोण अपने निश्चय पर दृढ़ रहते हुए कौरवों को स्पष्ट शब्दों में बता देते हैं कि पाण्डवों को राज्यार्ध दे देना ही उनके लिए श्रेयस्कर है, अन्यथा पाण्डव अपने प्रचण्ड पराक्रम से उन्हें विजित कर बलपूर्वक अपना राज्य ले लेंगे। आचार्य की इस दृढ़ता को देख कर दुर्योधन घोषणा करता है कि यदि पाँच रात की अवधि के भीतर पाण्डवों का पता लगा लिया जाय तो उन्हें राज्यार्ध दिया जा सकता है[1]।

द्रोण दुर्योधन की इस शर्त को मानने के लिए तैयार नहीं होते पर इसी समय उन्हें यह समाचार मिलता है कि किसी व्यक्ति ने बिना शस्त्र-प्रयोग के ही विराट के सम्बन्धी कीचक-बन्धुओं को मार डाला है। इसी शोक के कारण विराट यज्ञ में सम्मिलित नहीं हो सके हैं। इस समाचार से भीष्म यह अनुमान लगाते हैं कि कीचक-बन्धुओं को इस प्रकार मारने वाला भीम के सिवा और कोई नहीं हो सकता है। अतः बहुत सम्भव है कि पाण्डव विराट के यहाँ ही निवास कर रहे हों। भीष्म के इस अनुमान के आधार पर द्रोण दुर्योधन की उक्त शर्त स्वीकार कर लेते हैं।

अब भीष्म एक ऐसी युक्ति निकालते हैं जिससे कौरवों के समक्ष पाण्डव लोग उपस्थित हो सकें। उन्होंने दुर्योधन को बताया कि विराट् के साथ हमारी पुरानी शत्रुता है। उसके यज्ञ में उपस्थित नहीं होने का भी यही कारण है, अतः उस पर आक्रमण करके उसका

---

१. इहात्रभवान् कुरुराजो भवन्तं विज्ञापयति।

\+ \+ \+

यदि पंचरात्रेण पाण्डवानां प्रवृत्तिरुपनेतव्या, राज्यस्यार्धं प्रदास्यति किल। समानयतु भवानिदानीम्।—पंचरात्र, अंक १, पृ० ४१

गोधन हर लिया जाय। इस प्रस्ताव को सभी स्वीकार कर लेते हैं। विराट द्रोण का शिष्य है, अतः वे जनान्तिक में प्रस्ताव का विरोध करते हैं। भीष्म का अनुमान है कि विराट पर आक्रमण होने पर उसके यहाँ निवास करने वाले पाण्डव कृतज्ञतावश उसकी सहायता के लिए वहाँ अवश्य आयेंगे। इस प्रकार पाण्डवों का पता लग जायेगा और दुर्योधन को उन्हें राज्यार्ध देने के लिए वाध्य होना पड़ेगा। यह है रूपक के प्रथम अंक की कथा।

द्वितीय अंक में विराट के यहाँ उनके जन्मदिवस का उत्सव मनाया जाता है। इसी समय दुर्योधनादि उन पर आक्रमण कर देते हैं और उनका गोधन हर लेते हैं। विराट को जब यह सूचना मिलती है तो वे भगवान् नामक ब्राह्मण रूपधारी युधिष्ठिर को बुला कर सारा वृत्तान्त सुनाते हैं। स्वयं विराट भी युद्ध में जाने को उद्यत होते हैं। किन्तु यह जान कर रुक जाते हैं कि राजकुमार उत्तर शत्रु को परास्त करने के लिए पहले ही युद्धक्षेत्र में पहुँच गये हैं। उत्तर के रथ का सारथि बृहन्नला (अर्जुन) को बनाया जाता है। कुछ समय पश्चात् विराट को सूचना मिलती है कि सभी विपक्षी परास्त होकर भाग गये हैं, केवल अभिमन्यु ही लड़ रहा है।

इसी समय दूत द्वारा सूचना मिलती है कि पाकशाला में नियुक्त व्यक्ति (भीमसेन) ने अभिमन्यु को पकड़ लिया है। विराट बृहन्नला को आदेश देते हैं कि वीर अभिमन्यु को यहाँ आदरपूर्वक लाया जाय। तदनुसार अभिमन्यु विराट के समक्ष उपस्थित होता है। इसी अवसर पर उत्तर द्वारा घोषणा की जाती है कि आज के युद्ध में विजय प्राप्त करने का समस्त श्रेय बृहन्नला (अर्जुन) को है। विराट को यह भी ज्ञात हो जाता है कि ब्राह्मणवेशधारी व्यक्ति धर्मराज युधिष्ठिर हैं तथा पाकशाला में नियुक्त व्यक्ति भीमसेन हैं। इन व्यक्तियों का पाण्डवों के रूप में परिचय पाकर विराट को हार्दिक प्रसन्नता होती है। अभिमन्यु भी अपने पितृगण से मिल कर मनस्तोष का अनुभव करता है। विराट अर्जुन को विजयोपहार के रूप में अपनी कन्या उत्तरा के देने की घोषणा करते हैं। अर्जुन उत्तरा को अपनी पुत्र-वधू (अभिमन्यु की पत्नी) के रूप में स्वीकार करते हैं।

उधर कौरव-पक्ष में यह समाचार फैल जाता है कि अभिमन्यु को शत्रु ने पकड़ लिया है। इसके आधार पर भीष्म और द्रोण यह

अनुमान लगा लेते हैं कि अभिमन्यु को पकड़ने वाला भीम के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता, पर शकुनि को इस बात पर विश्वास नहीं होता।

इसी समय दूत द्वारा शकुनि को सूचना मिलती है कि जिस बाण ने उसके रथ की ध्वजा को ध्वस्त किया है उसमें किसी का नाम लिखा हुआ है। देखने पर ज्ञात होता है कि उस पर अर्जुन का नाम अंकित है। शकुनि इस प्रत्यक्ष सत्य को यह कह कर उपेक्षित कर देता है कि यह नाम पाण्डु-पुत्र अर्जुन का नहीं अन्य किसी अर्जुन का है। तब दुर्योधन द्रोण आदि को कहता है कि यदि वे युधिष्ठिर को लाकर दिखा दें तो पाण्डवों को राज्यार्ध दे दिया जायेगा।

इधर राजकुमार उत्तर विराट नगर से दुर्योधन की सभा में आकर धर्मराज का संदेश देते हैं कि उत्तरा उन्हें पुत्र-वधू के रूप में प्राप्त हुई है अतः उत्तरा-अभिमन्यु का विवाह आप लोगों के यहाँ सम्पन्न हो या विराटपुर में। इस के उत्तर में शकुनि तुरन्त कह देता है कि विराटपुर में।

इस प्रकार सबको पूर्णतया ज्ञात हो जाता है कि पाण्डव विराट के यहाँ विद्यमान् हैं। यह प्रमाणित होने पर द्रोणाचार्य दुर्योधन को उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए कहते हैं। ऐसी स्थिति में विवश होकर पाण्डवों को राज्यार्ध देने की घोषणा करनी पड़ती है।

६. दूतवाक्य

भास का यह रूपक भी कौरव-पांडव-कथा लेकर उत्पन्न हुआ है। श्रीकृष्ण कौरव-पांडवों में सन्धि कराने के लिए पाण्डवों की ओर से दूत बन कर दुर्योधन की सभा में जाते हैं और वहाँ युधिष्ठिरादि का संदेश सुनाते हैं। श्रीकृष्ण के दूत-कार्य के आधार पर ही इस रूपक का नामकरण किया गया है। यह एक एकांकी-रूपक है। इसका सार यह है—

नान्दीपाठ के पश्चात् सूत्रधार नेपथ्य से कुछ शब्द सुनकर यह सूचना देता है कि कौरव-पांडवों में परस्पर वैर-भाव उत्पन्न हो जाने के कारण दुर्योधन प्रतिकारार्थ स्वपक्ष के राजाओं से मंत्रणा करना चाहता है। दुर्योधन आमंत्रित राजाओं को यथोचित आसन देकर सम्मानित करता है।

इसी अन्तराल में कंचुकी दुर्योधन को पाण्डवों के शिविर में दूत के रूप में आने वाले पुरुषोत्तम नारायण का समाचार देता है। उसके मुख से श्रीकृष्ण के लिए 'नारायण' अभिधा सुन कर दुर्योधन के अहंकार को मार्मिक चोट लगती है, अतः वह उसे फटकारता हुआ कहता है कि मूर्ख ! श्रीकृष्ण को 'नारायण' आदि शब्दों से सम्मान न देकर उन्हें पाण्डवों का संदेशवाहक दूत 'केशव' कहना चाहिये था[1]।

इसके पश्चात् वह वहाँ उपस्थित सभी राजाओं को आदेश देता है कि श्रीकृष्ण के सभा में आने पर कोई भी अपने आसन से नहीं उठेगा। अन्यथा ऐसा करने वाले को बारह 'सुवर्णभार' से दण्डित किया जायगा। स्वयं उसे भी न उठना पड़े, इसलिए वह द्रौपदी के चीरहरण के चित्र को अपने सामने मँगा कर देखने लग जाता है।

इसी समय दुर्योधन की आज्ञा से श्रीकृष्ण सभा-भवन में प्रवेश करते हैं। उन्हें देखते ही सभी नरेश उठ खड़े होते हैं और फिर उनकी आज्ञा से वे अपना-अपना आसन ग्रहण कर लेते हैं। राजाओं के इस व्यवहार को देखकर दुर्योधन को बड़ा आश्चर्य और दुःख होता है। वह क्रुद्ध होकर श्रीकृष्ण का समादर करने वाले राजाओं को पूर्व निर्धारित दण्ड देने की घोषणा करता है और संभ्रम के कारण स्वयं भी आसन से गिर पड़ता है। श्रीकृष्ण द्रौपदी के चित्र को देखकर दुर्योधन की भर्त्सना करते हैं। वे इसे उसकी घोर मूर्खता बताते हैं। स्वजनों के अपमान का स्मरण कर प्रसन्न होने से बढ़ कर मूर्खता और क्या हो सकती है? प्रारम्भिक शिष्टाचार की वार्ता के पश्चात् श्रीकृष्ण दुर्योधन को पाण्डवों का 'दायाद्य' देने के लिए कहते हैं। दुर्योधन से यह सुनकर कि पाण्डव वस्तुतः पाण्डु के पुत्र नहीं हैं, अतः वे पाण्डु का भाग प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं—इसका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीकृष्ण दुर्योधन को युक्तिपूर्वक समझाते हैं कि वैसे देखा जाय तो धृतराष्ट्र भी विचित्र-वीर्य से उत्पन्न न होने के कारण उसके राज्य को प्राप्त करने के अधिकारी नहीं ठहरते। श्रीकृष्ण की इस बात को सुनकर दुर्योधन क्रुद्ध हो जाता है और उन पर दूत की मर्यादा का उल्लंघन करने का आरोप लगाता है। वह उन्हें साभिमान कहता

१. केशव इति। एवमेष्टव्यम्। अयमेव समुदाचारः। दूतवाक्य, अंक १, पृ० ८

है कि राज्य न तो मांग कर प्राप्त किया जा सकता है और न दीनों को सहज में लुटाया जा सकता है। यदि पाण्डवों को राज्य-प्राप्ति की आकांक्षा है तो वे युद्ध-भूमि में पराक्रम दिखाकर उसको पूर्ण करें।

इस प्रकार का प्रलाप करने पर श्रीकृष्ण दुर्योधन को खरी-खरी सुनाते हैं और उसे चेतावनी देते हैं कि वह अपने ऐसे कार्यों से कुरुवंश को शीघ्र ही नष्ट कर देगा। यह सुन कर दुर्योधन श्रीकृष्ण को बन्दी बनाना चाहता है, किन्तु वे अनेक रूपों में सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं, जिससे दुर्योधन उन्हें बन्दी नहीं बना पाता।

दुर्योधन की ऐसी धृष्टता देखकर श्रीकृष्ण कुपित हो जाते हैं और उस पर प्रहार के लिए अपने सुदर्शनादि अस्त्रों का आह्वान करते हैं। सुदर्शन उपस्थित होकर भगवान् को संतुष्ट करता है। उनका कोप शान्त हो जाता है और वे अपने सभी अस्त्रों को वापस लौट जाने का आदेश दे देते हैं। वे स्वयं पाण्डव-शिविर में लौट जाने का निश्चय करते हैं।

उधर धृतराष्ट्र को जब यह ज्ञात होता है कि दुर्योधन ने महा-महिमाशाली श्रीकृष्ण का अपमान किया है तो श्रीकृष्ण के पास आता है और उनके चरणों में गिर कर अपने पुत्र के अपराध के लिए क्षमा-याचना करता है।

अन्त में, भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

द्वितीय वर्ग

यह वर्ग श्रीकृष्ण के चरित्र से सम्बन्धित है। अब तक इस वर्ग से सम्बन्धित भास का केवल एक रूपक उपलब्ध हुआ है जिसका नाम 'बालचरित' है।

इस रूपक में श्रीकृष्ण की बाल-लीलाएँ निरूपित की गयी हैं। कथानक का प्रसार पाँच अंकों में हुआ है। पहले में कृष्ण-जन्म की कथा वर्णित है। वसुदेव के घर में श्रीकृष्ण का जन्म होने पर देवगण आनन्द-निमग्न हो जाते हैं। नारद उनके दर्शन का लोभ-संवरण नहीं कर सकते। वह उन्हें देखने के लिए आते हैं। कंस के भय से वसुदेव अपने पुत्र को मथुरा से वृन्दावन ले जाने का निश्चय कर उस ओर प्रस्थान करते हैं। मार्ग में यमुना नदी अपनी

बालचरित

उत्ताल तरंगों से बहती मिलती है। पार जाने का कोई साधन उपलब्ध नहीं था। अन्त में वह उसे तैर कर पार करने का निश्चय कर पानी में उतर जाते हैं। इसी समय एक अलौकिक घटना घटती है। ज्योंही वसुदेव नदी में उतरते हैं त्योंही उसका पानी दो भागों में विभक्त हो जाता है और बीच में मार्ग निकल आता है। वसुदेव उसी मार्ग से नदी को सहज में पार कर लेते हैं।

नदी पार करके वह एक वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं। वह यह सोच ही रहे थे कि अब किसके यहाँ चला जाय कि इतने में उन्हें नंदगोप दिखाई देते हैं। उसी रात उनकी पत्नी यशोदा ने एक कन्या को जन्म दिया था, जो उत्पन्न होते ही मर गई थी। नंद अपनी मृत पुत्री को यमुना में प्रवाहित करने आये थे। सुयोग देख कर वसुदेव ने अपनी बात नंद से कही और उनके समक्ष पुत्र को ले लेने का प्रस्ताव रखा जिसे उन्होंने कुछ सोच-विचार के बाद स्वीकार कर लिया। वसुदेव पुत्र देकर और नंद की मृत पुत्री को लेकर मथुरा की ओर चल दिये। दैवयोग से मार्ग में उस बालिका में पुनः प्राण-संचार हो गया। मथुरा लौट कर वसुदेव ने उसे कृष्ण के स्थान पर सुला दिया।

द्वितीय अंक का प्रारम्भ कंस के राजमहल से होता है। कंस को अनेक चाण्डाल युवतियाँ दिखाई देती हैं जो उसका उपहास करती हैं। कंस ज्योतिषियों से पूछता है कि विगत रात को जो भूकम्प, उल्कापात आदि हुए हैं, उनका क्या फल है? उत्तर में कंस को उस समय किसी महापुरुष के अवतार की सूचना देते हैं[1]। यह सुन कर कंस को भय हो जाता है कि हो न हो उसको मारने वाला उत्पन्न हो गया है। वह कंचुकी को यह पता लगाने के लिए भेजता है कि गत रात्रि में किस का जन्म हुआ है। नगर में पूछ-ताछ करने के पश्चात् कंचुकी कंस को देवकी के गर्भ से एक पुत्री के जन्म की सूचना देता है। कंस वसुदेव की पुत्री को मंगवा कर उसको मार देता है, किन्तु उसका एक अंश आकाश में पहुँच कर कात्यायनी के रूप में दिखाई देता है।

तृतीय अंक में श्रीकृष्ण की गोचारण-लीला और पराक्रम का

---

१. भूतं नभस्तलनिवासि नरेन्द्र! नित्यं
कार्यान्तरेण नरलोकमिह प्रपन्नम्।
आकाश दुन्दुभिरवैः समहीप्रकम्पै-
स्तस्यैप जन्मनि विशेषकरो विकारः॥ —बालचरित, २.१०

चित्रण हुआ है। श्रीकृष्ण के जन्म लेने के पश्चात् गोधन में अपूर्व वृद्धि होती है, जिसका हेतु गोपगण श्रीकृष्ण को मान कर उनकी महिमा का गान करते-फिरते हैं। श्रीकृष्ण बाल्यकाल में ही पूतना, शकट और केशी आदि दानवों को मार कर व्रजवासियों पर पराक्रम की अमिट छाप डाल देते हैं। गायों को कष्ट देने वाले अरिष्टर्षभ को मार कर गोरक्षण के क्षेत्र में अपूर्व ख्याति प्राप्त कर लेते हैं।

चतुर्थ अंक में श्रीकृष्ण कालिय नाग का दमन करने के लिए कालिय ह्लद में प्रवेश करते हैं। ह्लद में उतर कर वे भयंकर नाग के फनों पर आरूढ़ हो जाते हैं। नाग उन्हें विषज्वाला से भस्म करना चाहता है, पर उन पर कोई प्रभाव नहीं होता। भयंकर संघर्ष के बाद वह उनका दमन कर डालते हैं। अन्त में वह उनकी शरण माँगता है, जिससे वह उसे अभयदान देकर गरुड़ के भय से मुक्त कर देते हैं। इसी समय श्रीकृष्ण को एक भट से सूचना मिलती है कि मथुरा में कंस के द्वारा धनुर्यज्ञ की आयोजना की गई है, जिसमें उनको परिजनों के साथ आमंत्रित किया गया है। कंस को मारने की दृष्टि से श्रीकृष्ण यह निमंत्रण सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।

पंचम अंक में कंस कृष्ण-बलराम को मारने की कपट-योजना तैयार करता है। उसी समय उसे सूचना मिलती है कि कृष्ण-बलराम नगर में आ गये हैं। उन्होंने राज-रजक से वस्त्र छीन लिये हैं तथा निरंकुश कुवलयापीड हाथी को भी पछाड़ डाला है। इसके अतिरिक्त उन्होंने राजप्रासाद में आती हुई कुब्जा को मार्ग में रोक कर और उसके सुगन्धित द्रव्यों को छीन कर उसके कुब्जकत्व को ठीक कर दिया है और धनुर्शाला का रक्षक भी उनके हाथ से धराशायी हो चुका है।

तदनन्तर युद्ध-पटह की ध्वनि होती है और पूर्वनिश्चित कार्य-क्रमानुसार चाणूर और मुष्टिक के साथ क्रमशः कृष्ण और बलराम का द्वन्द्व युद्ध होता है, जिसमें द्वितीय पक्ष की विजय होती है। चाणूर और मुष्टिक जैसे दानवों के मर जाने पर कंस को आश्चर्य होता है। चाणूर को गिराकर कृष्ण कंस की ओर लपकते हैं और उसका सिर पकड़ कर एक ही झटके में वे उसे नीचे गिरा देते हैं जिससे उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। उसी समय वसुदेव आते हैं। वह यह प्रकट कर देते हैं कि वे दोनों वीर उन्हीं के पुत्र हैं और कृष्ण का जन्म

कंस-वध के लिए ही हुआ था। तत्पश्चात् उग्रसेन को कारागृह से मुक्त कर कंस के सिंहासन पर प्रतिष्ठापित किया जाता है।

यह देख कर देवगण आकाश से पुष्पवृष्टि करते हैं। नारद भी भगवान् का गुणानुवाद करते हुए वहाँ आते हैं और उनका अभिवादन कर चले जाते हैं।

अन्य नाटकों की भाँति यह नाटक भी भरतवाक्य के साथ समाप्त होता है।

उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त भास ने कुछ ऐसे नाटक भी लिखे हैं, जिनका मुख्य आधार 'रामकथा' है।

इस प्रकार के नाटकों में प्रमुख प्रतिमा-नाटक है। यह भास का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है। इसमें राम के वनवास से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा का वर्णन है। इसमें प्रतिमागृह अथवा मूर्त्ति-गृह की घटना का विशेष महत्त्व है,[१] जो इसके नामकरण का भी हेतु है।

१. प्रतिमा नाटक

इस रूपक के घटना-चक्र को सात अंकों में विभक्त किया गया है। प्रथम अंक में राम के राज्याभिषेक की तैयारी की जाती है। राजा दशरथ की आज्ञा से राज्याभिषेक की सभी सामग्रियाँ जुटा ली जाती हैं। वसिष्ठ संस्कार प्रारम्भ करने के लिए महाराज की प्रतीक्षा करते हुए दिखाई देते हैं।

उधर सीता अपने कक्ष में चेटियों के साथ विनोद-वार्ता में आनन्दमग्न दिखाई देती है। इसी बीच एक चेटी राजप्रासाद की नाट्यशाला से एक वल्कलवस्त्र लाती है जिसकी सुन्दरता से आकृष्ट हो सीता उसे पहन लेती है। इतने में राम के राज्याभिषेक के मंगल-वाद्य बजते-बजते सहसा बन्द हो जाते हैं। कैकेयी दशरथ से वर माँग कर राम के राज्याभिषेक को रुकवा देती है। राम सीता के पास आकर अपने वनगमन का समाचार सुनाते हैं। अकस्मात् उनका ध्यान सीता के वल्कल-वस्त्र की ओर जाता है और वह भी उसे पहनने की इच्छा प्रकट करते हैं। पारिस्थितिक आघात से दशरथ के मूर्च्छित हो जाने के कारण अन्तःपुर का करुण क्रन्दन सुनाई पड़ता है।

१. प्रतिमा नाटक, अंक ३, पृ० ६८-८४

लक्ष्मण को जब यह ज्ञात होता है कि यह सब अनर्थ कैकेयी के कारण हो रहा है तो वह, उस पर क्रुद्ध होकर, समस्त स्त्री-जाति के संहार की प्रतिज्ञा करते हैं। राम लक्ष्मण के क्रोध को शान्त करते हैं। शान्त होकर लक्ष्मण भी राम के साथ वनगमन की तैयारी में लग जाते हैं।

दूसरे अंक में राम-वियोग से विकल हुए दशरथ की मूर्च्छा का करुणापूर्ण चित्रण किया गया है। कौसल्या दशरथ को प्रबुद्ध करने का प्रयास करती है। इसी समय रामादि को अयोध्या की सीमा से पार पहुँचा कर सुमंत्र लौटते हैं। इधर रामवनगमन के वृत्तांत को सुनकर दशरथ प्राण त्याग देते हैं।

तृतीय अंक में दिवंगत रघुवंशी राजाओं का प्रतिमागृह सजाया जाता है। उसमें महाराज दशरथ की प्रतिमा की स्थापना की जाने वाली है। एतदर्थ कौसल्या आदि रानियों की प्रतीक्षा की जा रही है। इसी बीच भरत अपने ननिहाल से अयोध्या को लौटते हुए अयोध्या की सीमा पर निर्मित प्रतिमागृह को देखते हैं। उसकी सजावट को देखकर यह उसे देवमन्दिर ही समझ लेते हैं और दर्शनार्थ उसमें प्रवेश करते हैं। शत्रुघ्न का सैनिक उन्हें दिलीप, रघु और अज की प्रतिमाओं का परिचय कराता है। इसी प्रसंग में भरत को महाराजा दशरथ की प्रतिमा का साक्षात्कार कराया जाता है। भरत को जब यह ज्ञात होता है कि प्रतिमागृह में दिवंगत राजाओं की प्रतिमा की ही स्थापना होती है तो वे दशरथ-मरण का अनुमान लगाकर शोकाकुल हो मूर्च्छित हो जाते हैं। चेतना आने पर भरत को दशरथ-मरण व राम-वनवास आदि का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया जाता है, जिससे वह पुनः मूर्च्छित हो जाते हैं। इतने में वहाँ दशरथ की रानियाँ भी आ पहुँचती हैं। भरत अपनी माता कैकेयी पर क्रुद्ध होते हैं और अपने राज्याभिषेक को अस्वीकार कर राम के साथ वन में रहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

चतुर्थ अंक में भरत राम से मिलने के लिए उनकी वनस्थ पर्णकुटी पर पहुँचते हैं। भरत के स्वर को दूर से ही पहिचान कर राम उनसे मिलने के लिए उत्कंठित हो जाते हैं। भरत से मिलकर राम लक्ष्मण आदि सभी को प्रसन्नता होती है। राम उनको राज्य-भार सम्भाले रहने के लिए कहते हैं, पर वह इसे स्वीकार नहीं कर

पाते। अन्त में वह राम की आज्ञा को शिरोधार्य कर उनके प्रतिनिधि के रूप में राज्य-शासन चलाना स्वीकार कर वापस आ जाते हैं।

पंचम अंक में रावण संन्यासी का वेश बना कर छलपूर्वक राम का आतिथ्य ग्रहण करता है। दशरथ के श्राद्ध के लिए वह राम को सुवर्ण मृग के निवाप का उपदेश देता है। तदनुसार राम सुवर्ण मृग को पकड़ने के लिये सुदूर वन में चले जाते हैं। लक्ष्मण भी एक महर्षि के स्वागतार्थ आश्रम से बाहर चले जाते हैं। आश्रम में केवल सीताजी रह जाती हैं। उनको अकेली देख और अपना वास्तविक परिचय देकर रावण उन्हें बल-पूर्वक अपहरण करके लंका की ओर चल देता है। सीता के क्रन्दन को सुनकर जटायु रावण के मार्ग में अनेक विघ्न उपस्थित करता है।

छठे अंक में रावण सीता को आकाश-मार्ग से उड़ा कर ले जाता है। बहुत देर तक रावण से लड़ता हुआ जटायु अन्त में धराशायी हो जाता है। इस घटना को जनस्थान के ऋषिकुमार देखते हैं और उनमें से दो इस घटना की सूचना राम को देने के लिए वहाँ से प्रस्थान करते हैं। सुमंत्र भी जनस्थान में गये हुए थे। वहाँ से लौट कर वे सीताहरण के समाचार को भरत से छिपाने का प्रयत्न करते हैं, पर अन्ततोगत्वा भरत को यह बात ज्ञात हो ही जाती है। इन सब बातों के लिए भरत पुनः कैकेयी की भर्त्सना करते हैं। वह भरत से क्षमा-याचना करती हुई कहती है कि 'चौदह दिन वनवास के स्थान पर उसके मुँह से चौदह वर्ष का वनवास निकल गया[1]। इसीलिए यह सब अनर्थ हुआ'। भरत इस बात पर विश्वास कर शान्त हो जाते हैं और रावण से प्रतिशोध लेने के लिए तैयारियां करते हैं।

सप्तम अंक में राम रावण को पराजित कर सीता और लक्ष्मण सहित जनस्थान में आ जाते हैं। उसी समय वहाँ सेना को लेकर भरत भी जा पहुँचते हैं। उनके साथ कैकेयी भी थी। वहाँ भरत राम के चरणों में राज्य-भार समर्पित कर देते हैं। कैकेयी राम को राज्याभिषेक की आज्ञा देती है, जिसे वे स्वीकार कर लेते हैं।

---

१. जात! चतुर्दशदिवसा इति वक्तुकामया पर्याकुल हृदयया चतुर्दशवर्षाणीत्युक्तम्। —प्रतिमा नाटक, अंक ६, पृ० १६५-६६

राम-कथा से सम्बन्धित यह भास का दूसरा रूपक है। इसमें बालि-वध से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की कथा का समावेश किया गया है। इस नाटक की कथा-वस्तु का विकास छः अंकों में हुआ है।

२. अभिषेक नाटक

प्रथम अंक में बाली और सुग्रीव का युद्ध होता है जिसमें राम की सहायता से सुग्रीव की विजय होती है और बाली मारा जाता है। उसके स्थान पर सुग्रीव को राज्याभिषेक किया जाता है। इस प्रकार वह वानरराज बन जाता है।

दूसरे अंक के प्रारम्भ में सुग्रीव द्वारा सीता की खोज के लिए सभी दिशाओं में वानरगण भेजे जाते हैं। उनमें से हनुमान जटायु के संकेतानुसार लंका पहुँचते हैं और सीता का पता लगाने में सफलता प्राप्त करते हैं। वे अशोकवाटिका में बैठी सीता को देखते हैं। पहले हनुमान के समक्ष आने पर सीता को उनके राम-दूत होने पर विश्वास नहीं होता, परन्तु बाद में उन्हें प्रत्यक्ष हो जाता है कि हनुमान को राम ने ही उनके पास भेजा है। हनुमान सीता को आश्वस्त कर राम के पास लौटने का निश्चय करते हैं। लंका से प्रस्थान करने से पूर्व वे लंका के उपवन के फल खाकर उनका विध्वंस भी करने का विचार करते हैं।

तृतीय अंक में हनुमान द्वारा रावण का उपवन विध्वस्त कर दिया जाता है। सूचना मिलने पर रावण हनुमान को पकड़ने के लिए अनेक राक्षसों को भेजता है, जिनको हनुमान परास्त कर देते हैं। उनके द्वारा अक्षकुमार का भी वध कर दिया जाता है। अन्त में हनुमान को पकड़ कर मेघनाद रावण के दरबार में प्रस्तुत करता है। हनुमान रावण को राम का आदेश सुनाते हैं, जिससे अहंकारी रावण उन पर बिगड़ उठता है। वह परामर्श के लिए अपने भाई विभीषण को बुलाता है। वह भाई को राम-भार्या को लौटा देने की सम्मति देता है, पर रावण इसे स्वीकार नहीं करता और विभीषण पर क्रुद्ध होकर उसे लंका से निर्वासित कर देता है।

चतुर्थ अंक में सीता का पता लगा कर हनुमान राम के पास जाते हैं। रावण पर आक्रमण करने के लिए सुग्रीव सेना सजाता है, जिसे लेकर समुद्र पार करते हुए राम लंका पहुँचते हैं। वहाँ

विभीषण उनकी शरण में आते हैं। रावण अपने दो राक्षस-गुप्तचरों (शुक-सारण) को राम के पास भेजता है, जिनका भेद खुल जाता है और वे पकड़ लिये जाते हैं। राम उदारतापूर्वक उन्हें क्षमा कर देते हैं और उन्हीं के द्वारा रावण के पास युद्ध का संदेश भेजते हैं।

पंचम अंक में राम-रावण की सेनाओं में युद्ध होता है। एक-एक करके रावण के सारे योद्धा मारे जाते हैं। निराश होकर रावण सीता को ही मार डालना चाहता है, पर मंत्री उसे ऐसा करने से रोकते हैं। अन्त में वह मायापूर्ण युक्ति से राम और लक्ष्मण के कटे हुए सिर की प्रतिकृति बनवाकर सीता को दिखाता है और उसके मन में यह विश्वास जमाने का विफल प्रयत्न करता है कि राम लक्ष्मण तो मारे गये हैं, पर सीता उसकी इस चाल में नहीं आती और अपने व्रत पर दृढ़ता से आरूढ़ रहती है।

छठे अंक में राम-रावण का घोर संग्राम होता है, जिसमें रावण मारा जाता है। सीता को पाकर राम उन्हें कलंकाक्षेप के कारण अस्वीकृत कर देते हैं। सीता अग्निपरीक्षा में अपनी शुद्धता प्रमाणित कर राम का विश्वास प्राप्त कर लेती है। अन्त में राम-राज्याभिषेक हो जाता है।

उपर्युक्त रूपकों के अतिरिक्त भास ने कुछ ऐसे रूपक भी लिखे हैं जो कि मुख्यतः कल्पनाश्रित हैं। उनमें से एक 'अविमारक' भी है।

१. अविमारक

यह एक प्रकरण 'रूपक' है। इसमें कुन्तिभोज की पुत्री और अविमारक नामक राजकुमार की प्रेम-कथा का चित्रण किया गया है। कथा-वस्तु को छः अंकों में विभाजित किया गया है।

प्रथम अंक में राजा कुन्तिभोज की कन्या कुरंगी उपवन में भ्रमण करने जाती है। वहाँ से लौटते समय मार्ग में उसे एक उन्मत्त हाथी मिल जाता है, जिसे देखकर वह भयभीत हो जाती है। हाथी राजकुमारी की ओर झपटता है, किन्तु एक सुन्दर युवक वहाँ आकर अपने पराक्रम से हाथी को भगा देता है। वह युवक अविमारक था। कुरंगी उसके पराक्रम और सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती है और

अविमारक भी कुरंगी के रूप-यौवन पर रीझ जाता है। राजा ने अविमारक के पराक्रम से संतुष्ट होकर उसके कुलशील का पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि वह चाण्डाल है। पर उसके सहृदयता, दयालुता, दाक्षिण्य आदि गुणों को देखकर किसी को सहसा विश्वास नहीं हो सकता था कि अविमारक अन्त्यज है। इसी समय काशिराज अपने पुत्र का कुरंगी से विवाह पक्का करने के लिए कुन्तिभोज के पास एक दूत भेजते हैं। उधर कुन्तिभोज ने कुरंगी का विवाह सौवीरराज के पुत्र के साथ करने का निश्चय कर रखा था, पर इन दिनों उसका कहीं पता नहीं चल रहा था। चण्ड-भार्गव नामक क्रोधी मुनि के शाप के कारण सौवीरराज चाण्डालत्व को प्राप्त कर सपरिवार प्रच्छन्न रूप में कुन्तिभोज की नगरी में ही निवास कर रहा था। उसके पुत्र का नाम विष्णुसेन था। अविरूपधारी किसी असुर को मारने के कारण लोग उसे 'अविमारक' कहने लगे थे[1]। इसी कारण कुन्तिभोज को सौवीरराज और उसके परिवार का पता नहीं चल पाया।

द्वितीय अंक में अविमारक और कुरंगी दोनों ही एक दूसरे के वियोग से पीड़ित दिखाई देते हैं। कुरंगी के परिजन उसकी वियोग-वेदना को दूर करने के लिए अविमारक के घर का पता लगाते हैं। धात्री और नलिनिका अविमारक के घर पर पहुँच जाती हैं और उसे प्रच्छन्न रूप में कुरंगी के पास आने का निमंत्रण दे आती हैं जिसे वह सहर्ष स्वीकार कर लेता है।

तृतीय अंक में पूर्वनिश्चय के अनुसार अविमारक गुप्तवेश में राजा के कन्यापुर में प्रवेश कर कुरंगी का सहवास प्राप्त करता है।

चतुर्थ अंक के अन्तर्गत अविमारक एवं कुरंगी के प्रेम की बात राजा के कानों में पहुँचती है। यह जानकर अविमारक राजा के कन्यापुर से निकल भागता है और निराश होकर आत्मघात के अनेक प्रयत्न करता है। पहले वह पानी में डूब कर मरना चाहता है, पर उसे सफलता नहीं मिलती। फिर वह अग्नि-प्रवेश द्वारा प्राण-त्याग

---

१. अमानुपस्वरूपवलवीर्यपराक्रमेणानेन
वर्धमानेन यस्मादविरूपधारी मारितोऽसुरः,
तस्मादऽविमारक इति विष्णुसेनं लोको ब्रवीति।
अविमारक, अंक ६, पृ० १६५

करना चाहता है, पर वह बच जाता है। तीसरे प्रयत्न में वह पर्वत-शिखर से गिरना चाहता है, किन्तु वहाँ उसका साक्षात्कार एक विद्याधर से होता है जो उसे एक विलक्षण अँगूठी देता है, जिसे बायें हाथ में धारण करने पर पहनने वाला अदृश्य हो जाता है और दायें में धारण करने पर दृश्य। इस अँगूठी को प्राप्त कर अविमारक प्रसन्न होता है और उसकी सहायता से पुनः कुरंगी के पास जाने का निश्चय करता है।

पंचम अंक के प्रारम्भ में कुरंगी अविमारक के वियोग में विकल दिखाई देती है। वह निराश हो गले में फन्दा डाल कर आत्महत्या के लिए उद्यत हो जाती है। इतने में अँगूठी की सहायता से अविमारक और विदूषक वहाँ पहुँच जाते हैं। अविमारक को देखते ही कुरंगी का मन प्रफुल्लित हो जाता है।

छठे अंक में कुन्तिभोज अपनी पुत्री कुरंगी के विवाह की योजना में व्यस्त दिखाई देते हैं। उन्हें जब सौवीरराज के पुत्र विष्णुसेन का कोई पता नहीं लगता तो कुरंगी का विवाह काशिराज के पुत्र जयवर्मा के साथ कर देने का निश्चय कर लेते हैं। तदनुसार जयवर्मा को वहाँ बुला लिया जाता है। यज्ञ-दीक्षित होने के कारण काशिराज स्वयं वहाँ आना ठीक नहीं समझते। सौवीरराज भी वहाँ उपस्थित है। उन्हें अपने पुत्र का पता नहीं लग पा रहा है, अतः वह इस विवाह के अवसर पर खिन्न हो रहे हैं। राजा भी अविमारक को खोजने के लिए मंत्रियों को इधर-उधर भेजते हैं, पर उसका पता नहीं लग पाता है।

ऐसी स्थिति में जयवर्मा के साथ कुरंगी का विवाह होने को ही है कि नारद प्रवेश करते हैं। वे कुन्तिभोज और सौवीरराज को बताते हैं कि अविमारक कुरंगी के पास ही निवास कर रहा है और उसने कुरंगी के साथ गांधर्व विवाह भी कर लिया है। नारद सौवीर-राज को इस बात का भी विश्वास दिलाते हैं कि अविमारक सौवीर-राज का ही पुत्र है, अन्त्यज नहीं। यह रहस्य प्रकट होने पर जयवर्मा का विवाह कुरंगी की छोटी बहिन के साथ कर दिया जाता है। इस प्रकार सभी के मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।

भास का दूसरा कल्पनाश्रित रूपक 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' है।

इसकी कथा चार अंकों में विभक्त है। प्रथम अंक में वत्सराज का बुद्धिमान् मंत्री यौगन्धरायण रंगमंच पर दिखायी देता है। वार्त्तालाप के मध्य वह यह सूचित करता है कि स्वामी कल प्रातः नागवन को प्रस्थान करेंगे, अतः वह पत्र एवं रक्षा-सूत्र लेकर सालक को उनकी रक्षार्थ भेजना चाहता है। इसी समय उदयन के साथ सदैव रहने वाला अंगरक्षक हंसक वहाँ आकर वताता है कि राजा विना किसी को सूचना दिये ही प्रातःकाल नागवन में चले गये। वहाँ उन्हें नीला हाथी दिखायी दिया, जिस को पकड़ने के लिए वह उस ओर चल पड़े। उनके वहाँ पहुँचते ही उस कृत्रिम हाथी में से अनेक शस्त्रधारी योद्धा निकल पड़े जोकि प्रद्योत ने छिपा रखे थे। उन सैनिकों से उदयन युद्ध करते रहे, पर सीमित साधनों के कारण उन्हें पराजित होना पड़ा। प्रद्योत के सैनिकों द्वारा उन्हें बन्दी बना लिया जाता है।

२. प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण

इस वृत्तान्त को सुनकर यौगन्धरायण बहुत चिन्तित होता है। वह यह समाचार राजमाता के पास भी भेज देता है जिससे वह भी खिन्न होती है और यौगन्धरायण से प्रार्थना करती है कि वह अपने बुद्धि-वैभव से किसी-न-किसी प्रकार उदयन को बन्धन-मुक्त करा दे। अपनी स्वामि-भक्ति से प्रेरित होकर यौगन्धरायण उदयन को बन्धन-मुक्त कराने की दृढ़ प्रतिज्ञा करता है[1]। दैवयोग से इसी समय महर्षि व्यास वहाँ आ पहुँचते हैं और यौगन्धरायण को एक ऐसा वस्त्र प्रदान करते हैं, जिससे वह अपना स्वरूप तिरोहित कर शत्रुपुर में स्वच्छन्दता-पूर्वक विचरण करता हुआ अपना अभीष्ट पूर्ण कर सके।

द्वितीय अंक में महासेन प्रद्योत अपनी राजधानी में आ जाता है। वहाँ पर वह वासवदत्ता के विवाह के विषय में अपने प्रमुख कर्मचारी तथा रानी से परामर्श करता है। वह विभिन्न स्थानों से आये हुए राजाओं के नाम तथा गुणों का परिचय देकर रानी से पूछता है कि इनमें से तुम किसको कन्या के योग्य पति समझती हो। इसी समय कंचुकी वत्सराज को वन्दी वनाने का शुभ समाचार लाता है। राजा

---

१. यदि शत्रुवलग्रस्तो राहुणा चन्द्रमा इव
मोचयामि न राजानं नास्मि यौगन्धरायणः। प्रतिज्ञायौगन्धरायण, १.१६

कंचुकी से कहता है कि राजकुमार के अनुरूप सत्कार कर उदयन को भीतर प्रवेश कराओ। उदयन के साथ उसकी घोषवती वीणा भी लाई जाती है, जिसे प्रद्योत अपनी पुत्री के पास भेज देता है। रानी संकेत रूप में राजा को यह बता देती है कि वासवदत्ता के लिए योग्य पति उदयन ही सिद्ध होगा।

तृतीय अंक में वत्सराज के तीनों मंत्री—यौगन्धरायण, वसन्तक और रुमण्वान्—वेश बदल कर उज्जयिनी में रहते हुए वत्सराज को बन्धन-मुक्त कराने का प्रयास करते हैं। इसी बीच उदयन वासवदत्ता को देख लेता है और उस पर कामासक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह वसन्तक को सूचना देता है कि वह वासवदत्ता को छोड़ कर बन्दीगृह से मुक्त नहीं होना चाहता। राजा की इस इच्छा को वसन्तक यौगन्धरायण से भी कह देता है। यौगन्धरायण घोषवती वीणा, नलागिरि हस्ती, एवं वासवदत्ता के साथ वत्सराज का हरण कर कौशाम्बी ले जाने की प्रतिज्ञा करता है।

चतुर्थ अंक में यौगन्धरायण के चातुर्य्य से नलागिरि हाथी उन्मत्त हो जाता है। उसे वश में करने के लिए वत्सराज को बन्धन-मुक्त कर दिया जाता है। सुअवसर देख कर वत्सराज वासवदत्ता के साथ भद्रवती नामक हथिनी पर सवार होकर वहाँ से भाग जाता है। प्रद्योत की सेना यौगन्धरायण एवं उसके साथियों पर आक्रमण करती है और उसे बन्दी बना लेती है। बन्दी के रूप में यौगन्धरायण को शस्त्रागार में स्थान दिया जाता है। वहाँ उससे प्रद्योत का अमात्य भरतरोहक मिलता है जो वत्सराज के कृत्यों की भर्त्सना करता है। यौगन्धरायण भरतरोहक के समस्त आक्षेपों का उत्तर देता है। अन्त में प्रसन्न होकर भरतरोहक उसे पुरस्कार में एक स्वर्णपात्र देना चाहता है। पहले तो वह उसे लेने से मना कर देता है, पर जब उसे ज्ञात होता है कि प्रद्योत ने चित्रफलक द्वारा वासवदत्ता और उदयन का विवाह दिखा कर उसका अनुमोदन कर दिया है, तो वह उसे स्वीकार कर लेता है। तत्पश्चात् भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

घटना-क्रम की दृष्टि से 'स्वप्नवासवदत्त' 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' की कथा का उत्तरार्ध है। इस नाटक का स्वप्न सम्बन्धी दृश्य बड़ा

३. स्वप्नवासवदत्त

महत्त्वपूर्ण है, अतः इसे 'स्वप्न' नाटक की संज्ञा भी दी जाती है। यह भास का सर्वोत्कृष्ट नाटक माना जाता है।

इसके प्रथम अंक में तपोवन का दृश्य है। उसमें अमात्य यौगन्धरायण संन्यासी के वेश में तथा रानी वासवदत्ता एक अवन्ती महिला के छद्मवेश में दिखाई देती हैं। मगध के राजा दर्शक की माता भी उसी तपोवन में निवास कर रही है, अतः उसके दर्शनार्थ मगधेश्वर की बहिन पद्मावती वहाँ आती है। उसके सेवकगण उसके लिए मार्ग को खाली कराने के लिए लोगों को मार्ग से हटा रहे हैं। तपोवन में भी इस प्रकार की अपवारण-क्रिया देख कर यौगन्धरायण एवं वासवदत्ता को खेद होता है। पद्मावती अभीष्ट स्थान पर पहुँच कर राजमाता का दर्शन करती है और अभ्यर्थियों को दानादि से संतुष्ट करने की घोषणा करती है। तदनुसार केवल यौगन्धरायण याचना के लिए आगे बढ़ता है और पद्मावती से वासवदत्ता को न्यास-रूप में अपने पास रख लेने की प्रार्थना करता है। पद्मावती इस विषय में पहले तो अपना कोई उत्साह नहीं दिखाती, पर अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कर वासवदत्ता को स्वीकार कर लेती है। यौगन्धरायण की भावी योजना के अनुसार पद्मावती उदयन की रानी होगी, अतः वासवदत्ता को वह पद्मावती के साक्ष्य में रखना उचित समझता है।

इसी समय यौगन्धरायण की योजना के अनुसार लावाणक ग्राम से एक तपस्वी आता है जो एक दुर्घटना की सूचना देता है। उसके अनुसार उक्त ग्राम में उदयन अपनी पत्नी वासवदत्ता तथा मंत्रियों के साथ ठहरे हुए हैं। एक दिन जब वे शिकार के लिए वन में जाते हैं तो पीछे से उनके निवासस्थान में आग लग जाती है, जिससे वासवदत्ता और यौगन्धरायण जल मरते हैं। पत्नी की मृत्यु का समाचार सुनकर उदयन शोकाकुल होकर आत्महत्या के लिए उद्यत हो जाते हैं। मंत्रियों के बड़े प्रयत्नों से वे आत्महत्या करने से रुकते हैं।

दूसरे अंक के प्रारम्भ में वासवदत्ता और पद्मावती कन्दुक-क्रीड़ा करती हैं। उनमें परस्पर हास-परिहास भी चलता है। इसी प्रसंग में वासवदत्ता पद्मावती के विवाह की चर्चा छेड़ देती है।

अवसर पाकर दासी इस रहस्य को प्रकट करती है कि पद्मावती महासेन परिवार में अपना विवाह नहीं करना चाहती, वह तो उदयन से प्रेम करती है। दूसरी दासी आकर यह सूचना देती है कि पद्मावती के भाई ने उसका वाग्दान उदयन से कर दिया है। वासवदत्ता प्रकट रूप में इस विषय में अपनी उदासीनता दिखाती है। इसी समय एक चेटी आकर सूचना देती है कि उदयन-पद्मावती का विवाहोत्सव आज ही सम्पन्न होने जा रहा है।

तृतीय अंक के प्रारम्भ में वासवदत्ता चिन्ताकुल दिखाई देती है। उसे यह सह्य नहीं है कि उसके पति दूसरी पत्नी का वरण करें। विवाह की माला गूँथने का कार्य भी उसे ही सौंपा जाता है। बड़े कष्ट के साथ वह माला को गूँथ कर पूर्ण करती है। तत्पश्चात् उसे नींद आ जाती है जिससे उसे सान्त्वना मिलती है।

चतुर्थ अंक में राजकीय उपवन का दृश्य है, जिसमें पद्मावती, वासवदत्ता और एक दासी दिखाई देती हैं। कुछ समय पश्चात् उदयन और विदूषक वसन्तक भी वहाँ आ जाते हैं। उदयन से पद्मावती का विवाह हो जाने पर विदूषक एकान्त में उदयन से पूछता है कि उन्हें पद्मावती और वासवदत्ता में से कौन अधिक प्रिय है? इसके उत्तर में वह गुणों की दृष्टि से पद्मावती को श्रेष्ठ बताता है, पर वासवदत्ता के प्रति भी अपना प्रगाढ़ अनुराग प्रकट करता है। यह जान कर लता-गुल्म की ओट में छिपी हुई वासवदत्ता को प्रसन्नता होती है। विदूषक पद्मावती के प्रति राजा को अधिक आकृष्ट होने का आग्रह करता है जिससे राजा की आँखों से अश्रु ढुलक पड़ते हैं। कुछ काल पश्चात् राजा एक प्रीति-उत्सव में सम्मिलित होने के लिए वहाँ से चला जाता है।

पंचम अंक में पद्मावती शिरोव्यथा से पीड़ित होती है। राजा और वासवदत्ता को भी इसकी सूचना मिलती है। राजा पद्मावती के उपचारार्थ औषधि लेने जाता है, पर वापस आने पर रोग-शय्या पर पद्मावती को नहीं पाता। खाली शय्या देखकर वह स्वयं वहाँ लेट जाता है। वासवदत्ता भी वहीं आ जाती है और राजा के स्वप्न-प्रलापों का उत्तर देने लगती है। वह शय्या से लटकते हुए राजा के हाथ को ऊपर कर देती है। स्पर्श से राजा की निद्रा टूटती है और वह वासवदत्ता को पहिचान कर उसका हाथ पकड़ना चाहता है, पर वह वहाँ से भाग

जाती है और उसके हाथ नहीं आती। इससे राजा को यह विश्वास हो जाता है कि वासवदत्ता जीवित है। इसी समय प्रतिहारी के सन्देश के अनुसार राजा आरुणि पर चढ़ाई करने को तैयार होकर प्रस्थान कर देता है।

छठे अंक में उदयन को वासवदत्ता की प्रिय वीणा घोषवती मिल जाती है, जिससे उसके मन में वासवदत्ता की स्मृति पुनः नवीन हो उठती है। इसी समय उज्जयिनी के राजा के यहाँ से उदयन और वासवदत्ता के विवाह का चित्र प्राप्त होता है। उसमें वासवदत्ता का चित्र देखकर पद्मावती कहती है कि एक ऐसी ही महिला मेरे पास है। उसे उसके भाई ने मेरे पास न्यास-रूप में रखा था। इस बात पर उदयन को विश्वास नहीं होता। इसी समय अपना न्यास वापस लेने के लिए यौगन्धरायण भी आ जाता है। वह राजा के समक्ष अपना सम्पूर्ण रहस्य प्रकट कर उसका जय-घोष करता है। वासवदत्ता भी वहीं आ जाती है। इस प्रकार वासवदत्ता और उदयन पुनः पति-पत्नी के रूप में मिल कर आनन्द का अनुभव करते हैं।

'चारुदत्त' भास का अन्तिम नाटक माना जाता है। इसमें भास की प्रौढ़ नाट्यकला के दर्शन होते हैं। इसमें ब्राह्मण चारुदत्त और गणिका वसन्तसेना की प्रेमकथा का वर्णन किया गया है। इसके प्रथम अंक में मैत्रेय (विदूषक) दिखाई देता है, जो चारुदत्त के अतीत वैभव और वर्तमान दारिद्र्य का वर्णन करता है। वह देव-बलि के लिए चारुदत्त के पास पुष्प ले जा रहा है। चारुदत्त को अपनी दरिद्रता पर उतना दुःख नहीं होता[1] जितना विपन्नता में मुख मोड़ लेने वाले मित्रों के आचरण पर।

४. चारुदत्त

इसके पश्चात् गणिका वसन्तसेना का पीछा करते हुए शकार एवं विट दिखाये जाते हैं। उनकी बातों से ज्ञात होता है कि वे दोनों ही अत्यंत क्रूर प्रकृति के पुरुष हैं। उन दोनों से पिण्ड छुड़ाने के

१. दारिद्र्यात् पुरुषस्य वान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते
सत्त्वं हास्यमुपैति शीलशशिनः कान्ति परिम्लायते।
निर्वैरा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फीता भवन्त्यापदः
पापं कर्म च यत् परैरपि कृतं तत्तस्य सम्भाव्यते।
—चारुदत्त, १.६

लिए वसन्तसेना पास ही चारुदत्त के मकान में छिप जाती है। चारुदत्त के मकान से रदनिका और विदूषक जब देवबलि के लिए बाहर चले जाते हैं तो वसन्तसेना चारुदत्त के घर में प्रवेश करती है। वह अपना हार चारुदत्त के यहाँ न्यास-रूप में रख देती है। फिर विदूषक उसको घर पहुँचाने जाता है।

द्वितीय अंक में वसन्तसेना और चेटी का वार्त्तालाप होता है जिसमें वह पहले चारुदत्त के प्रति अपना अनुराग प्रकट करती है। इसी समय संवाहक, जो जुआरी भी था, वसन्तसेना के घर में प्रवेश करता है और अपने को पाटलिपुत्र का निवासी बताता है। वह विजेता जुआरी के भय से अपनी रक्षा की याचना करता है और अपने को चारुदत्त का पुराना भृत्य बताता है। वसन्तसेना विजेता जुआरी को अभीष्ट धन देकर उससे उसका पीछा छुड़ा देती है। इसी समय चेटी वसन्तसेना को चारुदत्त की उदारता की एक घटना सुनाती है जिसमें चारुदत्त ने हाथी से एक व्यक्ति की प्राणरक्षा करने वाले व्यक्ति को अपना प्रावारक दे दिया था[1]।

तृतीय अंक चारुदत्त के घर के दृश्य से प्रारम्भ होता है। रात्रि होने पर चारुदत्त सोने से पूर्व वसन्तसेना का सुवर्णहार रात्रि में रक्षा करने के लिए विदूषक को दे देता है। सुवर्ण-भाण्ड को लेकर वह प्रमादवश सो जाता है। अर्धरात्रि के पश्चात् सज्जलक नामक चोर सेंध लगाकर चारुदत्त के घर में घुस जाता है। चारों ओर धन की तलाश करने पर भी उसे दरिद्र चारुदत्त के घर में कुछ नहीं मिलता। इतने में उसे स्वयं ही बड़बड़ाते हुए विदूषक की आवाज सुनायी पड़ती है, जो चारुदत्त को कह रहा है कि अपना सुवर्ण-भाण्ड ले लो। यह संकेत पाकर सज्जलक विदूषक के पास पहुँच जाता है और सुवर्ण-भाण्ड को चुपचाप उठा कर वहाँ से चम्पत हो जाता है।

प्रातःकाल होने पर चोरी हो जाने का पता लगता है। विदूषक प्रमादवश कह देता है कि उसने सुवर्ण-भाण्ड चारुदत्त को लौटा दिया है। बाद में उसे विश्वास हो जाता है कि वस्तुतः चोरी हो गई है।

---

१. केनापि कुलपुत्रेणोचिन्तान्याभरणस्थानानि विलोक्यांगुष्ठेनानीयापि पुनरलब्धं प्रेक्ष्य दैवमुपालभ्य दीर्घं निःश्वस्यैतावान् मे विभव इति कृत्वा परिजनहस्तेऽयं प्रावारकः प्रेषितः।—चारुदत्त, अंक २, पृ० ७०

चारुदत्त को वसन्तसेना का हार लौटाने की चिन्ता हो जाती है। पति को चिन्ताकुल देखकर चारुदत्त की पत्नी अपनी बहुमूल्य माला उसको दे देती है जिससे वह वसन्तसेना के न्यासभार से मुक्त हो सके। चारुदत्त विदूषक द्वारा उस माला को वसन्तसेना के पास भेजता है।

चतुर्थ अंक में वसन्तसेना के पास उसकी माता की आज्ञा सुनाने एक चेटी जाती है। उसकी माँ कहलाती है कि अलंकृत होकर राजश्यालक के पास जाओ, किन्तु वह मना कर देती है। उसी समय सज्जलक भी वहाँ आ जाता है। वह वसन्तसेना की चेटी मदनिका का प्रेमी है। वह मदनिका को चारुदत्त के घर से चुराया हुआ हार दिखाता है, जिसे वह पहिचान जाती है और उसे कहती है कि यह हार वसन्तसेना को दे दो और कह दो कि यह चारुदत्त ने भेजा है। इसी समय विदूषक भी अमूल्य हार लेकर आता है और वसन्तसेना से कहता है कि चारुदत्त तुम्हारे हार को जूए में हार चुके हैं, अतः उसके बदले यह अमूल्य हार स्वीकार कर लो। विदूषक के चले जाने पर मदनिका के कथनानुसार सज्जलक वसन्तसेना को हार लौटा देता है। इससे प्रसन्न होकर वसन्तसेना मदनिका को स्वयं अलंकृत कर सज्जलक के साथ विदा कर देती है।

इन सब बातों को देख कर वसन्तसेना को आश्चर्य होता है। वह सोचती है कि यह सब कुछ स्वप्न है या यथार्थ। चारुदत्त के व्यवहारों को देख कर वह उसके प्रति और भी अधिक अनुरक्त हो जाती है तथा उसके घर जाने की उत्कण्ठा व्यक्त करती है। यहीं नाटक समाप्त हो जाता है।

कालिदास के नाटक

आलोच्य नाटकों में भास के नाटकों के पश्चात् कालिदास के नाटक आते हैं। कालिदास ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशीय' एवं 'मालविकाग्निमित्र' नाटकों की रचना की। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. अभिज्ञानशाकुन्तल

शाकुन्तल कालिदास की अमरकृति है। इसमें राजा दुष्यन्त और कण्व ऋषि की पालिता पुत्री 'शकुन्तला' के प्रेम का निरूपण किया गया है। यह नाटक सात अंकों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अंक में राजा दुष्यन्त रथ पर बैठ कर मृगया के लिए वन की ओर जाता है। वह एक मृग का अनुगमन करता हुआ कण्व ऋषि के आश्रम के पास पहुँच जाता है। वहाँ उसे एक तपस्वी सूचित करता है कि यह आश्रम का मृग है, अतः अवध्य है। राजा तपस्वी की बात मान जाता है। तपस्वी की प्रार्थना पर राजा आश्रम में जाकर अतिथि-सत्कार स्वीकार करता है। कण्व ऋषि सोमतीर्थ गये हुए हैं, अतः शकुन्तला ही राजा का अतिथि-सत्कार करती है। उसके सौन्दर्य को देखकर राजा उस पर आसक्त हो जाता है[१] और उससे विवाह करने का निश्चय कर लेता है।

दूसरे अंक में दुष्यन्त की कामासक्त दशा का वर्णन किया गया है। ऐसी स्थिति में राजा शिकार खेलने भी नहीं जाता और सदैव शकुन्तला को स्मरण करता रहता है। वह विदूषक से कोई ऐसा बहाना ढूंढने के लिए कहता है जिससे वह अधिक समय तक तपोवन में रुक सके। दैवयोग से उसी समय दो तपस्वी-कुमार आकर राजा से प्रार्थना करते हैं कि वह राक्षसों से आश्रम की रक्षा करने के लिए कुछ समय आश्रम में और ठहरें। राजा इस प्रार्थना को सहर्ष स्वीकार कर लेता है। इसी बीच दुष्यन्त की माता उसे राजधानी में बुलाने के लिए दूत भेजती है, पर दुष्यन्त वहाँ न जाकर विदूषक (माढव्य) को सेना के साथ भेज देता है।

तृतीय अंक में शकुन्तला भी राजा पर आसक्त दिखाई देती है। कामासक्ति के कारण वह अस्वस्थ हो जाती है। सखियाँ उसका शीतलोपचार करती हैं। इसी अन्तराल में राजा भी वहाँ आ जाता है और लताओं की ओट में छिप कर बैठ जाता है। शकुन्तला अपनी सखियों से राजा के प्रति अपनी अनुरक्ति प्रदर्शित करती है। इसी बीच राजा वहाँ आकर शकुन्तला के प्रति अपने प्रणय को प्रकट करता है और सखियों के चले जाने पर वह उससे गांधर्व विवाह करने का प्रस्ताव रखता है, जिसे शकुन्तला संकोचवश स्वीकार नहीं करती। दुष्यन्त और शकुन्तला के वार्त्तालाप के बीच ही गौतमी

---

१. कथमिय सा कण्वदुहिता: असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।—अभि० शा०, अंक १, पृ० १२

प्रवेश करती है और शकुन्तला को ले जाती है। राजा भी राक्षसों से आश्रम की रक्षा करने के लिए चला जाता है।

चतुर्थ अंक के विष्कंभक में राजा का शकुन्तला से गांधर्व विवाह हो जाता है। राजधानी को प्रस्थान करते समय राजा शकुन्तला को बुला लेने के लिए शीघ्र ही दूत भेज देने का आश्वासन देता है और पहचान के लिए अपनी नामांकित अँगूठी भी दे जाता है। इसके पश्चात् शकुन्तला राजा की स्मृति में उदास बैठी रहती है। अकस्मात् दुर्वासा ऋषि आश्रम में प्रवेश करते हैं। प्रिय-वियोग से विकल शकुन्तला उनका आतिथ्य नहीं कर पाती। इससे क्षुब्ध दुर्वासा उसको शाप देते हैं कि तूने जिसके चिन्तन में मेरी उपेक्षा की है, वह तुझे भूल जायेगा[1]। शकुन्तला की सखियाँ दुर्वासा से प्रार्थना करती हैं कि वह कृपया अपने शाप को वापिस ले लें। अधिक अनुताप करने पर दुर्वासा यह कह देते हैं कि कोई परिचय-चिह्न दिखाने पर वह शकुन्तला को पहचान लेगा। सखियाँ इस शाप की बात शकुन्तला से नहीं कहतीं।

इस घटना के पश्चात् कण्व तीर्थ-यात्रा से आश्रम को लौटते हैं। उनको आकाशवाणी द्वारा ज्ञात होता है कि शकुन्तला का गांधर्व-विवाह दुष्यंत के साथ हो गया है और वह गर्भवती भी है। वह इस विवाह का सहर्ष अनुमोदन कर शकुन्तला को पतिगृह भेजने की तैयारी करते हैं। इस बीच राजा की ओर से शकुन्तला को कोई बुलावा नहीं आता। वह इस घटना को भूल जाता है। शकुन्तला की विदा के समय लतावृक्ष पुष्पों के आभूषण प्रदान करते हैं। शकुन्तला वन के लता-वृक्षों, मृगों आदि से विदाई लेती है। जाते समय कण्व उसे सुगृहिणी के कर्त्तव्यों की शिक्षा देते हैं[2]। शकुन्तला गौतमी और दो तपस्वियों के साथ पतिगृह को प्रस्थान करती है।

---

१. विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्। स्मरिष्यति त्वां न स वोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथम कृतामिव। अभि० शा०, ४.१

२. शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥
—अभि० शा०, ४.१८

पंचम अंक में शकुन्तला अपने पतिगृह में पहुँचती है। दुष्यन्त उसके साथ अपने गांधर्व विवाह की बात बिल्कुल भूल जाता है। शार्ङ्गरव तपस्वी राजा को उस घटना का स्मरण दिलाता है, पर वह विवाह की बात को सर्वथा असत्य बताता है। शकुन्तला राजा की दी हुई अँगूठी दिखा कर उसको घटना की सत्यता का विश्वास दिलाने की सोचती है, पर वह अगूंठी रास्ते में ही कहीं गिर चुकी है। अन्त में पुरोहित पुत्रजन्म तक शकुन्तला को अपने घर में रखने का प्रस्ताव करते हैं। इस अवस्था में शकुन्तला को छोड़ कर गौतमी आदि सभी लोग चले जाते हैं। इसी समय एक अप्सरा आकर शकुन्तला को आकाश में उड़ा ले जाती है, जिसे देख कर सभी को आश्चर्य होता है। दुष्यन्त भी खिन्न हो जाता है।

छठे अंक में एक धीवर राजा की अँगूठी बेचता हुआ पकड़ा जाता है। यह अँगूठी उसे शचीतीर्थ से पकड़ी हुई एक मछली के पेट में मिली थी। राज्य के रक्षक धीवर को चोर समझ कर उसे राजा के पास ले जाते हैं। अँगूठी देखकर राजा को शकुन्तला के साथ विवाह की बात स्मरण हो आती है। वह धीवर को पुरस्कार देकर विदा कर देता है और स्वयं शकुन्तला के वियोग में दुःखी रहने लगता है। इसी अवसर पर वहाँ राजा इन्द्र के सारथि मातलि का आगमन होता है। वह राजा को इन्द्र का संदेश सुनाता है कि दैत्यों के नाश के लिए इन्द्र ने उन्हें तुरन्त बुलाया है। तदनुसार राजा रथ में बैठकर स्वर्ग के लिए प्रस्थान करता है।

सप्तम अंक में राजा दानवों पर विजय प्राप्त कर स्वर्ग से वापिस लौटता है। मार्ग में वह मारीच ऋषि के आश्रम में रुकता है। वहाँ वह एक ऐसे बालक को देखता है, जो सिंह-शावक के दाँत गिनने का प्रयत्न कर रहा है। राजा उसे देख कर उससे पुत्रवत् प्रेम करने लगता है। वार्त्तालाप के प्रसंग में उसे तपस्विनियों से यह भी ज्ञात होता है कि यह बालक पुरुवंशी है और उसकी माता का नाम शकुन्तला है। उसकी माता पति-परित्यक्ता है। इस प्रकार की बातों से दुष्यन्त को विश्वास हो जाता है कि वह बालक उसी का पुत्र है। दुष्यन्त अपने अपराध के लिए शकुन्तला से क्षमा-याचना करता है। तत्पश्चात् वे दोनों मारीच ऋषि के दर्शनार्थ जाते हैं। उनका आशीर्वाद लेकर वे दोनों राजधानी में आते हैं और सुखपूर्वक रहने लगते हैं।

नाटक की समाप्ति भरत-वाक्य के साथ होती है।

२. मालविकाग्निमित्र

इस रूपक में राजा अग्निमित्र तथा मालविका के प्रेम का चित्रण किया गया है। इसकी कथा-वस्तु पांच अंकों में विभक्त हुई है।

प्रथम अंक का प्रारम्भ विष्कंभक से होता है जिस में इस बात का पता चलता है कि महादेवी धारिणी मालविका को राजा की दृष्टि से बचाना चाहती है। उसको भय है कि कहीं राजा की दृष्टि मालविका पर पड़ गई तो वह उस पर अनुरक्त न हो जाय। संयोगवश एक दिन राजा मालविका के चित्र को देख लेते हैं और कुमारी वसुलक्ष्मी से उन्हें इस बात का संकेत मिल जाता है कि उसका नाम मालविका है। यहीं पर नाट्याचार्य गणदास द्वारा इस बात का पता चलता है कि धारिणी ने मालविका को संगीत व नृत्य की शिक्षा देने के लिए रख लिया है।

इस विष्कंभक के बाद मंच पर राजा अग्निमित्र दिखाई देते हैं। राजा विदूषक की प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि वह प्रवेश करता है। वह मालविका को राजा के समक्ष उपस्थित कराने के लिए अन्तःपुर के नाट्याचार्य गणदास और हरदत्त के बीच झगड़ा करा देता है। फलतः वे दोनों अपने को एक दूसरे से श्रेष्ठ बताते हैं और इसी बात को लेकर झगड़ते हुए राजा के समक्ष उपस्थित होते हैं। इस विवाद का निर्णय करने के लिए भगवती कौशिकी को बुलाया जाता है। वह यह प्रस्ताव रखती है कि दोनों नाटयाचार्य अपने शिष्यों का प्रायोगिक प्रदर्शन प्रस्तुत करें, जिस से उनकी श्रेष्ठता का निर्णय किया जा सके। धारिणी इस बात को टालना चाहती है, क्योंकि वह सोचती है कि इस प्रदर्शन में यदि राजा मालविका के प्रति कहीं आकृष्ट हो गये तो उसका महत्त्व घट जायेगा।

दूसरे अंक में गणदास की कुशल शिष्या मालविका अपना नृत्य प्रस्तुत करती है। उसके प्रदर्शन की उत्कृष्टता को देखकर कौशिकी अपना निर्णय गणदास के पक्ष में देती है। उधर धारिणी मालविका को यथाशीघ्र हटाना चाहती है, पर राजा मालविका के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है।

तीसरे अंक में इस बात का संकेत मिलता है कि राजा और मालविका दोनों ही एक दूसरे पर अनुरक्त हैं। मालविका की सखी

वकुलावलिका दोनों को मिलाने का प्रयत्न करती है। इसी बीच महारानी धारिणी के पैर में चोट आ जाती है। अतः अशोक-दोहद की पूर्ति के लिए स्वयं उद्यान में न जाकर अपने स्थान पर मालविका को भेज देती है। इस प्रकार राजा को मालविका से मिलने का अवसर प्राप्त हो जाता है। मालविका की उपस्थिति इरावती को अच्छी नहीं लगती, अतः वह राजा से रुष्ट होकर वहाँ से चली जाती है[1]।

चौथे अंक में धारिणी मालविका और उसकी सखी वकुलावलिका को अपना शत्रु समझ कर उन्हें बन्दी के रूप में तहखाने में बन्द करवा देती है। मालविका को राजा से मिलाने के लिए प्रयत्नशील विदूषक को इस बात से बड़ी चिन्ता होती है। मालविका को मुक्त कराने के लिए वह एक युक्ति सोच निकालता है। वह सर्प-दंश का बहाना कर विष-मोचन के लिए भगवती धारिणी की सर्पमुद्रांकित अँगूठी प्राप्त कर लेता है और उसकी सहायता से तहखाने में प्रवेश कर मालविका और वकुलावलिका को वहाँ से निकाल लाता है।

पंचम अंक में विदर्भ देश से दो सेविकाएँ आती हैं जोकि मालविका और भगवती कौशिकी को पहचान लेती हैं। मालविका विदर्भ के राजपुत्र माधवसेन की बहिन है और कौशिकी वहाँ के मंत्री की भगिनी। यह जानकर राजा को और भी प्रसन्नता होती है। इसके पश्चात् धारिणी राजा को मालविका से विवाह करने की स्वीकृति दे देती है, जिससे उन दोनों का पाणिग्रहण निर्विघ्न सम्पन्न हो जाता है।

यहीं भरत-वाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

३. विक्रमोर्वशीय

कालिदास का तीसरा रूपक विक्रमोर्वशीय है। इसमें ऋग्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण के आख्यान के आधार पर पुरूरवा तथा उर्वशी के प्रेमाख्यान का चित्रण किया गया है। मालविकाग्निमित्र की तरह इसके कथानक को भी पाँच अंकों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अंक के अन्तर्गत उर्वशी हिमाचल-प्रदेश में शिव की पूजा के

---

१. शठ अविश्वसनीयहृदयोऽसि। माल०, अंक ३, पृ० २११

लिए जाती है। वहां से लौटते समय उसको दानव पकड़ लेते हैं। यह देख कर अप्सराएँ रक्षा के लिए चिल्लाती हैं और रोने लगती हैं। उनकी करुणाभरी आवाज़ पुरूरवा के कानों में पहुँचती है और वह वहाँ आकर अप्सराओं से उनके रुदन का कारण पूछता है। कारण ज्ञात होने पर वह दानवों से युद्ध कर उर्वशी की रक्षा करता है। इससे उर्वशी पुरूरवा के प्रति आकृष्ट हो जाती है और वह भी उर्वशी के सौन्दर्य को देख कर उस पर मुग्ध हो जाता है।

द्वितीय अंक में उर्वशी के प्रति पुरूरवा राजा की अनुरक्ति का विशेष परिचय मिलता है। पुरूरवा अपने हृदय की प्रेम-दशा का वर्णन विदूषक से करता है। इसी बीच अपनी सखी के साथ उर्वशी भी वहाँ आ जाती है और एकान्त में छिप कर राजा की प्रेम-कथा को सुनती है। वह एक भोज-पत्र पर अपना प्रणय-संदेश लिख कर राजा के पास पहुँचा देती है। वह पत्र अकस्मात् औशीनरी को मिल जाता है जिससे वह राजा से रुष्ट हो जाती है। रानी को प्रसन्न करने के लिए राजा अनेक प्रकार से अनुनय-विनय करता है।

तीसरे अंक में सूचना मिलती है कि उर्वशी ने भरत मुनि द्वारा प्रदर्शित नाटक में लक्ष्मी का अभिनय किया है और उसमें उसने भूल से एक स्थल पर पुरुषोत्तम के स्थान पर पुरूरवा का नाम ले लिया है। इससे मुनि ने उसे शाप दे दिया है। शाप के उपरान्त इन्द्र कृपा कर उर्वशी को अपने पुत्र का मुँह न देखने तक राजा पुरूरवा के पास रहने की आज्ञा दे देते हैं। इसी बीच औशीनरी भी राजा पर प्रसन्न हो जाती है और उसे उर्वशी से प्रेम करने की छूट दे देती है।

चतुर्थ अंक में उर्वशी 'कुमार-वन' में प्रविष्ट होकर लता के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह जान कर पुरूरवा को गहरा आघात पहुँचता है। उर्वशी के वियोग में वह विक्षिप्त होकर इधर-उधर प्रलाप करने लगता है। इस अवस्था में राजा को 'संगमनीय-मणि' मिलती है, जिससे उर्वशी अपने लता-रूप को त्याग कर पुनः मानवी बन जाती है।

पंचम अंक में राजा अपनी राजधानी में लौट आता है। वहाँ उक्त मणि को एक गृद्ध ले जाता है जो कुछ समय पश्चात् एक बाण से आहत हो कर वहीं आ गिरता है। उसके शरीर से बाण को निकाल कर राजा के पास लाया जाता है। उसे पढ़ने से पता चलता

है कि वह पुरूरवा के पुत्र आयुष् का वाण है। राजा को पुत्रोत्पत्ति का पता तक न था, क्योंकि उर्वशी ने उसे च्यवन के आश्रम में इसलिए छिपा दिया था कि राजा उसका मुख न देख सके तथा दोनों प्रेमी वियुक्त न हों। उर्वशी को इस घटना का पता चलने पर दुःख होता है। इसी बीच नारद आकर बताते हैं कि देव-दानवों के युद्ध में इन्द्र को पुरूरवा की सहायता अपेक्षित है तथा इसके फलस्वरूप उर्वशी उम्र भर राजा पुरूरवा के साथ रहेगी। यहीं भरत-वाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

मृच्छकटिक

आलोच्य नाटकों में कालिदास के पश्चात् शूद्रक के नाटक आते हैं। शूद्रक का एकमात्र रूपक 'मृच्छकटिक' उपलब्ध है जो उनकी अमरकीर्त्ति का स्थायी स्तम्भ है। इसकी कथा-वस्तु को दस अंकों में विभाजित किया गया है।

प्रथम अंक में शकार, विट और चेट गणिका वसन्तसेना का पीछा करते हुए दिखाई देते हैं। मूर्ख शकार के कहने पर वसन्तसेना को ज्ञात होता है कि पास में ही चारुदत्त का घर है। शकार आदि से अपनी रक्षा करने के लिए वह चारुदत्त के घर में प्रवेश करती है। शकार भी उसके पीछे-पीछे वहाँ जाना चाहता है, पर विदूषक उसे प्रवेश नहीं करने देता। इस पर शकार अप्रसन्न होकर विदूषक से आजीवन वैर बनाये रखने की धमकी देता है। बड़ी देर वाद-विवाद करने के पश्चात् वह चेट के साथ वहाँ से वापिस चला जाता है। इसके पश्चात् वसन्तसेना और चारुदत्त की बातचीत होती है। पर जाने से पूर्व वसन्तसेना अपने आभूषण चारुदत्त के पास न्यास-रूप में रख देती है। चारुदत्त आभूषणों की रक्षा का कार्य दिन में वर्धमान को और रात में विदूषक को सौंप देता है।

दूसरे अंक में द्यूतकर-संवाहक का वृत्तान्त प्रमुख है। परिस्थितियों के आग्रह से संवाहक पक्का जुआरी बन जाता है। जुए में हार कर वह एक शून्य देवालय में छिप जाता है। माथुर और द्यूतकर उसे वहाँ पकड़ लेते हैं और उससे धन माँगते हैं। वह दर्दुरक की सहायता से वहाँ से निकल भागता है और वसन्तसेना की शरण में चला जाता है। वसन्तसेना उसे अपना हस्ताभरण देकर ऋण-मुक्त करा देती है। इसी समय कर्णपूरक प्रवेश करता है। वह वसन्तसेना को बताता है कि

प्रात:काल उसका हाथी उन्मत्त हो गया था और एक भिक्षुक को कुचलना ही चाहता था कि कर्णपूरक ने उसे बचा लिया। इससे प्रसन्न होकर चारुदत्त उसे अपना दुशाला देते हैं। वसन्तसेना उससे दुशाले को लेकर ओढ़ लेती है।

तृतीय अंक में चारुदत्त का चेट मंच पर दिखाई देता है जो यह सूचना देता है कि अर्धरात्रि का समय है, पर चारुदत्त अभी घर नहीं लौटे हैं। कुछ समय पश्चात् रेभिल के घर से संगीत सुन कर चारुदत्त और विदूषक घर लौटते हैं। घर जाकर वे सो जाते हैं। रात्रि में सुवर्ण-भाण्ड की रक्षा का भार विदूषक पर है, अतः वह भी भाण्ड को लेकर सो जाता है।

रात्रि में शर्विलक नामक चोर सेंध लगा कर चारुदत्त के घर में प्रवेश करता है और निद्रामग्न विदूषक के पास से सुवर्ण-भाण्ड लेकर चला जाता है।

प्रात:काल होते ही चोरी हो जाने का पता लगता है और चारुदत्त को वसन्तसेना के न्यासीकृत आभूषणों की चोरी हो जाने से बड़ी चिन्ता होती है। वह विदूषक के द्वारा अपनी पत्नी की रत्नमाला वसन्तसेना के पास भेज कर उसके न्यास-भार से मुक्त होता है।

चतुर्थ अंक में शर्विलक चोरी किया हुआ अलंकार लेकर वसन्त-सेना के पास पहुँचता है। वसन्तसेना को अलंकार देकर वह अपनी प्रेमिका रदनिका को वसन्तसेना के दासी-कर्म से मुक्त कराना चाहता है। रदनिका उस हार को पहचान जाती है और शर्विलक को उसे वसन्तसेना को लौटा देने को कहती है। तदनुसार वह वसन्तसेना को जाकर यह कहता है कि आपका यह हार चारुदत्त ने भेजा है[1]।

उधर विदूषक भी रत्नमाला लेकर वसन्तसेना के पास आता है और उसे वसन्तसेना को देकर चला जाता है।

पंचम अंक में वसन्तसेना चारुदत्त के घर जाती है। वसन्तसेना की चेटी विदूषक से रत्नावली का मूल्य पूछती है और कहती है कि उसके बदले यह सुवर्ण-भाण्ड ले लीजिये। यह देखकर सब चकित हो

---

१. सार्थवाहस्त्वां विज्ञापयति—जर्जरत्वाद् गृहस्य दूरक्ष्यमिदं भाण्डम्, तद् गृह्यताम्। —मृच्छ०, अंक ४, पृ० २२०

जाते हैं। चेटी सुवर्ण-भाण्ड की प्राप्ति का सारा वृत्तान्त विदूषक को बता देती है। विदूषक द्वारा यह वृत्तान्त चारुदत्त को भी ज्ञात हो जाता है।

छठे अंक में चेटी वसन्तसेना को बताती है कि चारुदत्त पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान गये हैं और उस (वसन्तसेना) को भी वहाँ बुला गये हैं। वसन्तसेना चारुदत्त के पास जाने के लिए भ्रम से शकार की गाड़ी में बैठ जाती है। इधर आर्यक राजा पालक के कारागृह से भाग कर चारुदत्त की गाड़ी में बैठ जाता है। मार्ग में उसे दो सिपाही मिलते हैं जोकि उसे रक्षा का वचन देते हैं।

सप्तम अंक में आर्यक की गाड़ी उद्यान में पहुँचती है। विदूषक वसन्तसेना को देखने के लिए गाड़ी का पर्दा उठाता है। वह उसमें वसन्तसेना के स्थान पर आर्यक को देखकर आश्चर्य करता है। आर्यक चारुदत्त से शरण माँगता है। चारुदत्त उसे अभय-दान देकर उसके बन्धन कटवा देता है।

आठवें अंक में वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में पहुँचती है। वहाँ उसे चारुदत्त के स्थान पर दुष्ट शकार मिलता है। वह उससे प्रणय-याचना करता है। वसन्तसेना उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर देती है। इस पर वह उसका गला घोंटता है, जिससे वह मूर्च्छित होकर गिर जाती है। उसको मूर्च्छित देखकर भिक्षु (संवाहक) उसे विहार में ले जाकर विश्राम कराता है।

नवम अंक में शकार न्यायालय में जाकर यह सूचना देता है कि चारुदत्त ने वसन्तसेना को मार डाला है। न्यायालय के अधिकारी वसन्तसेना की हत्या की जाँच के लिए वीरक को घटनास्थल पर भेजते हैं। वहाँ से आकर वह किसी स्त्री की हत्या की पुष्टि करता है। इसी बीच वसन्तसेना के आभूषण लेकर विदूषक वहाँ आ जाता है। उसका शकार से झगड़ा हो जाता है, जिसमें उसकी बगल से वसन्तसेना के आभूषण गिर पड़ते हैं। इस प्रमाण के आधार पर न्यायाधिकारी चारुदत्त को प्राणदण्ड की आज्ञा देते हैं।

दशम अंक में चाण्डाल लोग चारुदत्त को वध-स्थल पर ले जाते हैं। चारुदत्त के प्राणदण्ड की आज्ञा से नगर में चारों ओर करुणापूर्ण वातावरण छा जाता है। सभी लोग इस दण्ड को अनुचित बताते हैं।

इसी समय यह सूचना मिलती है कि आर्यक पालक को मार कर स्वयं राजा बन गया है[1]। आर्यक चारुदत्त का परम मित्र है अतः वह चारुदत्त को प्राणदण्ड से मुक्त कर देता है और दुष्ट शकार को फांसी का आदेश देता है। चारुदत्त राजा को कह कर शकार को भी क्षमा दिला देता है। अन्त में चारुदत्त के साथ वसन्तसेना का विवाह सम्पन्न होता है[2]।

भास, कालिदास और शूद्रक के उपर्युक्त रूपकों में सामान्यरूप से तत्कालीन समाज के विभिन्न रूपों का चित्रण हुआ है जिसके आधार पर उस समय की सामाजिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। नाटकों में समाज-चित्रण के विविध रूपों के अन्तर्गत परिवार पर ही विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में एक ओर प्रचुर वैभव से सम्पन्न राज-परिवार था तो दूसरी ओर अनेक अभावों से ग्रस्त सामान्य परिवार। राज-परिवार का आवास, वेशभूषा, खान-पान, मनोरंजन आदि सभी विशिष्ट प्रकार के होते थे। सामान्य परिवारों के रहन-सहन का स्तर सामान्य कोटि का था। इन परिवारों में संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली प्रचलित थी।

समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था एवं अनेक सामाजिक वर्गों से भी उस काल के समाज की स्थिति का परिचय मिलता है। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—चार वर्गों में विभक्त था। इन वर्गों के अतिरिक्त समाज में सामान्यतः अनेक वर्ग-भेदों की सत्ता थी। राजा-प्रजा, गृहस्थ-संन्यासी, धनी-निर्धन, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक आदि ऐसे ही वर्ग-भेद थे।

नारी भी समाज का एक प्रमुख अंग थी। माता, प्रेयसी, पत्नी, गृहिणी आदि के विविध रूपों में वह अपने कर्त्तव्य का सम्यक् निर्वाह करती थी। धार्मिक कार्यों के सम्पादन में भी उसका विशेष महत्त्व था, इसीलिए उसे सहधर्मिणी, धर्मपत्नी आदि नामों से अभिहित किया जाता था। समाज में विधवाओं का सम्मान नहीं था। पति

---

१. आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानं च रक्षता।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः। मृच्छ० १०.५१

२. आर्ये ! वसन्तसेने ! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति। मृच्छ०, अंक १०, पृ० ५९८

की मृत्यु के पश्चात् यद्यपि उनका जीवन त्याग और तपोमय होता था पर समाज उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से ही देखता था।

आलोच्य नाटकों में तत्कालीन समाज के रहन-सहन का भी चित्रण मिलता है। राजा तथा अन्य धनी व्यक्ति ऋतु के अनुकूल सुविधाओं से परिपूर्ण आवास-गृहों में रहते थे। उनका भोजन भी विविध प्रकार के सुस्वादु और पौष्टिक पदार्थों से युक्त होता था। धनी लोग प्रायः आमिषभोजी थे। इनके विपरीत सामान्य लोग साधारण कोटि के घरों में रहते थे और उनका भोजन सादा और निरामिष होता था।

समाज में शिक्षा का महत्त्व भी कम नहीं था। गुरुकुल शिक्षा-केन्द्र थे, जिनमें रह कर विद्यार्थी अनेक प्रकार की शिक्षाएँ प्राप्त करते थे। विद्यार्थियों का जीवन सादा और स्वावलम्बी होता था। वैसे तो वालक की अनौपचारिक शिक्षा माता-पिता के उपदेशों के रूप में घर से ही प्रारम्भ हो जाती थी, पर व्यवस्थित शिक्षा गुरुकुलों में ही दी जाती थी।

धार्मिक दृष्टि से समाज में प्रमुखतः ब्राह्मण-धर्म, वैष्णव-धर्म तथा बौद्ध-धर्म का प्रचार था। समाज में अनेक दार्शनिक मान्यताएँ प्रचलित थीं जिनमें ब्रह्म, जगत्, जीव, कर्म, पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त प्रमुख थे।

समाज में प्रचलित कृषि, वाणिज्य, व्यापार, विनिमय, उद्योग एवं विभिन्न व्यवसायों के द्वारा समाज की आर्थिक स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। जीविकोपार्जन के साधनों में कृषि, व्यापार एवं गोपालन प्रमुख थे।

विवेच्य नाटकों के आधार पर तत्कालीन समाज के राज-नीतिक वातावरण का भी अनुमान लगाया जा सकता है। उस समय राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित थी। राजा न्याय और व्यव-स्था का प्रतीक होता था। न्यायी एवं योग्य शासक लोकप्रिय हुआ करते थे।

उस समय के कलाकौशल को देख कर समाज के सुख और शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने का अनुमान लगाया जा सकता है।

वास्तुकला, मूर्त्तिकला, चित्रकला, संगीतकला एवं साहित्यकला—ये सभी विद्याएँ उस समय उन्नत रूप में विद्यमान थीं। लोग प्रायः कला-प्रेमी होते थे।

नाटकों में चित्रित समाज के इन विविध रूपों का सविस्तर विवेचन आगे के अध्यायों में प्रस्तुत किया जायगा।

३

परिवार

पिछले अध्याय में आलोच्य नाटकों में चित्रित समाज के विविध रूपों को जिन शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है, उनमें से परिवार की यहाँ सविस्तर विवेचना की जाती है।

'परिवार' शब्द संस्कृत की 'परि' उपसर्गपूर्वक 'वृ०' धातु से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ है 'समूह' या संगठन। इस शाब्दिक अर्थ के

परिवार

आधार पर परिवार व्यक्तियों का सबसे छोटा और महत्त्वपूर्ण संगठन है। यह विशाल समाज का घटक या मूल है। समाज-शास्त्रियों की समाजपरक विवेचना के अनुसार यह समाज की अनिवार्य इकाई है। समाज के संगठित स्वरूप एवं सुसंचालन में परिवार ही सहयोग देता है। सामाजिक सुदृढ़ता और सुव्यवस्था पारिवारिक सुदृढ़ता और सुव्यवस्था पर अवलम्बित है। इस प्रकार समाज-विकास परिवार से ही प्रारम्भ होता है।

परिवार-निर्माण के मूल में भारतीय संस्कृति की समन्वय-भावना ही क्रियाशील है। समन्वय भारतीय संस्कृति का प्राण है। संस्कृति की आत्मा सर्वांगीण विकास की साधिका है। इसने विभिन्न जाति, धर्म एवं संस्कृति के विरोधी तत्त्वों को बड़े प्रेम एवं आदर से गले लगा कर अपने में समाहित किया है। भारतीय संयुक्त-परिवार का यही आधार है। विरुद्ध गुण एवं प्रकृति वाले व्यक्तियों के स्नेह-मय एवं विश्वासपूर्ण सम्बन्ध का नाम ही परिवार है।

प्राचीन समाज-व्यवस्था के आधारभूत परिवार को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—राज-परिवार एवं इतर-परिवार या सामान्य-परिवार।

प्राचीन समाज में राज-परिवार का अपेक्षाकृत विशिष्ट एवं गौरवपूर्ण स्थान था। जनता में उसको विशेष सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उसको जीवन की सामान्य एवं दैनिक सुविधाओं के साथ-साथ भोग-विलास के सभी साधन उपलब्ध थे[1]। राज-परिवार की जीवन-पद्धति सुख-समृद्धि की परिचायिका होती थी। उसकी वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान, आवास-निवास सभी से वैभव एवं ऐश्वर्य परिलक्षित होता था[2]।

राज-परिवार

राज-परिवार की उसके गौरव एवं प्रतिष्ठानुसार कुछ परम्पराएँ एवं मर्यादाएँ थीं। राज-प्रासाद में प्रत्येक अभ्यागत को पहले द्वारपाल या प्रतिहारी द्वारा राजा को सूचना भेजनी पड़ती थी और राजा की अनुमति प्राप्त होने पर ही उसे प्रवेश मिलता था[3]। अन्तःपुर में तो विशेष रूप से आगन्तुकों का प्रवेश वर्जित था। कंचुकी जैसे विश्वास-पात्र और वयोवृद्ध अनुचर ही राजकीय अन्तःपुर में प्रवेश कर सकते थे[4]।

राज-परिवार की परम्पराएँ

कन्यान्तःपुर में अमात्य की ओर से विश्वस्त रक्षकों का प्रबन्ध रहता था[5]। राज-परिवार में पर्दा-प्रथा प्रचलित थी। रानियाँ कंचुक

---

१. अपास्य भोगान् मां चैव श्रियंच महतीमिमाम्।
मानुषे न्यस्त हृदया नैव वश्यत्वमागता॥—प्रतिज्ञा०, २.१२

२. (क) अहो, राजकुलस्य श्री—अवि०, अंक ३, पृ० ७५
(ख) अहो, रावणभवनस्य विन्यासः।—अभिषेक०, अंक २, पृ० २६
(ग) अये ! कथं दीपिकावलोकः। (विलोक्य) अये रावणः।
—अभिषेक०, अंक २, पृ० ३१

३. जयतु, जयतु देवः। एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः कण्वसंदेशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः प्राप्ताः। श्रुत्वा देवः प्रमाणम्।
—अभि० शा०, अंक ५, पृ० ८१

४. आचार इत्यवहितेन मया गृहीता या वैत्रयष्टिरवरोधगृहेषु।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता प्रस्थान विक्लवगते खल्ववलम्बनार्थम्।
—अभि० शा०, ५. ३

५. राजपुरुषाः। अमात्यः प्रस्थित इति कश्चिदमात्यभृत्यः कन्यापुररक्षणार्थं नाभ्यागतः। —अवि०, अंक ४, पृ० ६३

से आवृत्त शिविका या प्रवहण में बैठ कर विहारार्थ या देव-दर्शन के लिए जाती थीं। यज्ञ, विवाह, विपत्ति और वन में रानियों का दर्शन निर्दोप समझा जाता था[१]। कन्या-दर्शन सदैव निर्दुष्ट माना जाता था। अतः राजकुमारियों की शिविका का कंचुक हटा दिया जाता था[२]। राजा और उसके परिवार-जन जहाँ कहीं जाते थे वहाँ परि-चारक-गण अंगरक्षक के रूप में उनके साथ रहते थे[३]। राजाओं के लिए मर्यादा-पालन अत्यन्त आवश्यक था। मर्यादा का उल्लंघन करने पर समाज और परिवार में उनकी निन्दा होती थी। 'मालविकाग्नि-मित्र' में राजा अग्निमित्र जब मालविका से प्रेम कर अपने राजगौरव के प्रतिकूल आचरण करता है तो राजमहिषियाँ उसे अपना पति तक कहना स्वीकार नहीं करतीं[४]।

अन्तःपुर में महारानी से मिलने जाते समय रिक्त हाथ जाना उचित नहीं समझा जाता था। खाली हाथ जाना महारानी के अनादर का प्रतीक था। भगवती कौशिकी महारानी धारिणी से मिलने जाते समय उनकी प्रतिष्ठार्थ एक विजौरिया नींवू ही भेंट करने के लिए ले जाती है[५]।

राज-परिवार का केन्द्र-विन्दु राजा था। परिवार में उसका ही प्रभुत्व रहता था। समस्त पारिवारिक सदस्य यथा राजमहिषियाँ,

---

१. स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतद् वाष्पा कुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः
निर्दोपदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च।

—प्रतिमा, १.२०

२. तत्रभवती वासवदत्ता नाम राजदारिका कन्यकादर्शनं निर्दोपमिति कृत्वाऽपनीत कंचुकायां शिविकायाम्।—प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ६३

३. (क) ततः प्रविशति रावणः सपरिवारः।—अभिषेक०, अंक २, पृ० ५१
(ख) ततः प्रविशति देवी सपरिवारा।—प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ० ५१

४. ततः सा देव्या पृष्टा। किन्ववलोकितो वल्लभजन इति। तयोक्तम्। मन्दो व उपचारः यत्परिजने संक्रान्तं वल्लभत्वं न ज्ञायते।

—माल०, अंक ४, पृ० ३१५

५. सखि भगवत्याज्ञापयति। अरिक्तपाणिनाऽस्मादृशजनेन तत्रभवती देवी द्रष्टव्या। तद्बीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामीति।—माल०, अंक ३, पृ० २६०

परिवार में राजा का स्थान

राज-पुत्र, राज-कन्याएँ आदि उसका अत्यन्त सम्मान करते थे। राज-महिषियाँ तक राजा के आगमन पर अभ्यर्थनार्थ खड़ी हो जाती थीं। 'मालविकाग्निमित्र' के चतुर्थांक में देवी धारिणी पाँव के व्रणपीड़ित होने पर भी राजा के आने पर औपचारिकतावश उठना चाहती है[1]। परिवार में राजा की इच्छा ही सर्वमान्य होती थी। परिवार के लोग उसकी इच्छा के समक्ष अपनी भावनाओं तक का दमन कर डालते थे। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरूरवा की रानी तथा 'मालविकाग्निमित्र' में देवी धारिणी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। पुरूरवा की रानी अपने सुख का बलिदान करके पति की प्रेयसी एवं भावी महिषी उर्वशी के साथ बड़े प्रेम से रहने की प्रतिज्ञा करती है[2]। देवी धारिणी अपने लिए सपत्नी लाकर भी मनोरथ को सफल करती है[3]। 'प्रतिमा नाटक' में राम अपने पिता की प्रतिज्ञा की रक्षार्थ चीरधारी बनकर वनवास के लिए प्रस्थान करते हैं[4]।

राजा भी अपने परिवार-जन के साथ स्नेहमय सम्बन्ध रखता था। राजा अपनी महिषियों से अत्यन्त प्रेम करता था[5] और उन्हें यथोचित सम्मान प्रदान करता था। पारिवारिक समस्याओं में राजा रानी से परामर्श भी लिया करता था। 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' में राजा महासेन पुत्री वासवदत्ता के वर-निर्णयार्थ रानी को परामर्श के लिए

---

१. परिव्राजिका—अत्र भगवान् विदिशेश्वरः सम्प्राप्तः।
धारिणी—(अहो भर्ता) (इत्युत्थातुमिच्छति)।
—माल०, अंक ४, पृ० ३१८

२. एषाहं देवतामिथुनं रोहिणीमृगलांछनं साक्षीकृत्यार्यपुत्रमनुप्रसादयामि अद्य प्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य समागमप्रणयिनी तया सह प्रतिबन्धेन वर्तितव्यम् इति। —विक्र०, अंक ३, पृ० २०५

३. प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम्।—माल०, ५.१९

४. प्रतिमा नाटक, अंक १, पृ० ३१-४६

५. सखि प्रियकलत्रो राजर्षिः। न पुनर्हृदयं निवर्तयितु शक्नोमि।
—विक्र०, अंक ३, पृ० २०६

सभा-भवन में बुलवाते हैं[1]। रानी के मन के विरुद्ध या राज-मर्यादा के विपरीत कार्य करने पर उसे भय भी रहता था। प्रजाजन के समान पारिवारिक सदस्यों के प्रति भी राजा कर्त्तव्यनिष्ठ रहता था। पारिवारिक उत्तरदायित्व के प्रति वह उदासीन नहीं था। सन्तान की समुचित शिक्षा-दीक्षा और भावी उन्नति के प्रति उसका सदा ध्यान रहता था। राजपुत्रों के लिए राजोचित एवं रुच्यनुकूल विषयों के शिक्षण का प्रबन्ध किया जाता था। राजकुमार विभिन्न विषयों में पारंगत्व प्राप्त करते थे[2]। राज-कन्याओं के शिक्षण की भी समुचित व्यवस्था राज-परिवार में थी[3]। प्रजा-पालन के दुष्कर कर्त्तव्य में रत रहने पर भी राजा को अपनी कन्याओं के संरक्षण एवं विवाह[4] की उतनी ही चिन्ता थी, जितनी एक सामान्य गृहस्थ को।

यौवराज्याभिषेक

राजकुमार के युवराज-पद पर प्रतिष्ठित होने के महोत्सव को यौवराज्याभिषेक[5] कहा जाता था। जब राजपुत्र वर्म-कवच[6] धारण करने योग्य हो जाता था तभी उसे युवराज-पद पर अभिषिक्त किया जाता था। युवराज बनने से पूर्व वह केवल 'कुमार[7]' संज्ञा से अभिहित होता था। अभिषेकोचित धार्मिक कृत्यों

---

१. दुहितुः प्रदानकाले दुःखशीला हि मातरः। तस्माद् देवी तावदाहूयताम्।
—प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ ५०

२. अर्थशास्त्रगुणग्राही ज्येष्ठो गोपालकः सुतः।
गान्धर्वद्वेषी व्यायामशाली चाप्यनुपालकः॥ —प्रतिज्ञा०, २.१३

३. राजा—वासवदत्ता क्व ?
देवी—उत्तरायाः वैतालिकयाः सकाशे वीणां शिक्षितु नारदीयां गतासीत्।
—प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ ५२

४. अतः खलु चिन्त्यते।
कन्यायाः वरसम्पत्तिः पितुः (प्रायः) प्रयत्नतः।
भाग्येषु शेषमायत्तं दृष्टपूर्वं न चान्यथा॥ —प्रतिज्ञा०, २.५

५. रम्भे। उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः।
—विक्र०, अंक ५, पृ० २५५

६. गृहीतविद्यः आयु साम्प्रतं कवचहरः संवृतः। —विक्र०, अंक ५, पृ० २४८

७. देखिये, पादटिप्पणी नं० १

तथा संस्कारों से यौवराज्य श्री[1] कुमार को प्राप्त हो जाती थी। अभिषेक-विधि का उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय' के पंचम अंक में वर्णित पुरूरवा के पुत्र आयु के यौवराज्याभिषेक के समय मिलता है[2]। श्रेष्ठ और विद्वान् ब्रह्मर्षि अभिषेक कर्म का सम्पादन करता था। उसके आदेशानुसार कुमार को भद्रपीठ[3] पर बैठाया जाता था। फिर वह अभिमंत्रित जल से परिपूर्ण कलश[4] से उसका अभिषिंचन करता था। संस्कार की शेष विधि दूसरे व्यक्ति सम्पादित करते थे[5]। इसके बाद कुमार यथाक्रम गुरुजनों का अभिवादन करता था[6]। फिर वैतालिक-द्वय 'विजयतां युवराज'[7] कहकर उसको आशीर्वाद देकर उसके पूर्वजों का काव्यमय गुणानुवाद करते थे[8]।

राजकुमार को इस प्रकार युवराज-पद पर प्रतिष्ठित करने का उद्देश्य उसको राज्य-संचालन के लिए पहले से प्रशिक्षित करना होता था, जिससे वह राजा के वृद्ध होने पर, राज्य के गुरुतर भार को वहन करने में समर्थ हो सके[9]। युवराज राजा को अनेक कार्यों में सहायता देकर उसके शासन-भार को हलका करता था। उसके सहयोग से शासन-प्रवन्ध में सुव्यवस्था आ जाती थी और उसे स्वयं को राजा के निरीक्षण में शासन-कार्य का अच्छा अनुभव हो

---

१. आयुषो यौवराज्यश्री स्मारयत्यात्मजस्य ते।
अभिषिक्त महासेनं सेनापत्ये मरुत्वता॥ —विक्र०, ५.२३

२. विक्र०, अंक ५, पृ० २५५-२५७

३. उपवेश्यतामायुष्मान्भद्रपीठे।—विक्र०, अंक ५, पृ० २५५

४. नारद—(कुमारस्य शिरसि कलशमावर्ज्य)।—विक्र०, अंक ५, पृ० २५५

५. रम्भे। निवर्त्यतां शेषो विधिः।—विक्र०, अंक ५, पृ० २५५

६. वत्स! प्रणम भगवन्तं पितरौ च।—विक्र०, अंक ५, पृ० २५५

७. वैतालिकौ—विजयतां युवराज।—विक्र०, अंक ५, पृ० २५५

८. वैतालिक—तव पितरि पुरस्तादुन्नतानां स्थितेऽस्मिन्
स्थितमति च विभक्ता त्वय्यानकम्पधैर्ये।
अधिकतरमिदानीं राजते राजलक्ष्मीः
हिमवति जलौघे च व्यस्ततोयेव गंगा।
—विक्र०, ५.२२

९. देखिये, भगवतशरण उपाध्याय: कालिदास का भारत, भाग १, पृ० १५२

जाता था। इस प्रकार राजकुमार को युवराज बनाना एक प्रकार से उसके राज्याभिषेक का ही उपक्रम होता था।

राजकुमार को युवराजपद पर अधिष्ठित करने के लिए जिस प्रकार यौवराज्याभिषेक होता था वैसे ही राज्यारोहण के अवसर पर राज्याभिषेक किया जाता था। राजा

राज्याभिषेक

वृद्धावस्था आने पर प्रायः पुत्र को राज्याभिषिक्त कर उसको राज्य व कुटुम्ब का भार सौंप कर वन में तपस्या करने चले जाते थे[1]। राज्याभिषेक के समय राजा के आदेशानुसार अमात्य-परिषद् अभिषेक-सामग्री का आयोजन करती थी[2]। राज्याभिषेक विधिपूर्वक सम्पन्न किया जाता था।

सर्वप्रथम राजा, उपाध्याय, आचार्य तथा प्रजा, सभी की उपस्थिति में एक छोटा-सा समारोह होता था जिसमें राजा युवराज को गोद में बैठा कर स्नेहपूर्वक कहता था, "बेटा! यह राज्यभार स्वीकार करो"[3]। युवराज की मौन स्वीकृति पर राजा स्वयं चामरयुक्त छत्र सँभालता था[4] और अभिषेक की प्रसन्नता में चारों ओर पटहादि[5] मंगलवाद्य गूंजने लगते थे। राजपुत्र के हाथ में मंगल-सूत्र बांधकर उसे भद्रासन पर बैठाया जाता था[6]। मुनियों द्वारा विभिन्न नदियों से

---

१. राज्ये स्वामभिषिच्य मन्त्रपवनैर्भागम् कृतार्था. प्रजाः
　　कृत्वा स्वसमाहृतान् समानविभवान् कुर्वत्स्वनः सन्ततम्
　इत्यादिश्य च तौ, तपोवनमितो गन्तव्यमित्येतया··· —प्रतिमा०, २.१६

२. लातव्य । मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि संभ्रियतामायुष्मतो राज्याभिषेक इति ।
　　विक्र०, अंक ५, पृ० २५२

३. राम: —श्रूयताम् ! अद्यास्मि महाराजेनोपाध्यायामात्यप्रकृतिजनसमक्षमेकप्रकारसंक्षिप्तं कोसलराज्यं कृत्वा बाल्यात्प्रस्तानङ्कमारोप्य मातृगोत्रं स्निग्धमाभाष्य पुत्र राम ! 'प्रतिगृह्यतां राज्यम् ।' —प्रतिमा०, अंक १, पृ० २७

४. छत्रे स्वयं नृपतिना रुदता गृहीते । —प्रतिमा०, १.७

५. आरब्धे पटहे । —प्रतिमा०, १.५

६. येनाहं कृतमंगलप्रतिसरो भद्रासनारोपितो,
　　ऽप्यम्बायाः प्रियमिच्छता नृपतिना भिन्नाभिषेकः कृतः ।
　　—अभि०, ६.२४

लाये हुए तीर्थोदक से परिपूर्ण हेम-कलशों से—जिनमें दर्भ, कुसुमादि डाल दिये जाते थे[1] —उसका अभिषेक-संस्कार होता था। अभिषेक के पश्चात् वह प्रकाशमान् मुकुट धारण कर 'नृप' अभिधा से विभूषित होता था। प्रजा नवशशि के सदृश अपने नूतन राजा का जय-जयकार कर उठती थी[2]। मित्र, बन्धु और अनुचरगण उसको राजा होने की बधाई देते थे[3]। इसके पश्चात् उसको रथ पर बिठाकर नगर-परिभ्रमण के लिए ले जाया जाता था। अभिषेक-महोत्सव के अवसर पर एक सामयिक अभिनय[4] का भी आयोजन किया जाता था, जिसमें नट अपनी कला प्रदर्शित करते थे। राज्याभिषेक का आयोजन अन्य राजकीय उत्सवों और समारोहों की तरह केवल मनोरंजन के लिए नहीं वरन् राजा प्रजा के दैवी सम्बन्ध को सुदृढ़ बनाने के लिए होता था। इसमें राजा को पद-गौरव के साथ-साथ प्रजा-पालन के महान् उत्तरदायित्व को भी वहन करना पड़ता था। राजपद प्राप्त करने पर भी जब तक राजा प्रजा का न्यायपूर्वक पालन नहीं करता था तब तक वह यथार्थतः 'राजा' नहीं समझा जाता था। जिस प्रकार सूर्य सदा रथ में अश्वों को जोते रहता है और वायु निरन्तर प्रवाहित रहती है, उसी प्रकार अनवरत प्रजा-रक्षण में रत राजा ही नृपत्व को सार्थक करता था।

राजमहिषी

राजकुल में बहुविवाह-प्रथा प्रचलित थी। यह प्रथा राज-वैभव एवं राज्य-गौरव को सूचित करती थी। राजा की अनेक महिषियाँ या पत्नियाँ होती थीं[5]। 'स्वप्नवासवदत्त' में तो राजा महासेन की षोडश रानियों का उल्लेख मिलता है। रानियों

---

१. न्यस्ताः हेममयाः सदर्भकुसुमास्तीर्थाम्बुपूर्णाः घटाः।—प्रतिमा०, १.३

२. अधिगतनृपशब्दं धार्यमाणातपत्रं विकसितकृतमौलिं तीर्थतोयाभिषिक्तम्।
गुरुमधिगतलीलं वन्द्यमानं जनोघैः नवशशिनमिवार्यं पश्यतो मे न तृप्तिः॥
—प्रतिमा०, ७.१२

३. विभीषणो विज्ञापयति। सुग्रीवनीलमैन्दजाम्बवद्धनूमत्प्रमुखाश्चानुगच्छन्तो विज्ञापयन्ति—दिष्ट्या भवान् वर्धते इति। —प्रतिमा; अंक ७, पृ० १८३

४. सारसिके! सारसिके! संगीतशालां गत्वा नाटकीयानां विज्ञापयकालसंवादिना नाटकेन सज्जा भवेतिति। —प्रतिमा; अंक १, पृ० ३

५. परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे —अभि० शा०, ३.१८

में जेयष्ठ और राजा की प्राणवल्लभा महाराजमहिषी के पद को विभूषित करती थी। महाराजमहिषी के लिए 'महादेवी[1]' और 'देवी[2]' शब्दों का प्रयोग होता था और अन्य राजमहिषियों को 'भट्टिनी[3]' की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। पाणिनि प्रधान रानी को 'महिषी' लिखते हैं और अन्य रानियों को प्रजावती[4]। राजा या युवराज की माता राजमाता पद की अधिकारिणी होती थी। अन्तःपुर में महाराज-महिषी का ही एकच्छत्र शासन होता था। वहाँ सम्राट् तक का अधिकार नहीं था। 'मालविकाग्निमित्र' में इरावती[5] आदि रानियाँ महारानी धारिणी की आज्ञा का ही समर्थन करती हैं।

राजा के सेवक

राज्य के सुप्रवन्ध के लिए राजा के अधीनस्थ सेवकों का एक विशाल वर्ग होता था जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों प्रकार के व्यक्ति समाविष्ट थे। सेवकों के पृथक्-पृथक् कार्य निर्धारित थे जिनके अनुसार उन्हें निम्नांकित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। (क) शृङ्गारसहाय (ख) अर्थचिन्तासहाय (ग) धर्मसहाय (घ) दण्डसहाय (ङ) अन्तःपुरसहाय (च) संवादसहाय।

(क) शृङ्गारसहाय

राजा के सेवक वर्ग के अन्तर्गत शृङ्गारसहायों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ये राजा के अनेक व्यक्तिगत कार्यों में सहायक होते थे 'शृङ्गारसहाय' में विट-चेट, विदूषक, मालाकार, रजक, तमोली और गंधी आदि होते हैं[6]।' इनका प्रमुख कार्य राजा का मनोरंजन करना तथा उसके प्रणय-व्यापार को सफल बनाना होता था। उदाहरणार्थ 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दुष्यन्त का मित्र माढव्य, 'विक्रमोर्वशीय' में पुरूरवा का सहचर माणवक तथा 'प्रतिज्ञायौगन्ध-

---

१. जाते ! भर्तुर्बहुमानसूचक महादेवीशब्दं लभस्व। अभि० शा०, अंक ४, पृ० ६५
२. पक्षपातमत्र देवीमन्यते। अभि० शा०, अंक १, पृ० २७२
३. ननु भट्टिन्यवलोकयतु।—माल०, अंक ३, पृ० ३०२
४. इन्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि—अग्रवाल, पृ० ४०४-५
५. इरावती पुनर्विज्ञापयति—सदृशं देव्याः प्रभवन्त्याः। तव वचनं संकल्पितं न युज्यतेऽन्यथाकर्तुमिति।—माल०, अंक ५, पृ० ३५५
६. श्यामसुन्दरदास एवं बड़थ्वाल : दशरूपक रहस्य, पृ० १०४

रायण' में राजकुमारी कुरंगी की सखी नलिनिका और धात्री राजा के प्रणय-व्यापार को सफल बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। कुरंगी की धात्री उसकी विकलता को देखकर अविमारक के पास जाती है और उसे कन्यापुर में आने का निमन्त्रण दे आती है[1]।

(ख) अर्थसहाय

राजा के दूसरे सहायक वे हैं जिन्हें 'अर्थसहाय' कहा जा सकता है। इनमें तन्त्र अर्थात् राज्य की चिन्ता और आवाप अर्थात् शत्रुराज्य की चिन्ता करने वाले मन्त्री समाविष्ट हैं। राज्य के विस्तार और समृद्धि के लिए तथा शासन-प्रबन्ध के सुचारु संचालन के लिए राजा के पास अनेक प्रत्युत्पन्नमति मन्त्री होते थे। महाभारत,[2] मनुस्मृति[3] आदि ने स्पष्टरूप से मंत्रियों को राज्य की सुव्यवस्था के लिए अनिवार्य माना है। जिस प्रकार एक चक्र से रथ अग्रसर नहीं हो सकता, उसी प्रकार मन्त्रियों के बिना शासन-कार्य नहीं चल सकता। जब साधारण-सा कार्य अकेले व्यक्ति के लिए दुष्कर हो जाता है, फिर शासन-कार्य की क्या कथा ?

राजा की सहायता के लिए विभिन्न शासन-विभागों के मन्त्रियों[4] की एक परिषद् होती थी। यह परिषद् मंत्रि-परिषद्[5] या अमात्य-परिषद्[6] कहलाती थी। राजा शासन-कार्य सम्बन्धी और युद्ध-विग्रह-विषयक विषयों पर परिषद् से परामर्श करता था[7]। मंत्रि-परिषद् विविध राजकीय विषयों पर नीति निर्धारित कर अन्तिम निर्णय के लिए

---

१. योगमिच्छन्त्यावागते स्वः। अनुमत आर्येण योग इति ननु निष्ठितं कार्यमस्माकं राजकुले विविक्ते अवकाशे। तत्रापि कोऽपि जनोऽधिकतरं योगं चिन्तयन्नस्ति। तेन सह तत्रैवार्येण सुष्ठु योगविधानं चिन्त्यतामिति।
—अवि०, अंक २, पृ० ४२

२. महाभारत, ५.३७, ३८

३. मनुस्मृति, ८.५३

४. कार्यान्तरसचिवोऽस्मानुपस्थितः। —माल०, अंक १, पृ० २६६

५. तेन हि मंत्रिपरिषदं ब्रूहि— —माल०, अंक ५, पृ० ३५२

६. ···मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि··· —विक्र०, अंक ५, पृ० २५२

७. (क) अथवा किं भवान्मन्यते। —माल०, अंक १, पृ० २६८
(ख) तदमात्यवर्गेण सह संमन्त्र्य गन्तव्यम्। —अभिषेक, अंक १, पृ० ८

राजा के पास भेजती थी[1]। राजा का निर्णय ही सर्वसम्मति से स्वीकार्य होता था[2]।

राजकीय समस्याओं के अतिरिक्त राजा अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक विषयों में भी मंत्रियों की सलाह लेता था। अविमारक में कुन्तिभोज अपनी पुत्री कुरंगी के विवाह के लिए मंत्रियों से भी मन्त्रणा करता है[3]।

धर्मसहाय में राजा के वे सहायक समाविष्ट होते हैं जो यज्ञ, देवार्चन, विवाह आदि धार्मिक संस्कारों में राजा की सहायता करते थे और उसे धर्म का यथार्थ तथ्य समझाते थे। इनमें उपाध्याय, धर्माध्यक्ष, व्रतविद्, वैतालिक और देवकुलिक आदि प्रमुख हैं।

(ग) धर्मसहाय

उपाध्याय राजगुरु और कुलगुरु के पद को अलंकृत करता था। राजा उसका पितृवत् आदर करता था। मनु[4] के अनुसार वेतन लेकर वेद के कुछ अंश या वेदांगों को पढ़ाने वाला उपाध्याय कहलाता है। धार्मिक या राजनीतिक समस्याओं में भी राजा उपाध्याय या पुरोहित से ही परामर्श लेता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त शकुन्तला के परिग्रहण और परित्याग की द्विविधा में अपने कुल-पुरोहित सोमरात से ही परामर्श लेता है[5]। राज-सभा में आने वाले आश्रमवासी तापसों एवं महर्षियों के आतिथ्य-सत्कार का भार राज-पुरोहित पर होता था[6]।

---

१. अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भगतमनुष्ठेयमनुष्ठितमभूत्। देवस्य तावदभिप्रायं श्रोतुमिच्छामीति। —माल०, अंक ५, पृ० ३५१

२. अमात्यो विज्ञापयति—कल्याणी देवस्य बुद्धिः। मन्त्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम्। —माल०, अंक ५, पृ० ३५२

३. सम्यगुक्तं कौंजायनेन। भूतिक ! सर्वराजमण्डलमपोह्य द्वयोः स्थापितयोः कं प्रति विशेषः। —अवि०, अंक १, पृ० २१

४. एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते। —मनु० २.१४१

५. राजा—(पुरोहितं प्रति) भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि।
—अभि० शा०, अंक ५, पृ० ३२३

६. तेन हि मद्वचनाद्विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः—अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति। —अभि०शा०, अंक ५

राज्याभिषेक के समय भी वही सर्वेसर्वा होता था[१]। वह वेदी पर आसीन होकर युवराज की अभिषेकोचित क्रियाएँ सम्पन्न करता था।

धर्माध्यक्ष धर्म-विभाग का अधिकारी होता था जिसकी नियुक्ति आश्रमवासी तपस्वियों की रक्षा के लिए होती थी। तपस्वियों की तपश्चर्या निर्विघ्न चल रही है या नहीं, उपद्रवी राक्षसों ने उनके तप में वाधा तो नहीं डाली अथवा किसी ने तपोवन के प्राणियों को तो नहीं सताया है—इन सब बातों की देखभाल धर्माधिकारी ही करता था[२]।

ब्रह्मविद् के अन्तर्गत कुलपति कण्व, महर्षि कश्यप, मारीच और भगवान् वसिष्ठ जैसे ब्रह्मज्ञानी आते हैं। ये समय-समय पर राजा को संसार के यथार्थ रूप का ज्ञान कराते थे, जिससे राजा पूर्णरूपेण भोग-विलास में आसक्त न हो जाय। ब्रह्म सम्बन्धी विषयों के साथ लौकिक विषयों में भी ये राजा को सत्परामर्श देते रहते थे। महर्षि कण्व असंसारी और संन्यासी होते हुए भी अपनी पुत्री शकुन्तला[३] को भावी जीवन को आदर्श बनाने के लिए सांसारिक व्यवहार की बातें समझाते हैं।

धर्मसहाय में वैतालिक भी होते थे। वे किसी राजकीय कार्य के लिए नियुक्त न होकर केवल राजा के ऐश्वर्य और मान-प्रदर्शन के लिए नियुक्त किये जाते थे। विशेष अवसरों पर तथा प्रातः-सन्ध्या राजवंश का कीर्त्तन उनका कार्य था। वे समय की सूचना भी देते थे। राजा का जीवन इतना व्यस्त होता था कि राज-कार्य करते हुए उसे अपने भोजन, विश्राम आदि की भी सुध-बुध नहीं रहती थी। इसलिए उसने अपनी जीवन-चर्या विभिन्न प्रहरों में विभक्त कर रखी थी और इन प्रहरों की सूचना वैतालिक देते थे। साथ ही वे राजा को यह भी

---

१. ...सर्वस्यास्य हि मंगलं स भगवान् वेद्यां वसिष्ठः स्थितः।—प्रतिमा०, १.३

२. यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः। —अभि० शा०, अंक १, पृ० १८

३. वत्से! त्वमिदानीमनुशासनीयाऽसि। वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्। —अभि० शा०, अंक ४, पृ० ७५

स्मरण दिलाते थे कि उन प्रहरों में राजा की निश्चित दिनचर्या क्या है[1] ?

(घ) दण्ड-सहाय — दण्ड-सहायक के अन्तर्गत राष्ट्र, नगर और राजकुल की रक्षा के लिए नियुक्त राजकर्मचारी, सेना के प्रमुख सेनापति, बलपति, सैनिक, दण्ड-विभाग अर्थात् न्यायालय के अधिकारी, राजा के अंगरक्षक, मित्र राजा, युवराज, सामन्त आदि आते हैं।

नागरिक[2] या राष्ट्रिय प्रधान दण्ड-सहाय था। वह प्राय: राजा का साला या राजा की उप-पत्नी का भाई होता था। इसीलिए इसे राजश्याल[3] या राष्ट्रिय-श्याल[4] आदि नामों से अभिहित किया जाता था। यह 'श्' बहुल शकारी बोली[5] का प्रयोग करने के कारण शकार भी कहलाता था। यह नगर-रक्षा-विभाग और राज्य का प्रधान पुरुष होता था[6]। इसके अधीन अनेक रक्षक होते थे[7]। राजा की ओर से इसकी नियुक्ति नगर में शान्ति स्थापित करने और दुष्टों के दमन के लिए होती थी। किन्तु कभी-कभी दुष्ट राष्ट्रिय की नियुक्ति भी हो जाती थी, जोकि दुश्चरित्र होने के कारण राज्य में अशान्ति और भ्रष्टाचार फैलाता था और दुष्टों के स्थान पर निर्दोषों को दण्ड दिलवाता था। यह राजश्याल होने के कारण सर्वत्र प्रभुत्व रखता था और अपने को ही राज्य का कर्ता-धर्ता समझता था। 'मृच्छकटिक' में शकार

---

१. आलोकान्तप्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानं।
तुल्योद्योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतो न:
तिष्ठत्येक: क्षणमधिपतिर्ज्योतिषां व्योममध्ये
पष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमहत:। —विक्र०, २.१

२. (तत: प्रविशति नागरिक:) —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ९७

३. कथं मम नयनयोरायासकर इव राजश्याल:। —मृच्छ०, अंक ८, पृ० ३९९

४. अहं राष्ट्रियश्याल: ··· —मृच्छ०, अंक ८ पृ० ४१८

५. भावे भावे, वलिए क्खु अन्धआले माशलाशिपविट्ठा विअ मशिगुडिआ दीशन्दी ज्जेव पणट्टा वशन्तशेणिआ। —मृच्छ०, अंक १

६. भाव भाव, मां प्रवरपुरुषं मनुष्यं वासुदेवकम्।
—मृच्छ०, अंक ८, पृ० ४०३

७. (तत: प्रविशति नागरिक:···रक्षिणौ च।) —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ९७

वसन्तसेना को मार कर अपना अपराध किसी अन्य पर आरोपित करने के लिए विट को कुछ स्वर्ण मुद्रा और कार्षापण देता है[1]। वह निर्दोष चारुदत्त पर वसन्तसेना को मारने का दोष लगा कर उसे न्यायाधीश से मृत्यु-दण्ड दिलवाता है।

सेनापति और बलपति का दण्ड-सहायकों में दूसरा स्थान है। दोनों पुलिस के प्रधान अधिकारी होते थे और अपराधियों और दुष्टों को खोजने के लिए नियुक्त किये जाते थे। सेनापति नगर-रक्षाधिकारी और प्रधान दण्ड-धारक होता था। सेनापति और बलपति राजा के विश्वस्त कर्मचारियों में से होते थे। 'मृच्छकटिक' में वीरक और चन्दनक ऐसे ही पुलिस अधिकारी हैं[2]।

दण्डसहाय में न्याय-विभाग भी एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसमें न्यायालय के सर्वोच्च न्यायाधीश, श्रेष्ठी, सहायक न्यायाधीश, कायस्थ एवं व्यवहार-लेखक आदि परिगणित होते थे[3]। इनका विस्तृत वर्णन अष्टम अध्याय में किया गया है।

(ङ) अन्तःपुर सहाय

राजा के अन्तःपुर में भी कई सेवक होते थे। कंचुकी इनमें प्रधान होता था। यह प्रायः सात्त्विक और वृद्ध ब्राह्मण होता था। कंचुकी नाम सम्भवतः इसलिए पड़ा कि यह कंचुक पहनता था। यह अन्तःपुर की रानियों का प्रधान अंगरक्षक होता था[4]। इसके हाथ में यष्टि रहती थी, जो बैंत की बनी होती थी[5]।

---

१. अर्थान् शतं ददामि सुवर्णकं ते कार्षापणं ददामि सवोडिकन्ते
एवं दोषस्थानं पराक्रमो मे सामान्यको भावतु मनुष्यकाणाम्।
—मृच्छ०, ८.४०

२. मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३४३

३. वही, अंक ९ (सम्पूर्ण)

४. ...सेवाकारा परिणतिरहो स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः। —विक्र०, ३.१

५. आचार इत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था। —अभि० शा०, ५.३

कंचुकी के अतिरिक्त अन्तःपुर के सेवकों में किरात, कुब्ज[1], रानी व राजकन्याओं की सखियाँ और परिचारिकाएँ आती हैं।

(च) संदेशसहाय

संदेशसहाय में दूत भी उल्लेखनीय हैं। दूत किसी कार्य की सिद्धि के लिए संदेश लेकर भेजे जाते थे। उनके तीन भेद किये जा सकते हैं—निःसृष्टार्थ, मितार्थ और संदेशहारक। निःसृष्टार्थ उसे कहते हैं जो भेजने वाले और जिसके पास भेजा जाये, दोनों के मनोभावों को समझकर स्वयं ही उत्तर-प्रत्युत्तर कर कार्य की सिद्धि करता है। मितार्थ मितभाषी होता है, किन्तु कार्य को अवश्य करता है। संदेशहारक उतनी ही बात कहता है जितनी उसे कही जाये। 'दूतवाक्य' में श्रीकृष्ण निःसृष्टार्थ दूत हैं। वह युधिष्ठिर का संदेश लेकर दुर्योधन की राजसभा में जाते हैं और उसका संदेश सुनाते हैं। दुर्योधन के न मानने पर वह स्वयं अपने वाग्वैभव द्वारा समस्या सुलझाने की कोशिश करते हैं। 'दूतघटोत्कच' में घटोत्कच मितार्थ दूत है। ये दूत अवध्य होते थे[2]। इन्हें निर्भय होकर अपने स्वामी का संदेश सुनाने की आज्ञा दी जाती थी। जब घटोत्कच श्रीकृष्ण का संदेश लेकर दुर्योधन के सभा-भवन में जाता है तो दुर्योधन उसे निर्भय होकर श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाने की आज्ञा देता है[3]। चाहे दो राजाओं में परस्पर कितनी ही शत्रुता क्यों न हो उनके दूतों का बड़ा आदर-सम्मान होता था।

राजा की वेश-भूषा

राजा की वेश-भूषा राजपरिवार के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा विशेष साज-सज्जा लिये हुए होती थी। उसके वस्त्राभूषण अन्य पुरुषों के वस्त्राभूषणों से भिन्न और बहुमूल्य होते थे।

---

१. अहो, एष देव्याः परिजनाभ्यन्तरः किमपि जतुमुद्रालांछितां मञ्जूषां गृहीत्वा चतुःशालातः कुब्जः सारसिको निष्क्रामति—माल०, अंक ५, पृ० ३३८

२. (क) दूतः खलु भवान् प्राप्तो न त्वं युद्धार्थमागतः।
गृहीत्वा गच्छ सन्देशं न वयं दूतघातकाः॥

—दूतघटोत्कच, १.४८

(ख) सर्वापराधेष्ववध्याः खलु दूताः। —अभिषेक०, अंक ३, पृ० ५७

३. ···धृष्टं श्रावय मां जनार्दनवचो···। —दूत घटोत्कच, १.३४

उसके वस्त्र अधिकतर रेशमी (क्षौम)[1] होते थे। वह शरीर के ऊपर के भाग को ढकने के लिए उत्तरीय का उपयोग करता था जो श्वेत दुकूल का बना हुआ होता था[2]। उसके सभी आभूषण मणिजडित और स्वर्णमंडित होते थे। आभूषणों में हार[3], केयूर[4] (अंगद), कंकण[5] और अंगुलीयक[6] मुख्य थे। राजा अंगरागादि सुगन्धित द्रव्यों का भी प्रयोग करता था।[7] मुकुट[8], छत्र[9] और चँवर[10] उसके विशेष चिह्न थे। यदि राजा दरबार में सिंहासन पर न बैठ कहीं बाहर भी आ जा रहा हो तब भी उसके साथ छत्र, चँवर, मुकुट अवश्य रहता था। उसके अतिरिक्त राजदण्ड[11] भी उसका चिह्न था।

राजपरिवार के प्रसाधन

आलोच्य नाटकों में राज-प्रासादों के साथ राज-परिवार के प्रसाधनों का भी विशद चित्र मिलता है। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में अन्तःपुर वर्ग की साज-सज्जा और प्रसाधन के लिए 'अन्तःपुरनेपथ्य[12]' का प्रयोग हुआ है। वैसे तो नेपथ्य का अर्थ—'नेपथ्यं स्याज्जवनिका रंगभूमि प्रसाधनम्'[13]। इस लक्षण के अनुसार 'जवनिका' या परदा होता है, किन्तु व्यापक रूप में

---

१. ···स्पृष्ट्वा चैवं युधिष्ठिरस्य विपुलं क्षौमापसव्यं भुजं। —ऊरुभंग, १.५३
२. श्यामो युवा सितदुकूलकृतोत्तरीयः ···। —दूतवाक्य, १.३
३. ···वक्षस्युत्पतितैः प्रहाररुधिरैर्हारावकाशो हृतः। —ऊरुभंग, १.५१
४. पश्येमौ व्रणकांचनांगदधरौ पर्याप्तशोभौ भुजौ। —ऊरुभंग, १.५१
५. अभि० शा०, ६.६
६. अनुसूया— ···अस्ति तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन स्वनामधेयांकितमंगुलीयकम् स्मरणीयामिति स्वयं पिनद्धम् —अभि० शा०, अंक ४, पृ० ६०
७. दूतवाक्य, १.३
८. विक्र०, ४.६७
९. विक्र०, ४.१३
१०. विक्र०, ४.१३
११. अभि० शा०, ५.८
१२. मम कारणादूदेवी मामन्तःपुरनेपथ्येन योजयिष्यतीति। —माल०, अंक ३, पृ० ३००
१३. अमरकोश

यह पात्रों की वेश-भूषा के लिए भी प्रयुक्त होता है। अन्तःपुर-नेपथ्य को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—एक तो अनिवार्य नेपथ्य और दूसरा वैकल्पिक नेपथ्य। प्रथम मानव शरीर की सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है और द्वितीय उपभोक्ता या प्रयोक्ता की इच्छा-अनिच्छा पर आधारित है। १. अनिवार्य नेपथ्य—इसके अन्तर्गत वसन-सामग्री आती है। वसन मानव शरीर की प्राथमिक आवश्यकताओं में परिगणित होते हैं। इसलिए उन्हें शरीर का अंगभूत माना गया है।

प्रासादान्तःपुर में ऋत्वानुसार सूती, ऊनी, रेशमी, तीनों प्रकार के वस्त्रों का उपयोग किया जाता था, लेकिन महीन रेशमी वस्त्र अधिक प्रचलित थे। यहाँ तक कि सूती और ऊनी कपड़ों में भी रेशम का अंश मिला रहता था। कौशेय पत्रोर्ण इसी प्रकार का ऊनी रेशमी वस्त्र है जिसे मालविका विवाह के अवसर पर धारण करती है। वस्त्र के विभिन्न प्रकारों में, क्षौम,[1] दुकूल[2], कौशेय-पत्रोर्ण[3], पत्रोर्ण[4] और अंशुक[5] का उल्लेख हुआ है। क्षौम बहुत महीन और सुन्दर वस्त्र था। यह अलसी की छाल के रेशों से बनता था[6]।

"क्षौम-वस्त्र, जैसाकि इसके नाम से प्रकट है, कदाचित् क्षुमा या अलसी नामक पौधे के रेशों से तैयार होता था। (यह सम्भवतः छालटीन था)। भांग, सन और पाट या पटसन के रेशों से भी वस्त्र तैयार किये जाते थे, पर क्षौम अधिक कीमती, मुलायम और बारीक होते थे। चीनी भाषा में 'छु-म[7]' एक प्रकार की घास के रेशों से तैयार

---

१. क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा मांगल्यमाविष्कृतम्…।
—अभि० शा० ४.५

२. विक्र०, अंक ५, पृ० ३३६; माल०, ५.७

३. गच्छ तावत्। कौशेयपत्रोर्णयुगलमुपनय। —माल०, अंक ५, पृ० ३५६

४. प्रेष्यभावेन नामेयं देवी शब्दक्षमा सती।
स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णं वोपयुज्यते ॥ —माल०, ५.१२

५. विक्र०, ३.१२

६. डा० मोतीचन्द: प्राचीन वेशभूषा, भूमिका, पृ० ५

७. वासुदेवशरण अग्रवाल: हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन, पाद टिप्पणी नं० ५, पृ० ७६

वस्त्रों का प्राचीन नाम था जो वाण के समकालीन थाङ्युग में एवं उससे पूर्व प्रयुक्त होता था। यही चीनी घास भारतवर्ष के पूर्वी भागों (आसाम, बंगाल) में होती थी। अतः क्षौम रेशों से तैयार होने वाला वस्त्र था। यह अवश्य ही आसाम में बनने वाला कपड़ा था क्योंकि आसाम के कुमार भास्कर वर्मा ने हर्ष के लिए जो उपहार भेजे थे उनमें क्षौम वस्त्र भी शामिल थे[१]। यह विवाहादि मांगलिक अवसरों पर प्रयुक्त होता था[२]।

क्षौम के समान दुकूल भी 'दुकूल' वृक्ष की छाल के रेशे से बना करता था[३]। यह नील, लाल, धवल आदि अनेक वर्णों का होता था[४]। इसके विषय में वाण ने लिखा है कि यह पुंड्रदेश (बंगाल) से बन कर आता था[५]। इसके बड़े थान में से काट कर चादर, धोती या अन्य वस्त्र बनाये जाते थे। दुकूल से बने हुए उत्तरीय, साड़ियाँ, पलंगपोश, तकियों के ग़िलाफ़ आदि नाना प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख वाण के ग्रन्थों में आया है। दुकूल शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः कूल का अर्थ देश्य या आदिम भाषा में कपड़ा था जिससे कौलिक शब्द बना है। दोहरी चादर या थान के रूप में विक्रयार्थ आने के कारण यह द्विकूल या दुकूल कहलाया[६]। यह क्षौम, अंशुक आदि वस्त्रों के समान महीन व वारीक वस्त्र न होकर मोटा या गाढ़ा कपड़ा होता था। इसका प्रमाण यह है कि विवाहादि मांगलिक अवसरों पर इसका कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है।

पत्रोर्ण का उल्लेख मालविका के विवाहावसर पर हुआ है[७]। इससे व्यक्त होता है कि यह महीन या वारीक वस्त्र होता होगा। सीताराम चतुर्वेदी की प्रकाशित टीका में ऊर्ण का अर्थ 'ऊन' मिलता है[८]। और ऋग्वेद (१।६७।३) में भेड़ को ऊर्णावती कहा गया है।

---

१. वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७७

२. अभि० शा०, ४.५

३. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेशभूषा, भूमिका, पृ० ८

४. वही, पृ० ८।

५. वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७०

६. वही, पृ० ७६

७. माल०, ५.१२

८. कालिदास ग्रन्थावली, द्वितीय संस्करण, पृ० ३५६

अतः इसका अर्थ ऊनी-वस्त्र भी हो सकता है। डा० मोतीचन्द के अनुसार इसकी रचना नागवृक्ष, लकुच, वकुल और वटवृक्ष की छाल के रेशों से होती थी। इसका रंग क्रमशः गेहुँआ, सफ़ेद और मक्खन का-सा होता था[१]। नागवृक्ष से बना पत्रोर्ण का कपड़ा पीला, लकुच का गेहुँआ, वकुल का सफ़ेद होता था[२]। वासुदेव जी[३] इसे पटोर रेशम मानते हैं। इसे क्षीर स्वामी[४] ने कीड़ों की लार से उत्पन्न कहा है। गुप्तकाल में पत्रोर्ण धुला हुआ बहुमूल्य रेशमी कपड़ा समझा जाता था[५]। डा० मोतीचन्द इसे जंगली रेशम स्वीकार करते हैं[६]।

कौशेय-पत्रोर्ण—यह सम्भवतः कौशेय और पत्रोर्ण दो प्रकार के वस्त्रों से मिलकर बनता था। कौशेय कोशकार देश का बना रेशमी वस्त्र होता था[७] और पत्रोर्ण हमारे विचार से ऊनी वस्त्र का एक प्रकार होता था। अतः कौशेय पत्रोर्ण ऐसा वस्त्र होगा जिसका निर्माण ऊन में कुछ रेशम मिला कर होता होगा।

अंशुक अत्यन्त झीना और स्वच्छ वस्त्र माना गया है[८]। कुछ विद्वान् इसे मलमल समझते हैं[९]। यह दो प्रकार का होता था, एक भारतीय और दूसरा चीन देश से लाया हुआ, जो चीनांशुक कहलाता था। अब प्रश्न उठता है कि वह सूती वस्त्र था या रेशमी। इस विषय में जैन आगम 'अनुयोगद्वार सूत्र' की साक्षी का प्रमाण उल्लेखनीय है। इसमें कीटज-वस्त्र पाँच प्रकार के बताये गये हैं—पट्ट,

---

१. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेशभूषा, भूमिका, पृ० ९
२. वही, पृ० ५५
३. वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ८८
४. 'वकुलवटादिपत्रेपु' कृमिलालोर्णं कृतं पत्रोर्णम्—क्षीरस्वामी।
५. वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७७
६. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेशभूषा, पृ० १४९
७. वही, पृ० ९ (भूमिका)
८. सूक्ष्मविमलेन अंशुकेनाच्छादितशरीरा देवी सरस्वती।
—वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७८
९. वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७८

मलय, अंसुय, चीनांसुय और किमिराग[1]। इससे स्पष्ट है कि यह रेशम के कीड़ों द्वारा निर्मित कोई रेशमी-वस्त्र होता था। यह श्वेत, नील आदि अनेक वर्णों का था। श्वेत रंग के अंशुक को सितांशुक[2] और नीलवर्ण के अंशुक को नीलांशुक[3] कहा जाता था। अभिसारिका-वेश में नीलांशुक ही धारण किये जाते थे[4]।

वस्त्रों के प्रकारों का वर्णन करने के पश्चात् सबसे पहला प्रश्न यही उठता है कि वस्त्र स्यूत होते थे या अनुस्यूत। नाटकों में इसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई संकेत नहीं मिलता। अनुमान यही किया जाता है कि वस्त्र बिना सिले ही पहने जाते थे। 'दुकूल युग्म', 'क्षौम युग्म'[5], 'कौशेय-पत्रोर्णयुगल' जैसे शब्द-प्रयोगों से यही सिद्ध होता है कि शरीर की सुरक्षा के लिए दो वस्त्र प्रयुक्त होते थे—एक निम्न भाग को आवृत करने के लिए, जिसे अधोवस्त्र कह सकते हैं, और दूसरा ऊपर के भाग को ढकने के लिए, जो उत्तरीय[6] कहलाता था। स्तनांशुक[7] भी शारीरिक सौन्दर्य-वृद्धि के लिए पहना जाता था। यह आजकल के ब्लाउज़ की तरह सीया नहीं जाता था वरन् अंशुक जैसे रेशमी वस्त्र के टुकड़े को सामने से ले जा कर पीछे गाँठ बाँध कर उसे स्तनावरक का रूप दे दिया जाता था।

राजकीय प्रसाधनों में वैकल्पिक नेपथ्य का भी उल्लेख हुआ है। इसके अन्तर्गत शरीर को अलंकृत व प्रसाधित करने वाले शृङ्गा-

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र ३७, श्री जगदीशचन्द्र जैन कृत 'लाइफ़ इन एन्शेन्ट इण्डिया ऐज़ डेपिक्टेड इन जैन केनन' पृ० १२६

२. सितांशुका मंगलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वांकुरलांछितालका—विक्र०, ३.१२

३. हला चित्रलेखे ! अपि रोचते तेऽयं मेऽल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेशः। —विक्र०, अंक ३, पृ० १६८

४. विक्र०, अंक ३ पृ० १६८

५. माल०, अंक ५. पृ० ३५६

६. यावद्देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका, मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ११६

७. इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा।
स्नेहप्रस्विनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम्॥ —विक्र०, ५.१२

वैकल्पिक नेपथ्य

रिक उपकरण समाविष्ट हैं। इन उपकरणों में आभूषण, पुष्प, नाना प्रकार के सुगन्धित अवलेपन एवं चूर्ण प्रमुख हैं। नाटकों में भूषण के लिए आभरण[1], अलंकार[2] तथा मण्डन[3] का प्रयोग हुआ है। रानियाँ बहुमूल्य रत्नाभूषण धारण करती थीं। रत्नों में मणि[4], सुवर्ण[5] और मुक्ता[6] का बहुल प्रयोग होता था। शरीर के अवयवानुसार निम्नाभूषण उल्लेखनीय हैं—

कर्णाभूषण

कान के आभूषण के रूप में केवल कर्णचूलिका[7] का वर्णन हुआ है। 'स्वप्नवासवदत्त' के द्वितीय अंक में कन्दुक-क्रीड़ा के समय पद्मावती की कर्णचूलिका कान के ऊपर चढ़ जाती है[8]। इससे सिद्ध होता है कि यह आजकल के झुमके जैसा कान के नीचे तक लटकने वाला आभूषण होता होगा।

कण्ठाभूषण

गले में भी मोतियों और रत्नों के नाना प्रकार के हार पहने जाते थे। हारों में मौक्तिक लम्बक[9], मुक्तावली[10] और एकावली वैजयन्ती[11] प्रमुख थे। मौक्तिक-लम्बक, जैसाकि इसके नाम से ज्ञात होता है, लम्बा हार होता था। उसके

---

१. अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी बहुभिराभरणैर्प्रतिभाति मे। —माल०, ५.७

२. राम—मैथिलि ! किमर्थं विमुक्तालंकारासि।

—प्रतिमा०, अंक १, पृ० २३

३. ...नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्। —अभि० शा०, ४.६

४. मृच्छ०, अंक ४, पृ० २३६

५. सौवर्णिकमिव वल्कलं संवृत्तम्। —प्रतिमा०, अंक १, पृ० १३

६. पाद टिप्पणी नं० ४

७,८. इयं भर्तृदारिका उत्क्षिप्तकर्णचूलिकेन व्यायामसंजातस्वेदबिन्दुविचित्रितेन।

—स्व० वा०, अंक २, पृ० ६७

९. ते कुसुमिताः नाम, प्रवालान्तरितैरिव मौक्तिकलम्बकैराचिताः कुसुमैः।

—स्व० वा०, अंक ४, पृ० ६०

१०. पीनस्तनोपरिनिपातिभिरानयन्ती मुक्तावलीविरचनां पुनरुक्तिमस्त्रैः।

—विक्र०, ५.१५

११. अहो लताविटप एषैकावली वैजयन्ती मे लग्ना। —विक्र०, अंक १, पृ० १६४

मध्य में मोतियों के बीच-बीच में प्रवाल या मूँगे पिरो दिये जाते थे[1]। मोतियों की एक लड़ी माला (मुक्तावली) कहलाती थी। एकावली वैजयन्ती सम्भवत: मुक्तावली जैसा ही एक-लड़ी हार था। गोपीनाथ राव[2] वैजयन्ती को रत्नों के समूहों की उत्तरोत्तर पंक्तियों से बना हार मानते हैं जिसके प्रत्येक रत्न-समूह में पाँच रत्न विशिष्ट क्रम से रखे जाते थे। वे अपने मत की पुष्टि के लिए 'विष्णुपुराण' का प्रकरण प्रस्तुत करते हैं। "वैजयन्ती नामक विष्णु का हार पाँच आकृतियों वाला है, क्योंकि यह पंचभूतों से बना है। यहाँ पंचाकृति से पाँच प्रकार के रत्नों अर्थात् मोती, माणिक्य, पन्ना, नीलम और हीरा का बोध होता है।"

कराभूषण

राजमहिषियों के आभूषण के रूप में केवल अंगुलीयक का उल्लेख मिलता है। यह कई प्रकार की होती थीं। नागादि की मुद्रा बड़ी रहती थी, जिसमें से केसर के समान पीली किरणें फूटती थीं[3] और किसी में रत्न के मध्य व्यक्ति का नाम खुदा रहता था[4]। अंगुलीयक का उपयोग कभी-कभी अधिकार-सूचनार्थ भी होता था[5]।

राजकीय प्रसाधनों में कटि के आभूषणों का भी महत्त्व है। इस

---

१. ते कुसुमिता: नाम, प्रवालान्तरितैरिव मेक्तिरलम्बकैरचिता: कुसुमैः।
—स्व० वा०, अंक ४, पृ० ६०

२. दि हिन्दू इकोनोग्राफ़ी, भाग १, खण्ड १, पृ० २६ तथा भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, पृ० ३२६

३. कुमुदिनी—अहो वकुलावलिका। सखि! देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतं नागमुद्रासनाथमंगुलीयकं स्निग्धं निध्यायन्ती तवोपालम्भे पतितास्मि। अनेनांगुलीयकेनोद्भिन्नकिरणकेसरेण।
—माल०, अंक १, पृ० २६३

४. सखि! यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्ततस्तस्येदमात्म-नामधेयांकितं अंगुलीयकं दर्शय।
—अभि० शा०, अंक ४, पृ० ७६

५. ममांगुलीयकमुद्रिकाम् दृष्ट्वा न भोक्तव्या त्वया हताशा मालविका वकुलावलिका चेति। माल०, अंक ४, पृ० ३१७

वर्ग में मेखला[1], कांची[2] व रशना[3] तीन आभूषण आते हैं। 'मालविकाग्निमित्र' के चतुर्थ अंक में एक ही प्रसंग में इन तीनों का एक-साथ वर्णन हुआ है, इसलिए हमारी दृष्टि में ये एक ही आभूषण के नाना अभिधान प्रतीत होते हैं। श्रीमती गायत्री देवी वर्मा[4] इन तीनों में भेद स्वीकार करती हैं। उनके विचारानुसार कांची, रशना और मेखला सब साथ पहनी जाती थीं। अपने मत के समर्थन में वह डा० मोतीचन्द की 'प्राचीन वेशभूषा' नामक पुस्तक के पृ० नं० ७२ पर दिये गये यक्षिणी के चित्र, जिनमें यक्षिणी भिन्न प्रकार की चार लड़ियों वाली करधनी पहने हुए है—को प्रमाण-स्वरूप उद्धृत करती हैं।

कटि के आभूषण

पदाभूषणों के अन्तर्गत नूपुर[5] का नाम आता है। यह सम्भवतः आधुनिक पायजेब या पायल का ही दूसरा रूप था। इससे चलते समय छनन-छनन का मधुर रव जिसे शिंजन[6] कहा गया है, उत्पन्न होती थी। इसलिए ऐसा अनुमान होता है कि इसमें छोटे-छोटे घुंघरू लगे रहते थे जो शब्द उत्पन्न करते थे। सीताराम चतुर्वेदी ने नूपुर का अर्थ बिछुआ किया है[7]।

पदाभूषण

---

१. शठ इति मयि तावदस्तु ते परिचयवत्यवधीरणा प्रिये।
चरण पतितया न चण्डि ! तां विसृजसि मेखलयापि याचिता॥
—माल०, ३.२०

२. वाप्पसारा हेमकांचीगुणेन श्रोणीबिम्बादप्युपेक्षाच्युतेन।
—माल०, ३.२१

३. (इरावती रशनासंधारितचरणा व्रजत्येव)। —माल०, अंक ३, पृ० ३११

४. कालिदास के ग्रंथों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० २२६-२२८

५. अन्यथा कथं देवी स्वयंधारितं नूपुरयुगलं परिजनस्याभ्यनुज्ञास्यति ?
—माल०, अंक ३, पृ० ३०२

६. मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसाम्
कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरशिंजितम्। —विक्र०, ४.३०

७. कालिदास ग्रंथावली (द्वितीय संस्करण), द्वितीय खण्ड, पृ० ३०६

रनिवास के बहुमूल्य आभूषणों को सुरक्षित रखने के लिए आधुनिक लॉकर (Locker) जैसी एक पेटिका होती थी जिसे आभरण-मंजूषा[1] कहा जाता था।

पुष्प और अवलेपन

आभूषणों के पश्चात् पुष्प प्रमुख शृङ्गारिक उपकरण माने जाते थे। अन्तःपुर की नारियाँ ऋत्वानुकूल[2] पुष्पों से अपने केश और शरीर को अलंकृत करती थीं। पुष्पों का आभूषणों के रूप में भी उपयोग होता था। पुष्पों के अवतंस और हार[3] अधिक प्रचलित आभूषण थे। पुष्प और पुष्प-मालाओं से शृङ्गार करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है और साहित्य में भी इसका पर्याप्त उल्लेख मिलता है। जातक-ग्रन्थों[4] में पुष्प-मालाओं और पुष्पाभरणों का उल्लेख मिलता है। (प्रसाद ने भी पुष्पाभरणों का उल्लेख किया है)[5]। अवलेपनों के अन्तर्गत रक्त-चन्दन[6], अलक्तक[7], कालागुरु चन्दन[8], ओष्ठ राग[9] आदि अवलेपन का प्रयोग शीतलता और सुगन्धि के लिए होता था।

आलोच्य नाटकों में राजप्रासाद का भी भव्य वर्णन मिलता है।

---

१. (अ) पुत्रविजयनिमित्तेन परितोषेणान्तः पुराणामारणानां मंजूषास्मि संवृत्ता। —माल, अंक ५, पृ० ३५५

२. अत्र ह्यजानता परिजनेन मम परितोषनिमित्तं वकुलसरलसर्जार्जुनकदम्ब-नीपनिचुलप्रभृतीनि मेघकालवल्लभानि परमसुरभीण्यानीयमानानि मामुन्मादयन्ति। —अवि०, अंक ५, पृ० १२२

३. भर्तृदारिकायै सुमनोर्णकं मया रोचते। —अवि०, अंक ४, पृ० ८५

४. गुत्तिलजातक, २.१०. १४३

५. राज्यश्री, १.११, १.१३, १.१४

६. देव ! प्रवातशयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा···तिष्ठति। —माल०, अंक ४, पृ० ३१७

७. चारुपदपंक्तिरलक्तकांका। — विक्र०, ४.१६

८. ···कालागुरुचन्दनार्द्रा···। —अविमारक, ५.१

९. हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिः ···। —विक्र०, ४.१७

राज-प्रासाद के लिए नाटकों में राजकुल[1], नृप-भवन[2], नृप-गृह[3], आदि अभिधानों का प्रयोग हुआ है। राज-भवन

राज-प्रासाद

सामान्य गृहों और सार्वजनिक इमारतों की तुलना में एक निराली ही शान रखता था। इसकी अनोखी ही श्री होती थी[4]। यह अत्यन्त विशाल और उन्नत होता था। इसमें इतनी मंज़िलें होती थीं कि यह गगन को स्पर्श करता हुआ प्रतीत होता था[5]। इसके दो प्रमुख विभाग थे—एक तो अन्तर्भाग और दूसरा बहिर्भाग। अन्तर्भाग में अन्तःपुर या राजकीय हर्म्य होता था और बहिर्भाग में राज-प्रासाद और सभा-भवन आदि होते थे।

अन्तःपुर राजमहिषियों के निवास और विहार का स्थल होता था। यह राजप्रासाद से पृथक् होता था। इसमें महिषियों के लिए पृथक्-पृथक् प्रासाद या कक्ष होते थे। अन्तःपुर से सम्बद्ध एक विहारोद्यान होता था जो 'प्रमद-वन' कहलाता था। यहाँ राजा-रानी एकान्त में प्रणय-लीला करने आते थे[6]। कभी-कभी राजा अपनी प्रेयसी के विरह में व्याकुल होकर व्यथापनोदन के लिए यहाँ आता था[7]। वैसे तो प्रमद-वन का मार्ग अन्तःपुर से ही सम्बद्ध होता था, किन्तु राजा के लिए एक गुप्त मार्ग[8] भी होता था। राजा रानियों के भय से अपनी प्रियतमा से मिलने के लिए इसी मार्ग से प्रमदोद्यान में जाता था।

---

१. अहो राजकुलस्य श्रीः। —अवि०, अंक ३, पृ० ७५
२. …नृपभवनमिदम्…… । —अवि०, ३.१३
३. चिराद् रात्रौ शान्तं सह कमलषण्डैर्नृपगृहम्। —अवि०, ३.१४
४. देखिये, पादटिप्पणी नं० १
५. विपुलमपि मितोपमं विभागा-
न्निविडमिवाभ्युदितं क्रमोच्छ्रयेण।
नृपभवनमिदं सहर्म्यमालं
जिगमिषतीव नभो वसुन्धरायाः। —अवि०, ३.१३
६. बन्धनमिदानीं प्रमदवनं संभाव्य प्रवृत्तो रागलीलां कर्तुम्।
—प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ६५
७. विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति। तद्भवान्प्रमदवनमार्गमादेशयतु।
—विक्र०, अंक २, पृ० १७२
८. मां गूढेन यथा प्रमदवनं प्रापय। —माल०, अंक ४, पृ० ३२२

'मालविकाग्निमित्र' के चतुर्थ अंक में राजा धारिणी और इरावती के भय से चोर-मार्ग द्वारा वन में जाता है। प्रमद-वन में नाना प्रकार के पुष्पों और फलों से लदे हुए वृक्षों वाले कुंज होते थे[1]। आँधी, पानी और धूप से बचने के लिए इसमें लता-मण्डप होते थे जिनमें विश्रामार्थ शिलापट्ट बनाये जाते थे[2]। आजकल भी गृहोद्यानों में संगमरमर या पत्थर की पट्टियाँ लगाई जाती हैं। पशु-पक्षियों के कलरव से वन सदा गुंजित रहता था[3]। भगवतशरण जी के शब्दों में सम्भवतः प्रमद-वन में चिड़ियाघर भी होते थे[4]। यहाँ मनोविनोदार्थ पशु-पक्षियों के चित्रों से चित्रित कृत्रिम क्रीडापर्वतों[5] का भी निर्माण किया जाता था। नानाविध जलचरों से परिपूर्ण दीर्घिकाएँ[6] और वारिकणों को चतुर्दिक फैलाने वाले वारियन्त्र[7] वन-लक्ष्मी की श्री में चार चाँद लगाते थे। वसन्त मास में तो प्रमदवन यथार्थ में अपनी अभिधा को सार्थक करता था। वसन्त-लक्ष्मी मानों कामियों को लुभाने के लिए षोडश शृङ्गार के साथ बाहर निकलती थी[8]।

---

१. अहो प्रमदवनसमृद्धि। इह हि···

+ + +

···नित्यं पुष्पफलाढ्यपादपयुता देशाश्च दृष्टा मया···।—अभि०, २.६

२. एष मणिशिलापट्टकसनाथोऽतिमुक्तलतामण्डपो···।

—विक्र०, अंक २, पृ० १७४

३. ऊष्णालुशिशिरे निषीदति तरोर्मूले शिखी
निर्भिद्योपकर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पंजरशुकः क्लान्तो जलं याचते। —विक्र०, २.२३

४. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग २, पृ० ४७

५. भो वयस्य किमेतत्पवनवशगामि प्रमदवनसमीपगतक्रीडापर्वत पर्यन्ते दृश्यते।

—विक्र०, अंक २, पृ० १८८

६. ···नानावारिचराण्डजैर्विरचिता दृष्टा मया दीर्घिकाः। —अभि०, २.६

७. विन्दूत्क्षेपात् पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रम्···।

—माल०, २.१२

८. एतत्खलु भवन्तमिव विलोभयितुकामया प्रमदवनलक्ष्म्या युवतिवेषलज्जापयतृकं वसन्तकुसुमनेपथ्यं गृहीतम्। —माल०, अंक ३ पृ० २६५

प्रमद-वन में एक दोला-गृह भी होता था। इसमें अनेक झूले पड़े रहते थे। राजकीय उत्सव या समारोह के अवसर पर अथवा रानी की इच्छा होने पर राजा-रानी इसमें झूला झूलने का आनन्द प्राप्त करते थे। 'मालविकाग्निमित्र' में रानी इरावती पूर्व निश्चय के अनुसार निपुणिका को साथ लेकर राजा के साथ झूला झूलने के लिए प्रमद-वन जाती है[1]। वसन्त मास में वसन्तोत्सव के अवसर पर प्रमद-वन में दोलोत्सव भी मनाया जाता था। प्रमद-वन की रक्षा के लिए उद्यान-पालक[2] और उद्यान-पालिकाएँ[3] भी नियुक्त होती थीं।

अन्तःपुर का ही एक भाग कन्यान्तःपुर होता था। इसका उल्लेख केवल भास के 'अविमारक' नामक नाटक में हुआ है[4]। इससे सिद्ध होता है कि भास-युग में राज-भवन में राज-कन्याओं के लिए पृथक् प्रासाद की व्यवस्था थी। कन्यापुर में राजकन्या, उसकी सखियाँ, परिचारिकाएँ और धात्री निवास करती थीं। 'अविमारक' में कन्यापुर में राजकुमारी कुरंगी के साथ उसकी धात्री और नलिनिका आदि सखियाँ रहती हैं। कन्यापुर का प्रधान-रक्षक अमात्य[5] होता था जिसके अधीनस्थ अनेक भृत्य होते थे। अमात्य की अनुपस्थिति में अमात्यभृत्य रक्षण का भार संभालते थे[6]। राजकन्याओं का प्रासाद भी अपनी समृद्धि के कारण इन्द्रपुरी से स्पर्धा करता हुआ प्रतीत होता था[7]।

---

१. अद्यैव प्रथमावतारसुभगानि रक्तकुरबकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवाम्—इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति। भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम्, तत्प्रमदवनमेव गच्छावः। —माल०, अंक ३, पृ० २९३

२. नादेनैव विसंज्ञीकृताः प्रमदवनपालाः। —अभि०, अंक ३, पृ० ४८

३. तद्यावत्प्रमदवनपालिकां मधुकरिकामन्विष्यामि।—माल०, अंक ३, पृ० २९०

४. अद्यैव प्रवेष्टव्यं कन्यापुरम। —अवि०, अंक २, पृ० ४३

५. अमात्य आर्यभूतिकः कन्यापुररक्षकः काशिराजदूतेन सह अस्माकं महाराजेन पूजितः ...। —अवि०, अंक २, पृ० ४३

६. अमात्यः प्रस्थित इति कश्चिदमात्यभृत्यः कन्यापुररक्षणार्थं नाभ्यागतः। —अवि०, अंक ३, पृ० ६३

७. उत्प्रहसित इव भवनेनानेन स्वर्गः। —अवि०, अंक ३, पृ० ७७

राजकुल के बहिर्भाग में दर्शनीय वस्तु राज-प्रासाद होता था। इसमें राजा के वैभव के अनुसार अनेक गृह और भवन होते थे जिनका अपना-अपना वैशिष्ट्य होता था। ये सभी भवन सुन्दर और सुसज्जित होते थे। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

१. मणिहर्म्य भवन

यह भवन जैसाकि इसके नाम से ज्ञात होता है, सम्भवतः मणिमय होता होगा अर्थात् इसके निर्माण में मणिमय उपकरणों का बहुत प्रयोग होता होगा। इसकी सीढ़ियाँ गंगा की तरंगों के सदृश शुभ्र स्फटि मणि की बनी हुई होती थीं[1]। यह प्रदोष-काल में बड़ा रमणीय एवं मनमोहक प्रतीत होता था[2]। इसकी छत से चन्द्रमा अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देता था। अतएव व्रत के दिन रानियाँ इसी भवन से चन्द्रमा के दर्शन करती थीं[3]। पी० के० आचार्य ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"एक ऊपरी मंजिल, एक स्फटिक भवन, रत्न-जटित प्रासाद"[4]।

२. मयूरयष्टि प्रासाद[5]

यह भी एक प्रासाद-विशेष था। "मयूरस्थित्यर्थं यष्टयो यत्र स्थापिताः स सौधविशेषः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह सम्भवतः ऐसा प्रासाद था जिसमें मयूरों के विश्रामार्थ यष्टियाँ लगाई जाती थीं। इसमें अनेक कक्ष होते थे[6]। आतप-रक्षण के लिए एक मणिमय कक्ष की रचना की जाती थी, जो मणिभूमिका[7] कहलाता था।

---

१. एतेन गंगातरंगसश्रीकेण स्फटिकमणिसोपानेनारोहतु।
—विक्र०, अंक ३, पृ० १९६

२. ...प्रदोषावसररमणीयं मणिहर्म्यम्। —विक्र०, अंक ३, पृ० १९६

३. मणिहर्म्यपृष्ठे सुदर्शनश्चन्द्रः। तत्र संनिहितेन देवेन प्रतिपालयितुमिच्छामि यावद्रोहिणीसंयोग इति। —विक्र०, अंक ३, पृ० १९५

४. पी० के० आचार्य : एनसाईक्लोपीडिया आफ़ हिन्दू आर्किटेक्चर, मानसार सीरीज़, भाग ६, पृ० ३९४

५. मयूरयष्टिमुखे। —प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ० ६९

६. प्रतिज्ञायौगन्धरायण की पं० कपिलदेवगिरि कृत संस्कृत टीका, पृ० ६९

७. आतपप्रतिकूल्यार्थं मणिभूमिकायां प्रवेशयेत्याज्ञापय।
—प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ० ६९

राज-प्रासादों के अन्तर्गत समुद्रगृह[1] भी होते थे। आचार्य रामचन्द्र मिश्र के अनुसार यह कृत्रिम समुद्र या जलाशय के समीप स्थित प्रासाद होता था[2]। जिस प्रकार विहारार्थ कृत्रिम क्रीड़ी-शैलादि बनाये जाते थे उसी प्रकार कृत्रिम समुद्रों का भी निर्माण होता था। 'मत्स्यपुराण'[3] में इसको षोडशभुज दुमंज़िला प्रासाद माना गया है। यह अन्तःपुरीय प्रमदवन के निकट बनाया जाता था। यह ग्रीष्मकाल में विश्राम और विहार के लिए 'सावन-भादों' का काम करता था। जिस प्रकार सावन-भादों में बैठकर मनुष्य शारीरिक एवं मानसिक शान्ति प्राप्त करता है उसी प्रकार समुद्रगृह क्लान्त एवं परिश्रान्त राजवर्ग के लिए शान्ति-स्थल था[4]। 'मालविकाग्निमित्र' के चतुर्थ अंक में राजा मालविका के साथ इसी गृह में विहार करता है[5]। भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार यह चतुर्दिक फ़व्वारेदार झरनों से घिरा हुआ विहार-भवन होता था[6]। 'भविष्य पुराण'[7] में भी 'समुद्र' का उल्लेख हुआ है जो इसी प्रासाद का संकेत देता है।

३. समुद्र-गृह

राजहर्म्यों के अन्तर्गत सूर्यामुख प्रासाद[8] का भी उल्लेख

---

१. समुद्रगृहे सखीसहितां मालविकां स्थापयित्वा···।

—माल०, अंक ४, पृ० ३२४

२. रामचन्द्र मिश्र कृत प्रतिमा नाटक की संस्कृत टीका, पृ० ४७

३. षोडशास्रः समन्ताच्च विज्ञेयः स समुद्रकः।
पार्श्वयोश्चन्द्रशालेऽस्य उच्छ्रायो भूमिकाद्वयम्।

—मत्स्य पुराण, २६९.३८

४. एष हि महाराजः ······राममरण्यं गच्छन्तमुपावर्तयितुमशक्तः पुत्रविरह-शोकाग्निना दग्धहृदय उन्मत्त इव बहु प्रलपन् समुद्रगृहके शयानः।

—प्रतिमा०, अंक २, पृ० ४७

५. माल०, अंक ४, पृ० ३२५

६. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग २, पृ० ४७

७. समुद्रपद्मगरुडनंदिवर्धनकुंजराः।
गृहराजो वृषो हंसाः सर्वतोभद्रको घटः। —भविष्य पुराण, १३.२४

८. एष भर्ता सूर्यामुखप्रासादादवतरति। —स्व० वा० अंक, ६, पृ० १८०

मिलता है। श्री गणपति शास्त्री ने सूर्यामुख प्रासाद की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'सूर्या विवाह देवता सा मंगलार्थगजलक्ष्म्यादि देवतावत् दारु-शिलाद्युत्कीर्णा मुखे यस्य प्रासादस्य सः सूर्यामुखप्रासादः"[1]। उन्होंने सूर्या का अर्थ 'विवाह देवता' किया है। उनके मतानुसार यह ऐसा प्रासाद होता होगा जिसके अग्र भाग में पत्थर या काष्ठ पर खुदी हुई विवाह देवता (सूर्या) की प्रतिमा सुशोभित होती है।

४. सूर्यामुख-प्रसासाद

५. मेघ प्रतिच्छन्द[2]

यह भी अन्य प्रासादों के समान एक विशिष्ट राज-प्रासाद होता था। प्रासादों के नाम प्रासाद स्वामियों की इच्छा के अनुसार नहीं रखे जाते थे वरन् उनके वैशिष्ट्य के आधार पर रखे जाते थे। मानसार किंचित् भिन्न नाम 'मेघकान्त' से 'मेघ-प्रतिच्छन्द' का संकेत करता है। उसके अनुसार यह दस-मंज़िले प्रासादों के वर्ग में आता है[3]।

६. **देवच्छन्दक[4]**—यह भी मेघप्रतिच्छन्द जैसा ही प्रासाद होता होगा।

७. **शान्ति-गृह[5]**—राजभवन में अभ्यागतों के विश्रामार्थ शान्ति-गृह भी बनाये जाते थे।

राजभवन के बहिर्भाग में एक 'उपस्थान-गृह'[6] या आस्थान-

---

१. साहित्याचार्य पी० पी० शर्मा कृत स्वप्नवासवदत्त की हिन्दी टीका, पृ० १८३

२. अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपितः। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२४

३. भगवतशरण उपाध्याय—कालिदास का भारत, भाग २, पृ० ४६

४. तथावत्स राजा धर्मासनगत इत आयाति तावदेतस्मिन्विरल जनसंघाते देवच्छन्दकप्रासाद आरुह्य स्थास्ये। विक्र०, अंक २, पृ० १६७

५. आर्ये ! शान्तिगृहे मां प्रतीक्षस्व। प्रतिज्ञा०, अंक १, पृ० ४१

६. कस्मिन् प्रदेशे वर्तते स्वामी ? किं ब्रवीषि उपस्थानगृहमेतत्। —अवि०, अंक १, पृ० ८

मण्डप भी होता था। इसको हम देशी भाषा में 'दरबारे-आम' भी कह सकते हैं। उपस्थान-गृह का अर्थ है—'यत्र स्थित्वा राजा प्रकृतिभिरुपास्यते' अर्थात् जहाँ प्रजा देववत् राजा की उपासना करती है। इस गृह में राजा का दरबार लगता था जिसमें राजा की पट्टमहिषी, जिसे 'देवी' नाम से सम्बोधित किया जाता था, भी उसके साथ बैठती थी[1]। दरबार में राजा प्रजा की समस्याओं को सुनकर उन पर ध्यानपूर्वक विचार करता था। सभा-भवन में सर्वसाधारण का निर्बाध प्रवेश अनुमत था[2]।

सभा-मण्डप का एक अंग मन्त्रशाला होती थी। यह स्थायी नहीं होती थी, वरन् आपत्कालीन स्थिति में गुप्त-मंत्रणाओं के लिए राजा की आज्ञा से इसकी रचना की जाती थी[3]। यहाँ राजा अपने मित्र-राजाओं और प्रधान सभासदों के साथ गूढ़ विषयों पर विचार-विमर्श करता था[4]। मन्त्रशाला में समस्त राजाओं और सभासदों के लिए यथायोग्य आसन होते थे[5]। राजा के शाला में प्रवेश कर अपना आसन ग्रहण करने के उपरान्त ही सब लोग अपना-अपना आसन ग्रहण करते थे। राजा से पूर्व आसन ग्रहण करना अनुचित समझा जाता था। 'दूतवाक्य' के प्रथम अंक में जब दुर्योधन अपने गुरुजनों और समस्त क्षत्रियों को साग्रह बैठने के लिए कहता है तो वे लोग आपत्ति करते हैं और कहते हैं कि 'महाराज' आप नहीं बैठेंगे ? दुर्योधन के आसन ग्रहण करने पर वे लोग अपना-अपना स्थान ग्रहण करते हैं[6]। शाला के

---

१. अये महाराजो देव्या सहास्ते। —अवि०, अंक १, पृ० १५

२. किं ब्रवीषि—उपस्थानगृह इति। अतस्त्वशंकनीयेयं भूमिः। यावत् प्रविशामि। अवि०, अंक १, पृ० १५

३. उत्पन्ने धार्तराष्ट्राणां विरोधे पाण्डवैः सह।
मन्त्रशालां रचयति भृत्यो दुर्योधनाज्ञया॥ —दूतवाक्य, १.२

४. महाराजो दुर्योधनः समाज्ञापयति—अद्य सर्वपार्थिवैः सह मंत्रयितुमिच्छामि। —दूतवाक्य, अंक १, पृ० ३

५. आचार्य ! एतत् कूर्मासनम्, आस्यताम्। पितामह ! एतत् सिंहासनम्, आस्यताम्। मातुल ! एतच्चर्मासनम्, आस्यताम्।
—दूतवाक्य, अंक १, पृ० ६

६. दूतवाक्य, अंक १, पृ० ६

बहिर्द्वार पर कंचुकी द्वार-रक्षक का कार्य करता था। यदि दूतादि कोई व्यक्ति राजा को कोई समाचार देना चाहता तो वह पहले कंचुकी द्वारा अपने आने की सूचना राजा के पास भिजवाता था। कंचुकी जब उसके प्रवेश की अनुमति ले आता तभी वह शाला के अन्दर प्रवेश कर सकता था[१]।

राजकुल में धार्मिक क्रियाओं—हवनादि—के लिए एक अग्नि-गृह या अग्न्यागार होता था। इसे अग्निशरण[२] भी कहा जाता था। यह स्थान तपस्वियों और व्रतविदों के अभ्यर्चना के योग्य समझा जाता था[३]। जब कभी आश्रमवासी ऋषिगण राजा के पास आते थे तो वह इसी गृह में उनका अभिनन्दन करता था। यह स्थान सदा सम्मार्जित रहने के कारण मनोहर प्रतीत होता था[४]। घी-दूध आदि के लिए यज्ञशाला के अलिन्द में गायों की व्यवस्था थी[५]।

राजा के वैभव के अनुसार नानाविध वहुमूल्य उपकरणों से सज्जित राजगृहों, प्रासादों तथा आस्थानमण्डप के अतिरिक्त शयनागार[६], शस्त्रशाला[७], हस्तिशाला[८], संगीतशाला[९], क्रीडावेश्म[१०],

---

१. (प्रविश्य) कंचुकीयः—जयतु महाराजः। एष खुलु पाण्डवस्कन्धावाराद् दौत्येनागतः पुरुषोत्तमः नारायणः।
—दूतवाक्य, अंक १, पृ० ७

२. राजा—वेत्रवति ! अग्निशरणमार्गमादेशय।
—अभि० शा०, अंक ५, पृ० ३०९

३. अहमप्येतांस्तपस्विदर्शनोचितप्रदेशे प्रतिपालयामि।
—अभि शा०, अंक ५, पृ० ३०९

४. एषोऽभिनवसम्मार्जनसश्रीकः ···। —अभि० शा०, अंक ५, पृ० २८०

५ ···संनिहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः। —अभि० शा०, अंक ५, पृ० २८०

६. वेत्रवति ! पर्याकुलोऽस्मि। शयनभूमिमार्गमदेशय।
—अभि० शा०, अंक ५, पृ० ९६

७. ···विस्तीर्णा शस्त्रशाला वहुविधकरणैः शस्त्रैरुपचिता। —दूतवाक्य, १.११

८. अस्यां हस्तिशालायां पाशं छित्वा क्षिपामि। —अवि०, अंक ३, पृ० ७५

९. भो वयस्य ! संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि।
—अभि० शा०, अंक ५, पृ० २६१

१०. ···क्रीडावेश्मनि चैष पंजरशुकः क्लान्तो जलं याचते। —विक्र०, २.२

सारभाण्ड-गृह[१], चतु:शाल[२], मंगल-गृह[३], प्रवातशयन[४] आदि भी राजकुल के अन्तर्गत समाविष्ट थे।

विवेच्य नाटकों में राज-परिवारीय जीवन-पद्धति के साथ-साथ राजकीय उत्सव, मनोविनोद एवं क्रीडाओं का वर्णन भी उपलब्ध है।

आमोद-प्रमोद

राजाओं के व्यस्त एवं कर्मठ जीवन में आनन्द एवं उल्लास का स्रोत संचारित करने के लिए आमोद-प्रमोद का भी विधान था। उत्सवों एवं समारोहों में राजा और प्रजा पारस्परिक भेद-भाव भूलकर सम्मिलित रूप से मनोविनोद करते थे।

राजकीय उत्सवों में वसन्तोत्सव[५] का विशिष्ट स्थान था। इसको 'ऋतूत्सव[६]' और 'वसन्तावतार[७]' की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता था।

वसन्तोत्सव

वसन्त ऋतु के आगमन पर कामदेव की प्रतिष्ठा में यह उत्सव मनाया जाता था। इस अवसर पर नगर में कई दिनों तक हर्ष एवं उल्लास का साम्राज्य छाया रहता था। न केवल पुरवासी अपितु प्रकृति भी वसन्त के स्वागत के लिए तैयारियाँ प्रारम्भ कर देती थी[८]। ऋतुमंगल-रूप लाल, पीली, हरी आम्र-मंजरियों

---

१. सा खलु तपस्वनी तया पिंगलाक्ष्या सारभाण्डभूगृहे गुहायामिव निक्षिप्ता।
—माल०, अंक ४, पृ० ३१५

२. किं भणसि, चतु:शाले वर्तते इति। —अवि०, अंक २, पृ० ३९

३. मंगलगृह आसनस्या भूत्वा···। —माल०, अंक ५, पृ० ३३९

४. देव ! प्रवातशयने देवी······। —माल०, अंक ४, पृ० ३१७

५. अनात्मज्ञे ! देवेन प्रतिषद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभंगमारभसे।
—अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०३

६. किं नु खुलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते।
—अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०१

७. अद्यैव प्रथमावतारसुभगानि······नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्या···।
—माल०, अंक ३, पृ० २९३

८. रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो विम्वाधरालक्तक:
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरवकं श्यामावदातारुणम्।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफांजनै:
सावज्ञेव मुखप्रसाधानविधौ श्रीर्माधवी योषिताम्॥
—माल०, ३.५

से भगवान् अनंगदेव की अभ्यर्चना की जाती थी। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में मधुरिका और परभृतिका नामक चेटियाँ आम्र-मंजरी से धनुर्धारी कामदेव की पूजा करना चाहती हैं[1]। विशेष परिस्थितियों में राजा की आज्ञा से वसन्तोत्सव का आयोजन स्थगित भी कर दिया जाता था[2]।

वसन्तोत्सव के अन्तर्गत अशोक-दोहदोत्सव भी मनाया जाता था। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में इसका विशद उल्लेख किया गया है। वसन्त-मास में अशोक के पुष्पित न होने पर उसके दोहद-निमित्त इस उत्सव का आयोजन किया जाता था। प्रायः अन्तःपुर के प्रमद-वन में अशोक-दोहद का समारोह सम्पन्न होता था। 'सुन्दर रमणी के पदाघात से अशोक पुष्पित हो जाता है' इस पुरातन मान्यता के अनुसार वस्त्राभूषणों से अलंकृत राजमहिषी वाम-पदाघात[3] से उसे प्रताड़ित करती थी। रानी के अस्वस्थ होने पर कोई सुन्दरी रानी के नूपुर पहन कर अशोक-दोहद के कार्य को सम्पन्न करती थी। 'मालविकाग्निमित्र' में महारानी धारिणी के अस्वस्थ होने पर मालविका ही रानी के नूपुर पहनकर अशोक वृक्ष पर पदाघात करती है[4]। अशोक-दोहद के लिए नियुक्त रमणी को राजसी अलंकारों से मण्डित किया जाता था[5]। उसके पैरों में बड़े कलात्मक ढंग से महावर लगाई जाती थी[6] और कानों में अशोक-पत्र का कर्णावतंस पहनाया

---

१. सखि! अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०२

२. यद्यनेन जनेन श्रोतव्यं कथयत्वयं किं निमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः प्रतिषिद्धः। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०४

३. युक्तं नाम अत्रभवतः प्रियवयस्योऽयमशोको ननु वामपादेन ताडयितुम्। —माल०, अंक ३, पृ० ३०८

४. तर्कयामि दोलापरिभ्रष्टया सरुजचरणया देव्याऽशोकदोहदाधिकारे मालविका नियुक्तेति। अन्यथा कथं देवी स्वयं धारितं नूपुरयुगुलं परिजनस्याभ्यनुज्ञास्यति? —माल०, अंक ३, पृ० ३०२

५. राजा—कथमशोकदोहदनिमित्तोऽयमारम्भ?
विदूषकः—किंनु खलु जानासि त्वम्। मम कारणाद्देवीमामन्तःपुरनेपथ्येन योजयिष्यतीति? —माल०, अंक ३, पृ० २९९-३००

६. आर्द्रालक्तकमस्याश्चरणं मुखमारुतेन शोषयितुम्। —माल०, ३.१३

जाता था[1]। अशोक के पुष्पित होने पर उसकी प्रसून-लक्ष्मी को देखने का भी उत्सव मनाया जाता था[2]। राजा राजमहिषियों एवं परिचारिकाओं सहित कुसुम-समृद्धि के दर्शन करता था[3]। इस अवसर पर ब्राह्मण को वसन्तोत्सवोपायन रूप दक्षिणा आदि भी दी जाती थी[4]।

वसन्तोत्सव के अवसर पर नववसन्तागमन के उपलक्ष में राजा-रानी दोलाधिरोहण से भी आनन्द प्राप्त करते थे[5]। रानियाँ सम्भवत: मदिरोन्मत्त होकर भी झूला झूलती थीं। 'मालविकाग्निमित्र' में रानी इरावती मदिरा पान कर राजा के साथ झूला झूलने जाती है[6]। राजाओं के झूले एक विशेष गृह में लगे रहते थे, जो दोलागृह[7] कहलाता था।

वसन्तोत्सव के अवसर पर साहित्यिक रूपकों का अभिनय भी होता था। इस अवसर पर अभिनीत रूपक (नाटक) साधारण जनता के लिए भी दर्शनोपलब्ध होते थे। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक वसन्तोत्सव पर ही सर्वप्रथम जनता के समक्ष अभिनीत हुआ था[8]।

---

१. एषोऽशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छः। अवतंसयैनम् ···।
—माल०, अंक ३, पृ० ३०६

२. देवी विज्ञापयति—तपनीयाशोकस्य कुसुमसहदर्शनेन ममारम्भ: सफल: क्रियतामिति। —माल०, अंक ५, पृ० ३४२

३. यथार्हसम्मानसुखितमन्त:पुरं विसृज्य मालविकापुरोगेणात्मन: परिजनेन सह देवं प्रतिपालयति। —माल०, अंक ५, ३४२

४. वसन्तोत्सवोपायनलोलुपेनार्यगौतमेन कथितं त्वरतां भट्टिनीति।
—माल०, अंक ३, पृ० ३०१

५. ······नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्यानिपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्—इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति।
—माल०, अंक ३, पृ० २९३

६. चेटि ! मदेन क्लाम्यमानमात्मानमार्यपुत्रस्य दर्शने हृदयं त्वरयति। चरणौ पुनर्न मम प्रसरतः। —माल०, अंक ३, पृ० ३०१

७. ननु सम्प्राप्ते स्वो दोलागृहम्। —माल०, अंक ३, पृ० ३०१

८. अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति।
—माल०, अंक १, पृ० २६१

उत्सवों में धनुर्मह[1] भी अपना विशेष महत्त्व रखता था। इस उत्सव पर राजा मनोरंजनार्थ मल्लयुद्ध करवाते थे। इसके लिए उनके पास बड़े-बड़े मल्ल होते थे और दूसरे राज्यों से राजमल्लों को आमन्त्रित भी किया जाता था। ये मल्ल परस्पर करण, सन्ध और आबन्ध प्रहारों से युद्ध करते थे[2]। कंस के राजभवन में चाणूर और मुष्टिक नामक दो विकट मल्ल थे[3]। राजा प्रासाद में बैठ कर मल्लयुद्ध का आनन्द लेता था[4]। राजा के आदेश के साथ ही भट माला फैंक कर युद्धारम्भ की घोषणा करता था[5]। युद्ध से पूर्व संख्यपटह बजाये जाते थे[6]। राजनगर नववधू की तरह सजाया जाता था। राजपथ ध्वजा, पताका, पुष्प, मालाओं एवं अगरु धूपादि सुगन्धित द्रव्यों से मण्डित एवं सुगन्धित किये जाते थे[7]।

धनुर्महोत्सव

राजकीय समारोहों में वर्षवर्धनोत्सव भी परिगणित था। राजा का जन्मदिवस बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था। राजा आयुवर्धनार्थ जन्मकालिक नक्षत्र की पूजा करता था[8] और सहस्रों गायों का दान करता था। गोदान के लिए नगरोद्यान के मार्ग पर

वर्षवर्धनोत्सव

---

१. मथुरायां धनुर्महो नाम महोत्सवो भविष्यति।

—बा० च०, अंक ४, पृ० ६४

२. अतिद्वयकरणसन्धाबन्धप्रहारैर्युद्धविशेषैः सिद्धिं गच्छामः।

—बा० च०, अंक ५, पृ० ७०

३. गच्छ ! यथानिर्दिष्टौचाणूरमुष्टिकौ प्रवेशय··· —बा० च०, अंक ५, पृ० ६८

४. यावदहमपि प्रासादमारुह्य······युद्धं पश्यामि।

—बा० च०, अंक ५, पृ० ६८

५. देखिये, बा० च०, अंक ५, पृ० ७२

६. वादयत, वादयत संख्यपटहान्। —बा० च०, अंक ५, पृ० ७२

७. एष इदानीं नन्दगोपपुत्र उत्सवाधिकारोच्छ्रितध्वजपताकमवसक्तमाल्यदामालंकृतमुत्थापितागुरुधूपसमाकुलं राजपथं प्रविश्य······।

—बा० च०, अङ्क ५, पृ० ६७

८. जयसेन ! जन्मनक्षत्रक्रियाव्यापृतस्य महाराजस्य तावदकालनिवेदनं मन्युमुत्पादयति। —पंचरात्र, अङ्क २, पृ० ५८

सवत्सा गाएँ सजा दी जाती थीं[1]। गोपबालक और गोपबालाएँ नवीन वस्त्राभूषणों से सज-धज कर आनन्द-मंगल मनाते थे और नाचते गाते थे[2]।

विजयोत्सव

विजयोत्सव भी एक प्रकार का उत्सव था। आलोच्य नाटकों में इसका विस्तृत वर्णन नहीं प्राप्त होता है। केवल 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के पंचम अंक में राजकुमार वसुमित्र के विजयोपलक्ष में इस समारोह का संकेत मात्र किया गया है। राज-विजय के उल्लास में सम्पूर्ण राज्य और राजकुल में आनन्द मंगल मनाया जाता था। राजकुल में विजय की सूचना देने वालों को पुरस्कारों एवं पारितोषिकों से पुरस्कृत किया जाता था। 'मालविकाग्निमित्र' में प्रतिहारी रानी से कहती है कि आपके पुत्र की विजय सुनकर मुझ पर पुरस्कारों की इतनी वर्षा हुई कि मैं अन्तःपुर के आभूषणों की मंजूषा बन गई[3]। विजयोत्सव के अवसर पर कारागार के समस्त वन्दी राजाज्ञा से मुक्त कर दिये जाते थे[4]।

विवाहोत्सव

विवाहोत्सव भी एक प्रमुख राजोत्सव था। राजकुल में राज-वंश-परम्परा की रक्षार्थ और राजलक्ष्मी के परिपालन के लिए विवाह-संस्कार अनिवार्य माना जाता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त समुद्रव्यवहारी धनमित्र के विवरण को पढ़ कर पुरुवंशश्री की शोचनीय दशा की कल्पना कर अपने अनपत्यत्व

---

१. महाराजविराटस्य वर्षवर्धनगोप्रदाननिमित्तमस्यां नगरोपवनवीथ्यामायातु गोधनम्...। —पंचरात्र, अंक २, पृ० ५३-५४

२. ही ही सुण्ठु नर्तितं सुण्ठु गीतम्......।
—पंचरात्र, अङ्क २, पृ० ५४

३. यद्देव्याज्ञापयति। भट्टिनि ! पुत्रविजयनिमित्तेन, परितोषेणान्तःपुराणामाभरणानां मंजूषास्मि संवृत्ता। —माल०, अङ्क ५, पृ० ३५५

४. मौद्गल्य ! यज्ञसेनश्यालमूरीकृत्य मोच्यंतां सर्वे बन्धनस्थाः।
—माल०, अङ्क ५, पृ० ३५४

पर अत्यन्त खिन्न होते हैं[1]। ऋग्वेद[2], ऐत्तरेय ब्राह्मण[3] तथा शतपथ ब्राह्मण[4] में भी वंश-रक्षण के लिए विवाह परमावश्यक समझा गया है। राजा सन्तान-प्राप्ति के लिए अनेक कन्याओं से विवाह करते थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त अनेक पत्नियों के रहते हुए भी पुत्र-प्राप्ति के लिए शकुन्तला से विवाह करते हैं।

विवाह-पद्धतियाँ

राजकुल में सामान्यतया सवर्ण एवं सजातीय विवाह-प्रथा ही मान्य थी। सजातीय विवाह राज-मर्यादा एवं वंश-गौरव का प्रतीक समझा जाता था। राजा लोग अन्तर्जातीय विवाह भी करते थे। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के प्रथम अंक में महारानी धारिणी के भ्राता वीरसेन के लिए वर्णावर शब्द का प्रयोग इस बात का सूचक है कि राजपरिवार में अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित था[5]। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त का क्षत्रिय पिता तथा अप्सरा माता से उत्पन्न शकुन्तला नामा आश्रमवासिनी कन्या के साथ विवाह और 'विक्रमोर्वशीय' में राजा पुरूरवा का उर्वशी नामा अप्सरा से पाणिग्रहण अन्तर्जातीय विवाह के ज्वलन्त उदाहरण हैं। राजवर्ग में बहुविवाह को भी अत्यधिक मान्यता थी[6]। इसका कारण सम्भवत: ऐश्वर्य एवं समृद्धि की विपुलता थी। 'अभिषेक नाटक' में रावण मन्दोदरी आदि अनेक रानियों के रहते हुए भी ऐश्वर्य एवं वैभव के मद में सीता से विवाह करना चाहता है[7]। विवेच्य नाटकों में बहुविवाह के अनेक

---

१. कष्टं खलु अनपत्यता। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः।
—अभि० शा०, अङ्क ६, पृ० १२२

२. ऋग्वेद, १०, ८५, ३६, ५, ३, २, ५, २८, ३।

३. ऐत्तरेय ब्राह्मण, ३३, १, १ का २. ४

४. शतपथ ब्राह्मण, ५, २, १, १०

५. अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम।
—माल०, अङ्क १, पृ० २६६

६. (क) बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। —अभि० शा०, अङ्क ३, पृ० ५१
(ख) किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन।
—अभि० शा०, अङ्क ३, पृ० ५१

७. सीते ! भावं परित्यज्य मानुषेऽस्मिन् गतायुषि।
अद्यैव त्वं विशालाक्षि ! महतीं श्रियमाप्नुहि। —अभि०, ५.९

दृष्टान्त देखे जा सकते हैं। 'प्रतिमा नाटक' में राजा दशरथ के कौसल्यादि तीन रानियों का वर्णन मिलता है। 'मालविकाग्निमित्र' में राजा अग्निमित्र की इरावती और धारिणी दो रानियाँ थीं। 'स्वप्नवासवदत्त' में राजा महासेन की षोडश पत्नियाँ थीं[1]—इसका स्पष्ट संकेत मिलता है।

विवाह-विधि

राजपरिवार में भी विवाह एक समस्या थी। राजाओं को राजकन्या के विवाह की सतत चिन्ता रहती थी[2]। निश्चित समय पर कन्या का विवाह न करने पर उसे समाज एवं प्रजा के उपहास का पात्र बनना पड़ता था[3]। यद्यपि राजकन्या के विवाहार्थ भिन्न-भिन्न राजकुलों से प्रतिदिन दूत आते रहते थे[4] किन्तु उन को प्रत्युत्तर देना अति दुष्कर कार्य था। विवाह में अनेक वरों में से एक वर का निर्वाचन होता था[5]। अतः विवाह-सम्बन्ध बहुत विचार-विमर्श और परीक्षण के पश्चात् निश्चित किया जाता था[6]। विवाह-सम्बन्ध के निश्चय करते समय गुण, गौरव, तात्कालिक स्थिति तथा भविष्य का विचार, तत्परता और दीर्घसूत्रता का परित्याग, देशकालानुसार कार्य करना—ये चार बातें आवश्यक मानी गई थीं[7]। राजा अपनी पुत्री के लिए सर्वगुणसम्पन्न वर प्राप्त करने की चेष्टा करता था[8]। राज-वर के लिए कुलीनता, दयालुता, गौरव, सौन्दर्य, उदग्रवीर्य, प्रजावत्सलता आदि गुण आवश्यक थे[9]।

---

१. षोडशान्तःपुरज्येष्ठा पुण्या नगर देवता। —स्व० वा०, ६.६
२. कन्यापितुर्हि सततं बहु चिन्तनीयम्। —अवि०, १.२
३. अदत्ते त्यागतालज्जा दत्तेति व्यथित मनः। — प्रतिज्ञा० २.७
४. एवं नामाहन्यहनि गोत्रानुकूलेभ्यो राजकुलेभ्यः कन्याप्रदानं प्रति दूतसम्प्रेषणा वर्तते। —प्रतिज्ञा०, अङ्क २, पृ० ४३
५. बहुमुखा विवाहा यथेष्टं साध्यन्ते। —अवि०, अङ्क १, पृ० २४
६. विवाहा नाम बहुशः परीक्ष्य कर्तव्या भवन्ति। —अवि०, अङ्क १, पृ० ६
७. गुणबाहुल्यं तदात्वमायतिं चावेक्ष्य त्वरतां दीर्घसूत्रतां च परित्यज्य देशकालविरोधेन साधयितव्यं अर्थमित्यर्थः। —अवि०, अङ्क १, पृ० २०
८. कन्याया वरसम्पत्तिः पितुः (प्रायः) प्रयत्नतः। —प्रतिज्ञा०, २.५
९. प्रतिज्ञा०, २.४ (ख) प्रतिज्ञा०, अङ्क २, पृ० ६४

आलोच्य नाटकों में विवाह के अष्ट भेदों—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच[1] में से केवल ब्राह्म और गान्धर्व विवाहों का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष

विवाह-भेद

संकेत मिलता है। ब्राह्म विवाह में वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कन्या विद्याप्रवीण एवं आचारशील व्यक्ति को प्रदान की जाती है। 'स्वप्नवासवदत्त' में पद्मावती तथा उदयन का विवाह इसी कोटि में आता है। ब्राह्म विवाह समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था। कन्या और वर के पारस्परिक प्रेम के आधार पर होने वाला विवाह गान्धर्व विवाह कहलाता है[2]। इसमें दोनों पक्षों के गुरुजनों की स्वीकृति आवश्यक नहीं है। गान्धर्व विवाह तत्कालीन समाज में अभिनन्दित था[3]। 'अविमारक' में कुरंगी तथा अविमारक का विवाह, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दुष्यन्त तथा शकुन्तला का परिणय, 'विक्रमोर्वशीय' में पुरूरवा एवं उर्वशी का पाणिग्रहण, 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में उदयन तथा वासवदत्ता का विवाह गान्धर्व विवाह की लोकप्रियता एवं उसके सामाजिक महत्त्व के उदाहरण कहे जा सकते हैं। 'ऊरुभंग' में स्वयंवर के उल्लेख से ज्ञात होता है कि राजकुल में स्वयंवर रीति से भी विवाह होता था[4]।

राजोत्सवों एवं समारोहों के अतिरिक्त राजाओं के मनोरंजन के लिए विविध मनोविनोद एवं क्रीड़ाएँ भी प्रचलित थीं। मनोविनोदों में मृगया का विशेष महत्त्व था। मृगया

मनोविनोद

राजाओं का प्रमुख मनोविनोद माना जाता था[5]। यह राजाओं के मनोरंजन

---

१. मनुस्मृति, ३.३२

२. इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः।
—मनुस्मृति, ३.३२

३. गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः।
—अभि० शा०, ३.२१

४. ···युद्धेष्वप्सरसां स्वयंबरसभां शौर्यप्रतिष्ठां नृणाम्। —ऊरुभंग, १.४

५. एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्य भावेन······।
—अभि० शा०, अङ्क २, पृ० २६

का साधन होने के साथ-साथ उनके स्वास्थ्य के लिए भी अत्यन्त लाभकारी था। इससे शारीरिक विकृति और अनावश्यक स्थूलता दूर हो जाती थी तथा शरीर कर्मठ और स्फूर्तिशील बनता था। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के द्वितीय अंक में सेनापति मृगया की प्रशंसा करते हुए कहता है कि इससे मेद का छेदन हो जाता है, उदर पतला हो जाता है, शरीर हलका और स्फूर्तिशील बनता है, भय और क्रोध की अवस्था में प्राणियों के चित्त में उत्पन्न होने वाले विकार का परिज्ञान हो जाता है, चलायमान लक्ष्यों के वेधन में नैपुण्य प्राप्त हो जाता है। इसको मिथ्या ही व्यसन कहते हैं, नहीं तो उसके जैसा विनोद कहाँ[1] ? मृगया के समय निरन्तर प्रत्यंचा के आस्फालन से शरीर का पूर्वभाग कठोर होकर सूर्य के तेज तक को सहन करने में समर्थ हो जाता था और शरीर के पुष्ट होने के कारण कृशता लक्षित नहीं होती थी[2]। कौटिल्य भी व्यसनाधिकरण प्रकरण में अन्य व्यसनों के साथ मृगया को भी राजाओं का एक व्यसन मानते हैं। द्यूत, संगीत, नृत्य और सुरापान की अपेक्षा इसे अच्छा समझते हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने मृगया के अनेक लाभ वर्णित किये हैं[3]।

राजा मृगयावेश[4] धारण कर रथ पर बैठ कर आखेट के लिए जाता था। उस समय वन-पुष्प की मालाएँ पहने हुए और हाथ में धनुष-बाण लिये हुए यवनी परिचारिकाएँ राजा के शरीर की रक्षा

---

१. मेदश्छेदकृशोदरंलघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः॥
—अभि० शा०, २.५

२. अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति।
—अभि० शा०, २.४

३. अर्थशास्त्र, ८.३,५०

४. अपनयन्तु मृगयावेशम्। —अभि० शा०, अंक २, पृ० ३२
नाटक में मृगयावेश का उल्लेख मात्र मिलता है। आखेट की वेशभूषा कैसी होनी चाहिए, इसका कहीं संकेत नहीं है।

करती थीं[1]। यवनियों के अतिरिक्त राज-सैनिक और वन-ग्राही मृगया करते समय राजा की सहायता करते थे। वन-ग्राही राजा से पहले ही वन में पहुँच जाते थे और वन को चारों ओर से घेर कर शिकार की सूचना राजा को देते थे[2]। लक्ष्य पशुओं में मृग[3], वराह[4], शार्दूल[5], महिष[6] प्रमुख थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुनिलुब्धक[7] के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि उस समय पक्षियों का भी शिकार किया जाता था। अरण्य हस्तियों का शिकार भी किया जाता था[8] किन्तु बहुत कम। गजलक्षणशास्त्र के ज्ञाता और गजवंशीकरण विद्या में पारंगत राजा ही वन्यगजों का आखेट कर सकते थे। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में राजा हस्ति-शिक्षा के आधार पर नील कुवलय को चक्रवर्ती हस्ती बताता है और केवल वीणा की सहायता से उसे पकड़ने के लिए जाता है[9]।

आखेट में मनोरंजन के साथ-साथ कष्ट भी प्राप्त होते थे। राजा के आखेट-सहायों के शरीर की संधियाँ शिकार के लिए दौड़ते-दौड़ते शिथिल पड़ जाती थीं[10]। वन में पहाड़ी नदियों का कड़वा और कसैला जल पीना पड़ता था। अनियत समय पर लोहे की शलाखाओं पर भुना हुआ मांस खाना पड़ता था[11]।

---

१. एष वाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः। —अभि० शा०, अंक २, पृ० २७

२. तेन हि निवर्तय पूर्वगतान्वनग्राहिणः। —अभि० शा०, अंक २, पृ० ३१

३.४.५. अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वनराजीष्वाहिण्ड्यतेऽटवीतोटवी। —अभि० शा०, अंक २, पृ० २६

६. अभि० शा०, २.६

७. शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन......। —अभि० शा०, अंक २, पृ० २७

८. छत्रमात्रपरिच्छदेन गजयूथविमर्दयोग्येन बलेन मार्गमदन्या वीथ्या...। —प्रतिज्ञा०, अंक १, पृ० १५

९. अस्त्येष चक्रवर्ती हस्ती नीलकुवलयतनुर्नाम हस्तिशिक्षायां पठितः। तद् अप्रमत्ता भवत यूयमस्मिन यूथे। गजं तमहं वीणाद्वितीय आनयामीति। —प्रतिज्ञा०, अंक १, पृ० १७-१८

१०. तुरगानुधावनकण्डितसंधे......। —अभि० शा०, अंक २, पृ० २७

११. पत्रसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते। अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठमाहारो भुज्यते। —अभि० शा०, अंक २, पृ० २६

द्यूतक्रीड़ा

द्यूतक्रीड़ा भी राजमनोविनोदों में परिगणित थी। राजा अक्ष-क्रीड़ा के व्यसनी होते थे[१]। जुए के अनर्थों को जानते हुए भी वे जुआ खेलते थे और राज्य, मान, स्त्री, सभी से वंचित हो जाते थे[२]। उनके सत्य, धर्म, दया आदि गुणों का लोप हो जाता था, उनकी चेतना विभ्रष्ट हो जाती थी और उन्हें लोक में अपमानित होना पड़ता था[३]। 'पंचरात्र' में पाण्डव धर्मपरायण और सत्यप्रतिज्ञ होते हुए भी द्यूतक्रीड़ा में राज्य और स्त्री को हार जाते हैं।

संगीत एवं नृत्य

संगीत एवं नृत्य भी राजाओं के मनोविनोद के साधन थे। संगीत में चित्त को मोहित करने वाली शक्ति का अधिष्ठान माना जाता था[४]। संगीतशाला[५], प्रेक्षागृह[६], नाट्याचार्य[७] आदि शब्द-प्रयोग राजाओं की संगीताभिरुचि के परिचायक हैं। राजा स्वयं संगीत-मर्मज्ञ होता था और उसके राज्य में भी अनेक विद्वान् नाट्याचार्य संगीत-शिक्षण के लिए नियुक्त रहते थे[८]। राजसभा में संगीत प्रतियोगिताएँ होती थीं जिनमें निर्णायक राजा को बनाया

---

१. अत्रेदानीं धर्मच्छलेन वंचितो द्यूताश्रयवृत्तिर्युधिष्ठिरः···।
—पंचरात्र, अंक १, पृ० ३१

२. यत् पुरा ते सभामध्ये राज्ये माने च धर्षिताः।
बलात्कारसमर्थैस्तैः किं रोषो धारितस्तदा। —पंचरात्र, १.३७

३. सत्यधर्मघृणायुक्तो द्यूतविभ्रष्टचेतनः।
करोत्यपांगविक्षेपैः शान्तामर्षं वृकोदरम्॥ —दूतवाक्य, १.८

४. अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।
—अभि० शा०, अंक १, पृ० ५

५. भो वयस्य ! संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि।
—अभि० शा०, अंक ५, पृ० ७९

६. तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे······। —माल०, अंक १, पृ० २७८

७. कथय, तावदन्योन्यसंघर्षितयोर्नाट्याचार्ययोः···।
—माल०, अंक ३, पृ० २९१

८. भवति, पश्याम उदरंभरिसंवादम्। किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम्।
—माल०, अंक १, पृ० २७४

जाता था। 'मालविकाग्निमित्र' में नाट्याचार्य हरदत्त और गणदास अपनी नाट्यशास्त्र-योग्यता के निर्णयार्थ राजा अग्निमित्र की सभा में जाते हैं[1]। राजकुल में संगीत-विद्या राजाओं को वंशपरम्परा से भी प्राप्त होती थी। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में राजा उदयन को गान्धर्व विद्या खानदानी बपौती के रूप में प्राप्त हुई थी[2]।

चित्रकला

विनोद के साधनों में संगीत एवं नृत्य के समान चित्रकला भी समादृत थी। मानसिक अस्वस्थता या उद्विग्नावस्था में चित्रकला मनस्थिरीकरण का माध्यम थी। राजा दुष्यन्त शकुन्तला के विरह में व्याकुल होकर उसके चित्रालेखन द्वारा अपना मनोविनोद करते हैं[3]। उर्वशी के प्रेम में आसक्त राजा पुरूरवा को चिन्तित देखकर विदूषक उसे उर्वशी का चित्र बनाकर उससे दिल बहलाने के लिए कहता है[4]।

कथा-आख्यायिका

कथा-आख्यायिकाओं द्वारा भी मनोविनोद किया जाता था। राजसेवक या राजपरिजन विविध मनोरंजक कथाएँ सुनाकर राजा का चित्तानुरंजन करते थे। 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक में राजा निद्रापीड़ित होने पर विदूषक से कथा सुनाने को कहता है[5]।

---

१. उभावभिनयाचार्यौ परस्परजयैषिणौ।
त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद्भावाविव शरीरिणौ। —माल०, १.१०

२. दर्पयत्येनं दायाद्यागतो गान्धर्वो वेदः। —प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ० ६३

३. नन्वासन्नपरिचारिका चतुरिका भवता संदिष्टा—माधवीमण्डप इमां वेलामतिवाहयिष्ये। तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०८

४. अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलक आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु। —विक्र०, अंक २, पृ० १७८

५. वयस्य! निद्रा मां बाधते। कथ्यतां काचित् कथा।
—स्व० वा०, अंक ५, पृ० १४५

राजान्तःपुरीय मनोविनोदों में कन्दुक-क्रीड़ा[1], जल-क्रीड़ा[2], वाटिका-विहार[3], कथाख्यायिकाश्रवण[4] आदि प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त अन्तःपुर में मनोरंजनार्थ मयूर, शुक, सारिका आदि क्रीड़ा-पक्षी भी पाले जाते थे[5]। ये पक्षी अपने व्याख्यान और विविध कथाओं द्वारा रानियों एवं राजकुमारियों को आनन्दित करते थे।

अन्तःपुरीय क्रीड़ाएँ

राज-परिवार के विस्तृत विवेचन के पश्चात् इतर परिवार का वर्णन भी अनिवार्य है। इतर परिवार के अन्तर्गत जन-सामान्य के परिवार समाविष्ट हैं।

इतर परिवार

तत्कालीन जन-समाज में संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी। संयुक्त परिवार की आधारशिला पारस्परिक प्रेम एवं सहयोग की भावना थी। परिवार के समस्त सदस्य माता-पिता, चाचा-ताऊ, भाई-बहिन आदि सम्मिलित रूप से रहते थे और प्रेम एवं सहयोग से जीवन-यापन करते थे। उनमें अहंभाव या स्वार्थ लेशमात्र भी नहीं होता था। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व त्यागमय एवं तपोमय होता था। एक सदस्य दूसरे सदस्य की रक्षा

संयुक्त परिवार प्रथा

---

१. (क) कुमारी वसुलक्ष्मीः कन्दुकमनुधावन्ती···।
—माल०, अंक ४, पृ० ३३५

(ख) एषा भर्तृदारिका माधवीलतामण्डपस्य पार्श्वतः कन्दुकेन क्रीडतीति।
—स्व० वा०, अंक २, पृ० ६७

२. कः कालोऽह्नं भर्तृदारिकाया वासवदत्ताया उदके क्रीडितुकामाया···।
—प्रतिज्ञा०, अंक ४, पृ० १०२

३. ततो गत्वोद्यानं यथासुखमाक्रीड्य निवर्तमानायां राजसुतायाम्···।
—अवि०, अंक १, पृ० ६

४. प्रवातशयने देवी निषण्णा······भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति।
—माल०, अंक ४, पृ० ३१७

५. अथ चेमे मयूरा अस्माकं राजकुलमानसे अतिपीठमर्दभावं कुर्वन्ति···।
शुकसारिकापि व्याख्यानमेव कथयितुमारब्धा। मम निर्वेदभावमजानन्ती भूतिकसारिकापि सर्वलोकवृत्तान्तं···। —अवि०, अंक ५, १२१-२२

के लिए अपने प्राणों तक का बलिदान करने को उद्यत रहता था। 'मध्यमव्यायोग' में केशवदास नामक ब्राह्मण के परिवार में त्याग की ऐसी ही उदात्त भूमिका परिलक्षित होती है। ब्राह्मण परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने परिवार की रक्षा के लिए प्राण-त्याग करने को उद्यत है। वृद्ध पिता अपने शरीर द्वारा पुत्र के जीवन की रक्षा करना चाहता है[1]। पत्नी अपने सौभाग्य की रक्षार्थ अपनी बलि देने को तत्पर है[2]। पुत्र गुरुजनों के प्राणों को बचाने के लिए अपने प्राणों का विनिमय करने की अभिलाषा रखता है[3]। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व को पूर्णरूपेण समझता था।

ऋग्वेद में संयुक्त परिवार के मर्म को इस प्रकार समझाया है—'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसिजानतम्।'[4] अर्थात् मनुष्यों को एक साथ चलना चाहिये, एक साथ बोलना चाहिये और एक-दूसरे के मन को अच्छी तरह समझना चाहिये। आजकल संयुक्त-परिवार-प्रथा के विभेदन का कारण स्वार्थ एवं द्वेष की भावना है। आज परिवार के प्रत्येक सदस्य में अहं की भावना ने प्रवेश कर लिया है जो पारिवारिक सुदृढ़ता के लिए अत्यन्त घातक है।

संयुक्त परिवार में वयोवृद्ध व्यक्ति गृहपति संज्ञा से विभूषित होता था। वह परिवार का मुखिया एवं सर्वेसर्वा होता था। उसका

गृहपति

प्रभुत्व सम्पूर्ण परिवार-जन पर रहता था। उसकी आज्ञा ही सर्वमान्य होती थी। आयु, अनुभव एवं ज्ञान की श्रेष्ठता के कारण उसके अधिकार सुरक्षित रहते थे। गृहपति की आज्ञा से

---

१. कृतकृत्यं शरीरं मे परिणामेन जर्जरम्।
राक्षसाग्नौ सुतापेक्षी होष्यामि विधिसंस्कृतम्।
—मध्यमव्यायोग, १.१५

२. पतिमात्रधर्मिणी पतिव्रतेति नाम। गृहीतफलेनैतेन शरीरेणार्यं कुलं च रक्षितुमिच्छामि। —मध्यमव्यायोग, अंक १, पृ० १४

३. विनिमाय गुरुप्राणान् स्वैः प्राणैर्गुरुवत्सल।
अकृतात्मदुरावापं ब्रह्मलोकमवाप्नुहि। —मध्यमव्यायोग, १.२१

४. ऋग्वेद, १०.१९१, १९२

पुत्र मृत्यु के मुख में जाने को भी उद्यत रहता था। 'मध्यमव्यायोग' में मध्यम पुत्र को राक्षसी का आहार बनना इसी बात का प्रमाण है[1]। गृहपति का समस्त पारिवारिक सदस्यों पर नियन्त्रण रहता था।

परिवार में गृहपति के पश्चात् गृहिणी का महत्त्वपूर्ण पद था। माता परिवार की स्वामिनी होती थी। परिवार की बाह्य व्यवस्था गृहपति सँभालता था और आन्तरिक व्यवस्था का भार गृहिणी के कन्धों पर रहता था। गृहिणी ही गृह की आन्तरिक नीति का परिचालन करती थी। वही परिवार के व्यक्तियों के आहार-विहार, आवास-निवास और रहन-सहन की व्यवस्था करती थी। पारिवारिक संयोजन की आधारशिला गृहस्वामिनी ही थी। वह गृहपति को धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक सभी कार्यों में सहयोग देती थी। धार्मिक कर्त्तव्य तो उसके बिना अपूर्ण समझे जाते थे। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के चतुर्थ अंक में शकुन्तला की विदा के अवसर पर कण्व लौकिक व्यवहार के ज्ञाता न होने पर भी गृहिणी के कर्त्तव्यों की बहुत सुन्दर रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं[2]।

गृहिणी

गृहपति एवं गृहिणी के अतिरिक्त पारिवारिक संयोजन एवं संघठन में परिवार के अन्य सदस्य भी सहयोग प्रदान करते थे।

प्राचीन पारिवारिक जीवन में शिष्टाचार एवं सदाचार का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। परिवार में प्रत्येक सदस्य अपने गुरुजनों या अनुजों को बड़े शिष्ट एवं सभ्य रूप से सम्बोधित करता था। बालक या अल्पायु गुरुजनों को अभिवादन करते समय

पारिवारिक शिष्टाचार

---

१. द्वितीयः —धन्योऽस्मि यद् गुरुप्राणाः स्वैः प्राणैः परिरक्षिताः।
बन्धुस्नेहाद्धि महतः कायस्नेहस्तु दुर्लभः॥

—मध्यमव्यायोग, १.२०

२. शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।

—अभि० शा०, ४.१८

'तात'[1], 'आर्य'[2], 'प्रणाम', 'वन्दे'[3], 'अभिवादये'[4] आदि शब्दों का प्रयोग करते थे, और गुरुजन आशीर्वाद या प्रत्युत्तर देते समय 'वत्स'[5], 'पुत्रक', 'स्वस्ति'[6] आदि का उच्चारण करते थे। पत्नी पति को 'आर्य'[7], या आर्यपुत्र कहकर सम्बोधित करती थी और पति पत्नी को 'प्रिये'[8], 'प्रेयसि'[9] आदि संज्ञाओं से अभिहित करता था।

---

१. भोस्तात ! अभिवादये। —मध्यमव्यायोग, अंक १, पृ० १७

२. आर्य ! मा मैवम्। —वही, अंक १, पृ० १५

३. तातवन्दे। —विक्र०, अंक ५, पृ० २४७

४. मध्यमव्यायोग, अंक १, पृ० १७

५. एहि वत्स ! —विक्र० अंक ५, पृ० २५६

६. स्वस्ति भवतो। —विक्र०, अंक ५, पृ० २४७

७. आर्य ! मा मैवम्। —मध्यमव्यायोग, अंक १, पृ० १४

८. हा प्रिये ! —मृच्छ०, अंक १०, पृ० ५६०

९. मृच्छ०, १०.५७

४

सामाजिक वर्ण एवं वर्ग-व्यवस्था

नाटकों में चित्रित समाज के विविध रूपों को जिन शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है, उनमें परिवार के पश्चात् 'सामाजिक वर्ण एवं वर्ग-व्यवस्था' परिगणित है। परिवार के समान ही वर्ण एवं वर्ग-व्यवस्था भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसमें भी समाज का एक रूप-विशेष, समाज की एक झाँकी दृष्टिगोचर होती है। प्रस्तुत अध्याय में उसी की विवेचना की जायगी।

देशकाल के वातावरण में मनुष्य की समष्टि ही समाज है। अतः समाज में व्यष्टिगत उन्नति एवं विकास की आधारशिला समष्टिगत उन्नति एवं विकास है।

वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व

संस्कृति एवं सभ्यता के क्षेत्र में मानव की प्रगति सामूहिक प्रयत्न एवं उपलब्धि का परिणाम है। व्यष्टि, समष्टि से विरहित कुछ भी उन्नति नहीं कर सकता है। उसके विकास के लिए सामाजिक उन्नति अनिवार्य है।

भारतीय मनीषियों ने सामाजिक विकास की दृष्टि से ही 'वर्णव्यवस्था' की कल्पना की थी। यह व्यवस्था समाजशास्त्रीय तत्त्वों के आधार पर विकसित हुई थी। इसके अनुसार समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभाजित किया गया था। यह विभाजन सम्भवतः अर्थशास्त्र के सिद्धान्त पर अवलम्बित था। चारों वर्णों के वर्ण-कर्त्तव्य एवं वर्ण-धर्म निश्चित थे।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में समाज की एक जीवित-जाग्रत-शरीर के रूप में कल्पना की गई है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः उस शरीर का मुख, भुजा, जंघा और चरण माना गया है[1]। यह रूपक समाज में वर्णों की आवश्यकता और महत्त्व का परिचायक है। शरीर में जिस प्रकार मुख, हाथ, जंघा और पैर का अपना-अपना अस्तित्व और महत्त्व है, उसी प्रकार चतुर्वर्ण भी समाज में आवश्यकतानुसार महत्त्वपूर्ण थे।

आलोच्य नाटक-युग में वर्ण-व्यवस्था का रूप सुस्थिर एवं दृढ़ था। वर्ण-चतुष्टय की शृङ्खला भारतीय समाज को अपने शक्तिशाली बन्धन में आबद्ध किये हुए थी।

वर्ण-विभाजन

नाटकों में आये हुए 'चतुर्णां वर्णानाम्'[2], 'वर्णेभ्यो'[3], 'वर्णाश्रमाणाम्'[4] आदि शब्द-प्रयोग तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था के स्थिर एवं नियत स्वरूप के ही परिचायक हैं। वर्ण-परम्परा और वर्ण-विभाजन के कारण समाज मर्यादित एवं सुगठित था। समाज में ब्राह्मणादि चारों वर्णों के धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित पृथक्-पृथक् आचार-धर्म एवं कर्त्तव्य थे। वर्णीय आचार-धर्म एवं कर्त्तव्य का पालन प्रत्येक सामाजिक के लिए अनिवार्य था। इस आदर्श की पूर्ति के लिए राजा अपनी प्रजा के साथ प्रयत्नशील रहता था। इसीलिये राजा को वर्ण-व्यवस्था का रक्षक[5] और चारों वर्णों को अभय प्रदान करने वाला[6] कहा गया है। राजा के समुचित अवेक्षण में प्रजा-जन अपने-अपने वर्ण-धर्म का पालन करते थे और निकृष्टतम वर्ण भी अपथ या अधर्म से बचने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता था[7]। राजा और प्रजा के सहयोग एवं सम्मिलित प्रयास से वर्ण-धर्म-व्यवस्था सुरक्षित थी।

---

१. ऋग्वेद, १०.९०.१२

२. ···चतुर्णां वर्णानामभयमिव···। —प्रतिमा०, ४.७

३. यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो··· । —अभि० शा०, २.१३

४. अभि० शा०, अंक ५, पृ० ८४

५. वही।

६. प्रतिमा०, ४.७

७. ···न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते। —अभि० शा०, ५.१०

वर्ण-क्रम की दृष्टि से तत्कालीन समाज में ब्राह्मण का प्रथम स्थान था। ब्राह्मण केवल वर्णों में ही नहीं, सम्पूर्ण पृथ्वी पर पूज्यतम माना जाता था[१]। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—

ब्राह्मण

ये तीनों वर्ण ब्राह्मण की सर्वात्मना पूजा एवं अभ्यर्चना करते थे। राजा विशिष्ट ब्राह्मणों के सत्कारार्थ आसन से उठ जाया करता था। यही कारण है कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त आसन छोड़ कर अग्निगृह में कण्व-शिष्यों के आगमन की प्रतीक्षा करता है[२]। 'मालविकाग्निमित्र' में राजा अग्निमित्र आचार्य गणदास और हरदास को देख कर आदरपूर्वक उन्हें स्थान देता है[३]। ब्राह्मण के समस्त अपराध क्षम्य थे[४]। ब्राह्मण-वध सबसे बड़ा पाप था। हत्या का अपराध करने पर भी ब्राह्मण अवध्य समझा जाता था। उसके लिए अक्षत-विभव सहित राष्ट्र-निष्कासन का दण्ड विहित था। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त के अपराधी सिद्ध होने पर भी न्यायाधीश उसे राष्ट्रनिष्कासन का दण्ड ही देता है[५]। क्षत्रिय लोग ब्राह्मण के प्राणों की रक्षा के लिए अपने प्राणों के उत्सर्ग को भी धर्म समझते थे[६]।

अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह-ब्राह्मण के ये षट्कर्म थे, जो उसकी जीवन-चर्या के अंग थे। विद्या ब्राह्मण का भूषण[७] और विद्याध्ययन उसका परम कर्त्तव्य था। वेद-वेदांगों के अनुशीलन और वेदमंत्रों के पठन-पाठन का प्रमुख अधिकारी ब्राह्मण ही था। वह श्रुतियों का ज्ञाता और वेदपाठ में निपुण होता था[८]। अध्ययन

---

१. द्विजोत्तमाः पूज्यतमाः पृथिव्याम्। —मध्यमव्यायोग, १.६

२. अभि० शा०, अंक ५, पृ० ८४

३. स्वागतं भवद्भ्याम्।······आसने तावदत्रभवतोः।
—माल०, अंक १, पृ० २७१

४. सर्वापरावेऽवध्यत्वान्मुच्यतां द्विजसत्तमः। —मध्यमव्यायोग, १.३४

५. मृच्छ०, ६.३६

६. क्षत्रियकुलोत्पन्नोऽहम्। पूज्यतमाः खलु ब्राह्मणाः। तस्माच्छरीरेण ब्राह्मणशरीरं विनिपातुमिच्छामि। —मध्यमव्यायोग, अंक १, पृ० ३४

७. विद्याविशेषालंकृतः किं कोऽपि ब्राह्मणयुवा काम्यते ?
—मृच्छ०, अंक २, पृ० ६७

८. पंचरात्र, १.५

के साथ-साथ अध्यापन भी ब्राह्मण का धर्म था। महर्षि कण्व और आचार्य द्रोण इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। ब्राह्मण-धर्म में यजन-याजन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। ब्राह्मण नित्य दैनिक हवन, यज्ञादि का अनुष्ठान करता था[1]। राजादि के यज्ञों में ब्राह्मण ही अनुष्ठाता होता था। राजा यज्ञों में विद्वान् ब्राह्मणों को आमंत्रित करता था और यज्ञावसान पर उन्हें प्रभूत दक्षिणा देता था[2]। ब्राह्मण को दक्षिणा देना पवित्र कार्य था। सामाजिक उत्सवों[3], समारोहों एवं व्रत-उपवासादि[4] धार्मिक क्रियाओं में ब्राह्मण-दक्षिणा का बड़ा माहात्म्य माना जाता था। कुछ ब्राह्मण ऐसे भी होते थे जो प्रतिग्रह, दक्षिणा आदि स्वीकार नहीं करते थे। 'मृच्छकटिक' में शर्विलक ऐसे ही चतुर्वेदज्ञ और अप्रतिग्राहक ब्राह्मण का पुत्र है[5]।

यज्ञोपवीत द्विजत्व का महदुपकरण था[6]। यज्ञोपवीत के बिना ब्राह्मण ब्राह्मणत्व का दावा नहीं कर सकता था। विशेष वेश-भूषा के साथ शिखा भी ब्राह्मणत्व का चिह्न थी[7]। यष्टि भी ब्राह्मण-वेश का एक आवश्यक उपकरण थी[8]।

विशेष परिस्थिति में ब्राह्मण जीविकोपार्जन के व्यापारादि इतर साधनों को भी स्वीकार कर सकता था। आपद्धर्म में ब्राह्मण को कृषि, गो-पालन तथा वाणिज्य वृत्ति स्वीकार करने की अनुमति मनुस्मृतिकार ने भी दी है[9]। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त इसका निदर्शन है। वह ब्राह्मण

---

१. भोः नैत्यकावसाने प्राणिधर्ममनुतिष्ठति मयि···प्रतिमागृहं प्रविष्टः।
—प्रतिमा०, अंक ३, पृ० ७७

२. पंचरात्र, १.४

३. वसन्तोत्सवोपायनलोलुपेनार्यगौतमेन। —माल०, अंक ३, पृ० ३०१

४. आर्य ! सम्पन्नं भोजनं निःसपत्नं च। अपि च दक्षिणा कापि ते भविष्यति।
—मृच्छ०, अंक १, पृ० १६

५. मृच्छ०, अंक ३, पृ० १६६

६. (क) यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम्···।
—मृच्छ०, अंक ३, पृ० १६३

(ख) मृच्छ०, १०.५५

७. अभि० शा०, अंक ५, पृ० ८०

८. विप्रा यान्ति वयःप्रकर्षशिथिला यष्टित्रिपादक्रमाः ···। —पंचरात्र, १.५

९. मनुस्मृति, १०.८२

रक्षा करें[१]। क्षत्रिय की सम्पत्ति उसके शस्त्र होते थे[२]। क्षत्रिय केवल प्रजा के पालन के लिए सम्पत्ति का अर्जन करता था, यहाँ तक कि अपना सर्वस्व तक ब्राह्मणों को दान में दे देता था[३]। वह अपने प्राणों द्वारा भी ब्राह्मण की रक्षा करने को तत्पर रहता था[४]। प्रतिज्ञा-पालन क्षत्रिय का व्रत था[५]। वचन-पालन के लिए वह प्राणोत्सर्ग तक कर देता था। क्षत्रिय-कुमार के लिए शस्त्र-विद्या एवं धनुर्वेद का ज्ञान परमावश्यक था। 'विक्रमोर्वशीय' में राजा पुरूरवा का पुत्र आयु च्यवन ऋषि के आश्रम में अन्य विद्याओं के साथ-साथ क्षत्रियोचित धनुर्वेद का ज्ञान भी प्राप्त करता है[६]।

क्षत्रिय भी ब्राह्मण के समान ही उच्च थे। अतः द्विज शब्द का प्रयोग क्षत्रियों के लिए भी होता था[७]। ब्राह्मणों की तरह उनके भी जात-कर्मादि संस्कार सम्पन्न होते थे[८]।

चतुर्वर्णों में वैश्य तृतीय वर्ण है। नाटकों में इस वर्ण के लिए 'वणिज'[९], 'नैगम'[१०], 'श्रेष्ठी'[११], 'सार्थवाह'[१२], 'विश'[१३] आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। ब्राह्मण और क्षत्रिय

वैश्य

के समान वैश्यों का भी समाज में उच्च स्थान था। व्यापार एवं वाणिज्य उनका

१. ···क्षात्रधर्मे यदि स्निग्धः कुर्याद् रामः पराक्रमम्। —प्रतिमा०, ५.२१
२. बाणाधीना क्षत्रियाणां समृद्धिः···। —पंचरात्र, १.२४
३. पंचरात्र, १.२४
४. मध्यमव्यायोग, अंक १, पृ० ३४
५. तस्मात् प्रतिज्ञां कुरु वीर! सत्यां सत्या प्रतिज्ञा हि सदा कुरूणाम्॥ —पंचरात्र, १.४९
६. गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः। —विक्र०, अंक ५, पृ० २४६
७. द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः। —मृच्छ० १.३
८. यत्क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादिविधानं तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्। —विक्र०, अंक ५, पृ० २४६
९. वणिजयुवा वा काम्यते। —मृच्छ०, अंक २, पृ० ९७
१०. विक्र०, ४.१३
११. श्रेष्ठिचत्वरे। —चारुदत्त, अंक ४, पृ० १११
१२. अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२१
१३. मृच्छ०, १.३२

प्रमुख व्यवसाय था। वैश्य देश को समृद्ध करने के लिए व्यापार में संलग्न रहते थे। वे अनेक नगरों में व्यापार करने जाते थे और अपने वैभव का विस्तार करते थे[१]। व्यापारियों के पृथक्-पृथक् समुदाय होते थे जो सार्थ[२], कहलाते थे। सार्थ का प्रधान सार्थवाह होता था। धन-प्रधान व्यवसाय के एवं कर्म के कारण वैश्यों का स्वभाव भी कटु और कर्कश हो जाता था। वे लोभी, समृद्ध, शिष्टजनद्वेषी और निज व्यवसाय में कठोर वन जाते थे[३]। स्थलीय व्यापार के साथ-साथ सामुद्रिक व्यापार भी प्रचलित था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में समुद्र-व्यवहारी धनमित्र इसका ज्वलन्त प्रमाण है[४]।

शूद्र

वर्ण-परम्परा में शूद्र का चतुर्थ स्थान है। समाज में यह वर्ण चारों वर्णों में अधम माना जाता था[५]। शूद्र के विषय में मनुस्मृति का कथन है—'शूद्रं तु कारयेद् दास्यं क्रीत-मक्रीतमेव वा। दास्यायैव हिसृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा'[६]। शूद्रों को उच्च वर्णों के समान कोई अधिकार प्राप्त न थे। द्विज की सेवा करना ही उनका वास्तविक धर्म था। ब्राह्मणादि के सदृश उनके जातकर्मादि षोडश संस्कार नहीं होते थे। उनको वेदमंत्रों के पठन-पाठन का अधिकार भी नहीं था। देवार्चन के समय भी वे वेदमंत्रों का उच्चारण किये बिना ही देवताओं को प्रणाम करते थे[७]। मनु के अनुसार उनके समस्त धार्मिक कार्य विना मन्त्रों के होने चाहिएँ[८]। उनके लिए कुछ भी पाप नहीं है, धर्म में उनका कुछ भी अधिकार नहीं है, न किसी भी

---

१. किमनेकनगराभिगमनजनितविभवविस्तारो वणिजयुवा···।
—मृच्छ०, अंक २, पृ० ९७

२. पथिकसार्थं विदिशाणामिमम्। —माल०, अंक ५, पृ० ३४८

३. चारुदत्त, ३.७

४. अभि० शा०, अंक ६, पृ०. १२१

५. वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः ···।
—मृच्छ०, १.३२

६. मनुस्मृति, ८.४१३

७. ···वार्षलस्तु प्रणामः स्यादमन्त्रार्चितदैवतः। —प्रतिमा०, ३.६

८. मनुस्मृति, १०.१२७

कार्य करने का प्रतिषेध है[१]। द्विज शूद्र को अस्पृश्य-सा समझते थे। शूद्रों का सान्निध्य वे कभी स्वीकार नहीं कर सकते थे[२]। शूद्र कुलीन व्यक्तियों को समादरपूर्वक अभिभाषित करते थे[३]।

अन्त्यज

तत्कालीन भारत में चतुर्वर्णों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लोग थे जो अन्त्यज[४] कहलाते थे। वे अस्पृश्य होने के कारण नगर से बाहर प्रच्छन्न रूप में रहते थे[५]। वे कुलविकल और कुलभ्रंश होते थे अर्थात् उनका कोई कुल नहीं होता था[६]। रूप, ज्ञान, बल, सम्पत्ति—सब कुछ प्राप्त कर लेने पर भी उनका चरित्र विशुद्ध नहीं होता था[७]।

अन्त्यजों के अन्तर्गत चाण्डाल भी परिगणित थे। समाज में उनका स्थान अत्यन्त निम्न था। उनकी सबसे नीच वृत्ति या आजीविका थी। वे वध, शीर्षच्छेदन और शूलारोपण में दक्ष होते थे[८]। नगर में प्रवेश करते समय वे ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ देते हुए चलते थे जिससे मनुष्य उनके स्पर्श-भय से मार्ग से हट जाएँ[९]। गुप्त-कालीन यात्री फ़ाह्यान ने अपने यात्रा-विवरण में चाण्डालों की स्थिति के विषय में लिखा है कि "जब वे नगर में प्रवेश करते हैं तो सूचना देने के लिए लकड़ी का ढोल बजाते हुए चलते हैं, जिससे लोग उनके मार्ग से हट जाएँ तथा उनका स्पर्श बचा कर चलें। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।"

---

१. मनुस्मृति, १०.१२६
२. ···द्विज इव वृषलं पार्श्वे न सहते। —पंचरात्र, १.६
३. नीचैरप्यभिभाष्यन्ते नामभिः क्षत्रियान्वयाः। —पंचरात्र, २.४७
४. श्रुतमस्माभिरन्त्यज इति। —अवि०, अंक १, पृ० १७
५. अवि०, ६.८
६. ऋषिशापेन कुलपरिभ्रंशमन्त्यजकुलप्रवासमात्मनो···। —अवि०, अंक २, पृ० २६
७. अवि०, २.५
८. मृच्छ०, १०.१
९. अपसरत आर्याः, अपसरत। किं प्रेक्षध्वे। —मृच्छ०, अंक १०, पृ० ५२५

सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ-साथ चातुर्वर्ण्य में अन्तर्जातीय विवाह-पद्धति के प्रचलन से वर्ण-संकरता का जन्म हो गया था जिससे जाति-भेद का प्रादुर्भाव भी हो गया था। 'मालविकाग्निमित्र' में महारानी धारिणी का वर्णावर भ्राता वीरसेन[1] सम्भवतः वर्णसंकर सन्तान ही है। इसके अतिरिक्त अनेक व्यवसायों तथा उद्योगों के कारण भी जाति-भेद को प्रोत्साहन मिला था। पृथक्-पृथक् व्यवसाय और आजीविका ग्रहण करने वालों के पृथक्-पृथक् समुदाय एवं वर्ग बनने लग गये थे जो आगे चलकर व्यावसायिक जातियों में परिवर्तित हो गये। उदाहरण के लिए शिल्पकार[2], धीवर,[3] लुब्धक,[4] नापित,[5] चर्मकार,[6] श्रावक,[7] कुम्भकार[8] आदि इसी प्रकार की व्यावसायिक जातियाँ हैं। ये जातियाँ अपने पैतृक व्यवसाय को ही स्वीकार करती थीं। परम्परागत पैतृक-कर्म निन्दित एवं घृणित होने पर भी, परिहरणीय नहीं था[9]।

जाति-व्यवस्था

सभ्य जातियों के अतिरिक्त यवनी,[10] खस, खत्ति, खड़ा, खडह, विलय, कर्णाट, कर्ण, प्रावरण, द्रविड़, चोल, चीन, वर्बर, खेर, खान, मुख, मधुघात[11] आदि म्लेच्छ एवं अनार्य-जातियाँ भी विद्यमान थीं। वे देशभाषा का समुचित ज्ञान न होने के

अनार्य-जातियाँ

---

१. अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम। —माल०, अंक १, पृ० २६६

२. अहो वकुलावलिका। सखि ! देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतम्....।
—माल०, अंक १, पृ० २६३

३. अभि० शा०, अंक ६, पृ० ६७

४. अभि० शा०, अंक २, पृ० २७

५. मृच्छ० ६.२२

६. अहं चन्दनकश्चर्मकारः। —मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३५२

७. मृच्छ०, अंक ८, पृ० ३७८

८. वही।

९. सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्। —अभि० शा० ६.१

१०. एवं बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिः। —अभि० शा०, अंक २, पृ० २७

११. मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३४६

कारण उसका अशुद्ध एवं इच्छानुसार उच्चारण करती थीं[1]।

यहाँ यह विचारणीय तथ्य है कि विवेच्य नाटककारों में से कालिदास और शूद्रक के नाटकों में तो विविध जातियों का वर्णन हुआ है, किन्तु भास के नाटकों में जाति-संकेत नहीं मिलता।

इसके आधार पर हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

१. भास ने जाति-भेद की उपेक्षा की है।

२. अथवा भास-युग में जाति-भेद का उदय विशेष ध्यान देने योग्य था ही नहीं।

३. भास-युग में कालिदास-युग की अपेक्षा वर्ण-व्यवस्था अधिक कठोर थी।

४. कालिदास-युग में नाटकों में जाति-वर्णन मिलता है और भास के नाटकों में नहीं मिलता। यदि इसका कारण भास की उपेक्षा नहीं है, तो कालिदास-युग में जात्यभ्युदय भास-युग को कालिदास-युग से पूर्ववर्ती प्रमाणित करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों की वर्ण-व्यवस्था ने अपने विकास-क्रम में अनेक जातियों के लिए भूमिका तैयार कर दी थी जिसको व्यावसायिक एवं औद्योगिक विकास ने और भी अधिक विकसित कर दिया। इससे वर्ग-भेद के प्रजनन में अर्थ-व्यवस्था को भी अवसर मिल गया। धनी और निर्धन, सेठ और दीन तथा संन्यासी और गृहस्थ के बीच अर्थ-व्यवस्था की उपेक्षा नहीं की जा सकती। राजा और रंक के बीच भी अर्थ-भेद स्पष्टत: दृष्टिगोचर हो रहा है।

वर्ग-भेद

वर्ग-भेद पैदा करने में धर्म का भी बहुत कुछ हाथ रहा है। गृहस्थ और परिव्राजक के वर्ग मूलत: आश्रम-धर्म से प्रेरित हुए जिनके बीच धीरे-धीरे अर्थ-भेद भी अपना रंग दिखाने लग गया। जो हो, वर्णाश्रम-व्यवस्था ने वर्ग-सृष्टि में जो कुछ योग दिया वह तो दिया ही, बाद में विकसित आर्थिक ढाँचे ने भी उसके विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

---

१. मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३४९

आलोच्य युग में राजा-प्रजा, धनी-निर्धन, गृहस्थ-संन्यासी, स्वामी-सेवक और गुरु-शिष्य आदि अनेक सामाजिक वर्ग-भेद दिखायी देते हैं।

राजा-प्रजा

उक्त भेदों में राजा-प्रजा का वर्ग-भेद प्रमुख था। राजा प्रजा का शासकीय और प्राकृतिक दोनों प्रकार का सम्बन्ध था। प्राचीन साहित्य से ज्ञात होता है कि समाज ने अराजकता को दूर करने के लिए तथा शान्ति-स्थापन के लिए राजा का नियन्त्रण स्वीकार किया था। प्रजा का रक्षण एवं पालन राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था। जिस प्रकार सूर्य अन्धकार का विनाश करता है उसी प्रकार राजा प्रजा का रक्षण और उसका कष्ट-निवारण करता था[1]। वह अपने सुखों का परित्याग कर प्रजा-रंजन में दत्तचित्त रहता था[2]। राजा-प्रजा का सम्बन्ध पिता-पुत्रवत् था। जिस प्रकार पिता पुत्र के कष्टों को दूर करने के लिए सदैव तत्पर रहता है, उसी प्रकार राजा-प्रजा की समस्याओं और कष्टों के निवारणार्थ सदैव उद्यत रहता था[3]। प्रजा के साथ बन्धुवत् सम्बन्ध का यह अर्थ नहीं था कि राजा दुष्टों, दुर्विनीतों और कुमार्ग-गामियों को दण्डित नहीं करता था। वह राजदण्ड हाथ में लेकर कुमार्ग-गामियों को नियन्त्रित करता था और पारस्परिक विवादों का शमन करता था[4]। राजा स्वयं मर्यादा-पालक होता था और प्रजा को भी मर्यादा-पालन की शिक्षा देता था। राज्य में राज-भय से निकृष्टवर्णीय व्यक्ति तक कुपथ का अनुसरण नहीं करते थे। फिर ब्राह्मणादि उच्चवर्णों का तो कहना ही क्या[5] ? प्रजा के लिए राजा सर्वस्व त्याग करने को उद्यत रहता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजा

---

१. आलोकान्तात्प्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानां
तुल्योद्योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतो नः। —विक्र०, २.१

२. अभि० शा०, ५.७

३. अभि० शा०, ५.५

४. नियमयसि कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय। —अभि० शा०, ५.८

५. महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ।
न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते। —अभि० शा०, ५.१०

दुष्यन्त की घोषणा कितनी मर्मस्पर्शी है[1]। उसके हृदय में प्रजा के प्रति कितना स्नेह और सद्भाव है। जनता के लिए उसका हृदय टूक-टूक हो जाता है।

राज्याभिषेक के पश्चात् राजा सर्वप्रथम यही कहता था कि 'मैं अब पृथ्वी पर पुण्यभार को वहन करने वाला राजा बन गया हूँ। मैंने न्यायपूर्वक प्रजापालन का उत्तरदायित्व उठा लिया है[2]।' राजा न्याय का प्रतीक होता था। प्रजा के निष्पक्ष न्याय के लिए वह स्वयं धर्मासन पर बैठकर पौरकार्यों का अवेक्षण-निरीक्षण करता था[3]। वह प्रजा के कल्याणार्थ चारों वर्णों से आय का षष्ठभाग कर रूप में ग्रहण करता था[4]।

धनी-निर्धन भेद

राजा-प्रजा के पश्चात् दूसरा भेद धनी-निर्धन का था। जिस प्रकार आधुनिक समाज में शोषक-शोष्य या पूंजीपति-मजदूर वर्ग का साम्राज्य है उसी प्रकार तत्कालीन समाज में धनिक-निर्धन वर्ग विद्यमान था। समाज में जहाँ एक ओर वसन्तसेना और धनमित्र जैसे धनिक एवं समृद्ध व्यक्ति थे, वहाँ दूसरी ओर धीवर और चारुदत्त जैसे दरिद्रों का भी अस्तित्व था। धनिक-जन 'सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ते' इस उक्ति को चरितार्थ करते थे अर्थात् ऐश्वर्यशालियों में समस्त गुणों का समावेश स्वीकार किया जाता था। इसके विपरीत निर्धन व्यक्ति में समस्त दुर्गुणों का आश्रय था। दरिद्र को जीवन की कठोर आपदाओं का सामना करना पड़ता था, यहाँ तक कि उसे चारित्रिक सुरक्षा की भी सदा चिन्ता रहती थी। 'मृच्छकटिक' में आभूषणों के चोरी चले जाने पर चारुदत्त को सबसे बड़ी चिन्ता यही होती

---

१. येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन वन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥ —अभि० शा०, ६.२३

२. राजा किलास्मि भुवि सत्कृतभारवाही,
धर्मेण लोकपरिरक्षणमभ्युपेतम्। —प्रतिमा०, ७.११

३. वेत्रवति, मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधनान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्यदीयतामिति। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०७

४. यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो: नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः॥ —अभि० शा०, २.१३

है कि सब लोग दरिद्र होने के कारण मेरे चरित्र पर ही सन्देह करेंगे, वास्तविकता पर कौन विश्वास करेगा[1] ?

समाज में निर्धनों की अत्यन्त हीनावस्था थी। निर्धनता की अपेक्षा मृत्यु अधिक शान्तिप्रद समझी जाती थी[2]। धनहीन की सभ्य-वर्ग में कोई प्रतिष्ठा नहीं थी। जिस प्रकार मदजल पीने के लिए मँडराते हुए भ्रमर समय के फेर से शुष्क मदलेखा वाले हाथी के कपोलस्थल पर घूमना छोड़ देते हैं उसी प्रकार समय-चक्र से बन्धु-बान्धव भी दरिद्र का परित्याग कर देते थे[3]। निर्धनता मनुष्यों की चिन्ता का आश्रय, शत्रुओं द्वारा अपमान का स्थान, द्वितीयशत्रु, आत्मीयजन के वैर का कारण मानी जाती थी। दरिद्र को आपत्तियों की शृङ्खला के कारण घर छोड़ कर वन चले जाने की इच्छा होती थी[4]। निर्धन का कोई संसर्ग नहीं चाहता था और न उससे कोई आदर से बोलता था। यदि वह उत्सव आदि के अवसर पर धनिकों के घर चला जाता था तो वहाँ उसे अनादर एवं अपमान ही प्राप्त होता था[5]। धनिकों में धन का गर्व या मद रहता था। वे व्यक्ति के गुणों का मान नहीं करते थे, वरन् धन एवं अर्थ को ही सर्वस्व समझ कर उसी की पूजा करते थे। समाज में इसके अपवाद भी थे। वसन्त-सेना जैसी धनवती वेश्या निर्धन चारुदत्त के गुणों पर मुग्ध होकर ही उससे प्रेम करती है[6]। चारुदत्त अपनी सम्पन्नावस्था में अपनी समस्त सम्पत्ति, भवन, विहार, देवालय, कूप, तड़ाग आदि सार्वजनिक

---

१. कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तूलयिष्यति ।
शंकनीया हि लोकेऽस्मिन् निष्प्रतापा दरिद्रता ॥ —मृच्छ०, ३.२४

२. दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम् ।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥ —मृच्छ०, १.११

३. मृच्छ०, १.१२

४. मृच्छ०, १.१५

५. सङ्गं नैव हि कश्चिदस्य कुरुते सम्भाषते नादरात् ।
सम्प्राप्ते गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमालोक्यते ॥ —मृच्छ०, १.३७

६. दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोके अवचनीया भवति ।
मृच्छ०, अंक २, पृ० ९९

स्थानों के निर्माण में व्यय कर[1] और याचकों को प्रभूत दान देकर[2] दरिद्र बन जाता है।

गृहस्थ-संन्यासी

समाज में एक वर्गभेद गृहस्थ-संन्यासी का भी था। गृहस्थ लोक-मर्यादा में रहकर परिवार और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता था। परिवार-रक्षण एवं पालन गृहस्थ का प्रधान कर्त्तव्य था। इसके लिए वह अपना पैतृक-कर्म या आजीविका ही ग्रहण करता था[3]। परिवार के साथ-साथ समाज का भी उस पर ऋण रहता था। समाज के नियमों एवं परम्पराओं का पालन उसके लिए अनिवार्य था। वह लोक-मर्यादा एवं लोक-समय को उल्लंघन कर लोकापवाद एवं सामाजिक निन्दा का भागी बनना नहीं चाहता था। अभिषेक नाटक में राम लंका-विजय के पश्चात् शत्रु रावण के प्रासाद में रही हुई सीता को उसकी शुचिता जानते हुए भी लोकापवाद के भय से पत्नी रूप में ग्रहण नहीं करते हैं[4]। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त लोक-मर्यादा का अनन्य प्रतीक है[5]। प्रतिहारी दुष्यन्त की प्रशंसा करते हुए कहता है कि 'महाराज धर्म एवं मर्यादा का कितना ध्यान रखते हैं। अन्यथा ऐसे अलौकिक रूप को प्राप्त कर कौन सोच-विचार करता[6]? गृहस्थ की नैतिक एवं आध्यात्मिक शुद्धि के लिए दैनिक एवं धार्मिक अनुष्ठान भी विहित थे। इन अनुष्ठानों में व्रत, उपवास, धर्माचरण, तन, मन, वचन तथा कर्म से देवार्चन आदि समाविष्ट थे। 'मृच्छकटिक' में मैत्रेय द्वारा देवपूजन

---

१. येन तावत् पुरस्थापनविहारारामदेवकुलतडागकूपयूपैरलंकृता नगरी।
—मृच्छ०, अंक ६, पृ० ५०४

२. प्रणयिजनसंक्रामितविभवस्य। —मृच्छ०, अंक १, पृ० २७

३. सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्। —अभि० शा०, ६.१

४. जानतापि च वैदेह्याः शुचितां धूमकेतन!।
प्रत्ययार्थं हि लोकानामेवमेव मया कृतम्॥ —अभि०, ६.२६

५. अभि० शा०, ५.१०

६. अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति। —अभि० शा०, अंक ५, पृ० ८८

की निन्दा करने पर चारुदत्त कहता है—'हे मित्र ! ऐसा मत कहो। तन, मन, वचन तथा बलिकर्म द्वारा गृह देवताओं का पूजन गृहस्थ का नित्य नियम है'[१]।

गृहस्थ-जन ही वार्धक्यावस्था आने पर अपने पुत्रादि पर कुटुम्ब का भार सौंप कर वानप्रस्थी या संन्यासी बन जाते थे। 'प्रतिमा नाटक' में महाराज दशरथ अपने पुत्र राम को राज्याभिषिक्त कर वन जाने का विचार करते हैं[२]। कुछ ऐसे भी संन्यासी थे जिन्होंने सांसारिक कष्टों और आपदाओं से उद्विग्न होकर परिव्राजकत्व ग्रहण कर लिया था। संवाहक द्यूतकर द्वारा किये गए अपमान से खिन्न होकर शाक्य श्रमणक बन जाता है[३]। संन्यासियों के लिए सिर मुँडाना ही पर्याप्त न था वरन् इन्द्रिय-दमन भी उनके लिए आवश्यक था[४]।

तपस्वी एवं ऋषि लोग भी प्रायः संन्यासि-कोटि के ही होते थे। धर्मानुष्ठान और तपश्चरण ही इनका जीवन-धर्म था। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में शकुन्तला की विदा के समय भी महर्षि कण्व को अपने तपोपरोध की चिन्ता भी पीड़ित करती है[५]। तपस्वी-जन नगर के अपमानों और दोषों से वचने के लिए शान्त आश्रम में निवास करते थे[६]। उनका जीवन शमप्रधान और तेजोमय होता था[७]। आश्रमवासी ऋषि नगर के सुखासक्त व्यक्तियों को उसी प्रकार समझते थे जिस प्रकार स्नात तैलालिप्त को, पवित्र अपवित्र को और जाग्रत सुप्त को समझता है[८]। आश्रमवासियों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व राजा पर होता था। तपस्वियों के धर्मोपरोधों और विघ्नों के परिज्ञान के लिए

१. मृच्छ०, अंक १, पृ० ३३
२. एवं मया श्रुतं—भर्तृदारकमभिषिच्य महाराजो वनं गमिष्यतीति।
—प्रतिमा०, अंक १, पृ० १७
३. अथैव कदाचिन्निर्वेदेन प्रव्रजेयम्। —चारुदत्त, अंक २, पृ० ६६
४. मृच्छ०, ८.३
५. वत्से ! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्। —अभि० शा०, अंक ४, पृ० ७७
६. स्व० वा०, १.५
७. शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः। —अभि० शा०, २.७
८. अभि० शा०, ५.११

राजा की ओर से एक धर्माधिकारी नियुक्त होता था[1]। राजा ऋषियों की तपस्या में बाधक विघ्नों का निवारण करता था और तपोवन के प्राणियों के साथ असत् व्यवहार करने-वालें को दण्ड देता था[2]।

तत्कालीन समाज में स्वामी-सेवक भेद भी विद्यमान था जो आज भी मिटा नहीं है। किन्तु उस समय स्वामी और सेवक में अत्यन्त सद्भावपूर्ण सम्बन्ध था। स्वामी सेवकों के साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था और सेवकों की भी स्वामी के प्रति अनन्य

स्वामी-सेवक भेद

भक्ति होती थी। सेवकों के साथ दया और स्नेह का व्यवहार करना ही उचित माना जाता था। कण्व शकुन्तला को पतिगृह-गमन के समय अपने परिजनों के प्रति उदार रहने की शिक्षा देते हैं[3]। सेवक का आदर्श अपने स्वामी के प्रति अनन्य निष्ठा और प्रेम था। सेवक स्वामी का अन्न खा कर उसके प्रति कपट नहीं करता था[4]। स्वामी को विपत्ति से बचाने के लिए वह अपने प्राण तक बलिदान करने को तत्पर रहता था। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायरण' में यौगन्धरायरण ऐसा ही स्वामि-भक्त अमात्य है। उसकी यह उक्ति "स्वामी रिपुनगर, बन्धनागार, वन, सर्वत्र मुझे अपने समीप ही पायेंगे" कितनी हृदयस्पर्शी है[5]। वह राजा के सुख-दुःख का साथी है। वह अपने बुद्धि-चातुर्य से अनेक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर अपने स्वामी को महासेन के बन्धन से मुक्त कराता है[6]। सेवक अपने स्वामी के सुख से सुखी और दुःख से दुःखी रहते थे। 'स्वप्नवासवदत्त' में रुमण्वान् वासवदत्ता के मरण से विषण्ण राजा के दुःख से अत्यन्त खिन्न है और उसे यथाशक्ति आश्वसित करने का

---

१. अभि० शा०, अंक १, पृ० १८

२. अभि० शा०, ५.८

३. भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी…।

—अभि० शा०, ४.१८

४. तेन हि अनर्हप्रतिक्रियमनिर्विष्टभर्तृपिण्डमनुपकृतराजसत्कारं यदि खलु मां द्रष्टव्यं मन्यते स्वामी। —प्रतिज्ञा०, अंक १, पृ० ३४

५. प्रतिज्ञा०, १.४

६. रिपुगतमपनीय वत्सराजं ग्रहणमुपेत्य रणे स्वशस्त्रदोषात्।
अयमहमपनीतभर्तृदुःखो जितमिति राजकुले सुखं विशामि॥

—प्रतिज्ञा०, ४.५

प्रयत्न करता है। वह स्वामी के भूखे रहने पर स्वयं भी कुछ नहीं खाता। उसके साथ-साथ अश्रुविमोचन करता है और राजा के समान ही दुःखी रहता है[1]। स्वामियों का सेवकों पर प्रभुत्व रहता था। अतः सेवक अपने स्वामी की आलोचना करने में भयभीत रहते थे। 'अविमारक' में राजा कुन्तिभोज जब अपनी कन्या के वर-निर्णयार्थ अमात्य भूतिक से परामर्श करते हैं तो अमात्य अपना मन्तव्य प्रकट करने में हिचकिचाता है[2]। सेवकों की स्वामी के प्रति अनन्य निष्ठा का कारण सम्भवतः स्वामी का भृत्य के प्रति उदार एवं सद्भावमय व्यवहार ही था। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में राजा उदयन विपत्ति के समय अपने स्वामि-भक्त अमात्य का ही स्मरण करता है[3]।

तत्कालीन समाज में दास-प्रथा भी प्रचलित थी। धनिकों के गृहों में विभवानुसार दास रहते थे। दासों का क्रय-विक्रय होता था। दास स्वामी की आजन्म सेवा करते थे। दासत्व से मुक्ति प्राप्त करने के लिए मूल्य देना पड़ता था। 'चारुदत्त नाटक' में सज्जलक अपनी प्रेमिका मदनिका को वसन्तसेना के दासत्व से मुक्ति दिलाने के लिए चोरी करके आभूषण लाता है[4]। दासों की समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं थी। दासत्व का कारण पूर्वजन्मकृत पाप माना जाता था। अतएव दास जन्मान्तर में दासत्व से मुक्ति पाने के लिए दुष्कर्मों और पापों से दूर रहने का प्रयत्न करते थे[5]।

यह भेद ही नहीं एक विशेष सामाजिक और धार्मिक सम्बन्ध भी था। गुरु और शिष्य भावी समाज-निर्माण के आधार-स्तम्भ थे।

गुरु-शिष्य भेद

समाज के विकास में उनका महान् योग था। विवेच्य नाटकों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन युग में गुरु-

---

१. स्व० वा०, १.१४

२. न भृत्यदूषणीया राजानः, स्वामिनो हि स्वाम्यममात्यानाम्।
—अवि०, अंक १, पृ० २१

३. मा तावत्। सर्वसचिवमण्डलमतिक्रम्यैको यौगन्धरायणो द्रष्टव्य इत्याह।
—प्रतिज्ञा०, अंक १, पृ० ३४

४. यावदिदानीं वसन्तसेनायाः परिचारिकाया मदनिकाया निष्क्रयार्थं मयेदं कृतम्। —चारुदत्त, अंक ४, पृ० १०७

५. येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः।
अधिकं च न क्रेष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि॥ —मृच्छ० ८.२५

शिष्य का पिता-पुत्रवत् घनिष्ठ सम्बन्ध था। गुरु अपने शिष्यों के साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था और शिष्य भी पिता के सदृश गुरु का आदर करते थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में महर्षि कण्व अपने शिष्यों को शकुन्तला को पतिगृह तक पहुँचाने के लिए पिता के समान आदेश देते हैं—'जाओ, अपनी भगिनी को पहुँचा आओ[1]।' माता-पिता बाल्यावस्था में ही अपने पुत्र को विद्याध्ययन के लिए गुरु के हाथों में सौंप देते थे। गुरु की शिक्षा ही शिष्य के चरित्र एवं भविष्य का निर्माण करती थी। शिष्य-दोष का कारण गुरु की अयोग्यता माना जाता था। उसमें माता-पिता को अपराधी नहीं स्वीकार किया जा सकता था[2]। शिष्य की सुपात्रता का परीक्षण ही गुरु की योग्यता का प्रमाण था। शिष्य के चयन में ही गुरु की सार्थकता थी। यदि गुरु कुपात्र शिष्य को शिक्षा देता था तो इससे उसके बुद्धि-लाघव का प्रकाशन होता था[3]। कुपात्र को शिक्षा देना गुरु के शोक का कारण वन जाता था, किन्तु सुपात्र को अपना ज्ञान प्रदान कर वह निश्चिन्त हो जाता था[4]। महर्षि कण्व जैसे गुरु निःस्वार्थ एवं निर्लोभ भाव से अपने शिष्यों को धार्मिक एवं शास्त्रीय विषयों की शिक्षा देते थे। आजीविका की दृष्टि से अध्यापन विद्यादान न होकर ज्ञान का व्यापार माना जाता था[5]। तथापि आचार्य हरदास और गणदास जैसे वैतनिक अध्यापक भी थे जो आजीविका के अर्थ अध्यापन का कार्य करते थे[6]।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि आलोच्य नाटकों के युग में वर्ण, जाति एवं वर्ग त्रिविध व्यवस्था का साम्राज्य था। हाँ, देशकालानुसार इन व्यवस्थाओं के स्वरूप में

---

१. भगिन्यास्ते मार्गमादेशय। —अभि० शा०, अंक ४, पृ० ६९

२. अतीत्य वन्धूनवलंघ्य मित्राण्याचार्यमागच्छति शिष्यदोषः।
बाल ह्यपत्यं गुरवेप्रदातुर्नैवापराधोऽस्ति पितुर्न मातुः॥ —पंचरात्र, १.१९

३. विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयतीति।
—माल०, अंक १, पृ० २७५

४. सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता।—अभि० शा०, अंक ४, पृ० ६३

५. माल०, १.१७

६. भवति ! पश्याम उदरंभरिसंवादम्। किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम्।
—माल०, अंक १, पृ० २७४

अल्पाधिक अन्तर आ गया था। भास-युग में प्राचीन वर्ण-व्यवस्था ही प्रचलित थी। वर्ण-चतुष्टय के बन्धन अत्यन्त दृढ़ एवं सुस्थिर थे। वर्ण-संकरता का अभाव था। इसके विपरीत कालिदास-युग में वर्ण-परम्परा की शृङ्खला शिथिल परिलक्षित होती है। इस काल में वर्ण-व्यवस्था की शिथिलता के फलस्वरूप जाति-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो चुका था। शूद्रक के समय में वर्ण-परम्परा का ह्रास और जाति-व्यवस्था का उत्कर्ष दिखाई देता है। इस समय तक समाज में अनेक जातियाँ और वर्ण प्रादुर्भूत हो चुके थे और जातिगत एवं वर्गगत संघर्ष भी प्रारम्भ हो गया था।

५

विवेच्य नाटकों में नारी का स्थान

भारतीय नारी का इतिहास हमारी संस्कृति के इतिहास का अभिन्न अंग है। नारी की स्थिति-परिस्थितियों ने अनेक सामाजिक मोड़ों में सांस्कृतिक इतिहास के अनेक अध्यायों का निर्माण किया है। विवेच्य नाटकों में नारी-निरूपण एक ऐसे ही अध्याय को प्रस्तुत करता है।

समाज का अभिन्न अंग

मानव-सृष्टि में नर और नारी का स्थान एक-दूसरे के पूरक का है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। दोनों की प्रकृति और कृति भिन्न हो सकती है, किन्तु दोनों का लक्ष्य भिन्न नहीं है। पथ भी एक ही है। उनके जिस परिपार्श्व में पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है वह एकता का साधक है, बाधक नहीं। न तो नर अपने निमित्त है और न नारी। जिस प्रकार गाड़ी अपने दोनों पहियों से ही गन्तव्य पर पहुँच सकती है उसी प्रकार मानव-सृष्टि की लक्ष्य-सिद्धि भी नर और नारी दोनों से ही सम्भव है। सृष्टि की गति दोनों से है, एक से नहीं।

प्राचीन भारतीय समाज में नारी-विषयक दृष्टिकोण उदार एवं विशाल था। वैदिक आर्यों की दृष्टि में नारी धर्म एवं अर्थ की प्रदात्री, वैभव और सौख्य की जननी, गृहलक्ष्मीरूपा और सर्वपूज्या समझी जाती थी[१]। भरत मुनि ने भी अपने 'नाट्यशास्त्र' में इसी बात का समर्थन किया है। उनके अनुसार संसार में मानवमात्र का चरम लक्ष्य सुख है और सुख का मूलाधार नारी है[२]। मनु भी इसी सिद्धान्त में

---

१. देखिये, रत्नमयी देवी दीक्षित : वीमेन इन संस्कृत ड्रामाज़, पृ० १५

२. सर्वः प्रायेण लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा।
सुखस्य च स्त्रियो मूलं नानाशीलधराश्च ताः॥ —नाट्यशास्त्र, २०.९३

विश्वास करते हैं कि 'जहाँ नारियों का आदर एवं सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं और जहाँ उनको अपमान एवं अनादर की दृष्टि से देखा जाता है वहाँ सभी क्रियाएँ निष्फल सिद्ध होती हैं[१]।' 'जो पुरुष है वही स्त्री है'[२] मनुस्मृति के इस वाक्यांश में नारी को पुरुष के समान ही समाज का अविभाज्य एवं प्रमुख अंग माना गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि 'पत्नी पुरुष की आत्मा का आधा भाग है। इसलिए जब तक पुरुष पत्नी को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक प्रजोत्पादन न होने से वह अपूर्ण रहता है[३]।' 'महाभारत' में भी नारी के माहात्म्य के विषय में लिखा है कि 'भार्या पुरुष का आधा भाग है। वह उसका सबसे उत्तम मित्र है। भार्या त्रिवर्ग का मूल है और संसार-सागर से तरने के इच्छुक पुरुष के लिए भार्या ही प्रमुख साधन है[४]।'

प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता के विवेचक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार 'स्त्री वृत्त का व्यास है और पुरुष उसकी परिधि है। जिस प्रकार वृत्त के व्यास को तिगुना करके परिधि बनती है उसी प्रकार स्त्री के जीवन से गुणित होकर पुरुष का जीवन बनता है। यही पति-पत्नी या गृहस्थ के जीवन का साज-संगीत है[५]।' देश के महान् समाज-सुधारक लाला लाजपतराय ने एक बार ठीक ही कहा था कि 'स्त्रियों का प्रश्न पुरुषों का प्रश्न है। चाहे भूतकाल हो, चाहे भविष्य, पुरुषों की उन्नति बहुत कुछ स्त्रियों की उन्नति पर निर्भर है।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि कोमल संवेदनशील नारी समाज और सामाजिक क्रिया-कलाप का अटूट अंश है। सभ्यता और संस्कृति के विकास में उसने सदैव सक्रिय योग दिया है, दे रही है और देती रहेगी। एक ओर नारी के लोरी गाने वाले मधुर कण्ठ में राष्ट्रनायकों को कर्त्तव्य की प्रेरणा देने की यदि क्षमता विद्यमान है तो दूसरी ओर उसके पलना झुलाने वाले करों में विश्व पर शासन करने की शक्ति निहित है। सुशीलता, तितिक्षा, समर्पण, उत्सर्ग,

---

१. मनुस्मृति, ३.५६

२. वही, ९.४५

३. शतपथ-ब्राह्मण, ५. २. १.१०

४. महाभारत, आदि पर्व, ७४.४१

५. हिन्दु परिवार-मीमांसा की भूमिका, पृ० २५

व्यवस्था, लज्जा और प्रेम की साक्षात् प्रतिमा नारी, कन्या, गृहिणी, सहचरी और माता के कर्मठ रूपों में परिवार, समाज और राष्ट्र की की मंगलविधात्री है।

आलोच्य-नाटक-युग में नारी की अवस्था ह्रासोन्मुख दृष्टिगोचर होती है। उसकी सामाजिक स्थिति प्रशंसनीय नहीं थी।

नारी का पद

नारी-विषयक उदार एवं विशाल दृष्टीकोण समाप्तप्राय था। उसका वैदिकयुगीन देवी-पद लुप्त हो चुका था। गार्हस्थ्य एवं दाम्पत्य जीवन के उच्चादर्श केवल वर्णन की वस्तु रह गये थे। नारी-स्वातन्त्र्य नाम मात्र के लिए था। नारी सामाजिक नियमों एवं वन्धनों की शृङ्खला में आवद्ध हो गई थी। गुरुजनों,[1] के साथ पति[2] का नियन्त्रण तो उस पर पहले से ही था और वह लोकसम्मत था।

समाज में नारी की प्राथमिक एवं अनिवार्य कर्मभूमि गृह एवं परिवार ही था। नाटकों में प्रयुक्त 'कुटुम्विनी'[3] एवं 'गृहिणी'[4]

गृहपद

शब्दों से भी यही व्यंजित होता है कि नारी का कार्यक्षेत्र विस्तृत होने की अपेक्षा प्रायः गृह एवं परिवार तक ही सीमित था। वह घर की स्वामिनी और प्रवर्तिका होती थी। वह गृह की आन्तरिक व्यवस्था का सुचारु निरीक्षण एवं अवेक्षण करती थी। गार्हस्थ्य एवं पारिवारिक विषयों एवं समस्याओं में गृहपति गृहस्वामिनी से ही परामर्श करता था। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में राजा महासेन अपनी पुत्री वासवदत्ता के विवाह-सम्वन्ध के विषय में अपनी रानी के विचार भी जानना चाहता है[5]।

---

१. आर्य! धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः। गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः। —अभि० शा०, अंक १, पृ० २१

२. उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ —अभि० शा०, ५.२६

३. अद्य अर्धरात्रेऽस्माकं कुटुम्बिन्या यशोदया'''। —बा० च०, अंक १, पृ० ११

४. अभि० शा०, ४.१६

५. अस्मत्सम्वद्धो मागधः काशिराजो वांगः सौराष्ट्रो मैथिलः शूरसेनः।
एते नानार्थैर्लोभयन्ते गुणैर्मां कस्ते वैतेषां पात्रतां याति राजा ॥
—प्रतिज्ञा०, २.८

उसका सर्वस्व और जीवनाधार था। उसे सदा अपने स्वामी के कष्टों एवं दुःखों की ही चिन्ता रहती थी। 'अभिषेक नाटक' में पतिव्रता सीता अपने दुःखों की चिन्ता न कर राम के विषय में आशंकित होती हुई कहती है—'हे हनुमान! तुम राम से मेरी अवस्था का इस प्रकार वर्णन करना जिससे वे शोकाकुल न हो उठें[1]।' पति की प्रसन्नता एवं सन्तोष के लिए पत्नी बड़े-से-बड़ा त्याग करने के लिए—यहाँ तक कि सपत्नीत्व स्वीकार करने के लिए भी उद्यत रहती थी[2]। आत्मसुखों का बलिदान कर प्रिय जिसे प्यार करे, उसे प्यार करने को प्रस्तुत रहना उसके त्याग एवं तप की पराकाष्ठा थी[3]। 'विक्रमोर्वशीय' में रानी औशीनरी और 'मालविकाग्निमित्र' में महारानी धारिणी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। 'स्वप्नवासवदत्त' में महारानी वासवदत्ता अपने पति के उत्कर्ष के लिए समस्त राजभोग का त्याग कर प्रच्छन्न वेश में रहती है और पद्मावती के साथ अपने पति का विवाह कराने में सहायक सिद्ध होती है[4]। इससे अधिक त्याग की चरम सीमा क्या होगी?

पति का सम्मान एवं स्नेह-प्राप्ति ही पतिव्रता नारी का चरम ध्येय था। भर्तृस्नेह की अधिकारिणी नारी मर जाने पर भी अजर-अमर मानी जाती थी[5]। इसीलिए विवाहादि के अवसर पर नारी को सौभाग्यवती होने के साथ-साथ 'भर्तुर्बहुमता भव'[6], भर्तुर्बहुमानसूचक महादेवी शब्दं लभस्व'[7], 'भर्तुरभिमता भव'[8], आदि आशीर्वाद भी परिवार-जन की ओर से दिये जाते थे। पति द्वारा निराहत नारी का जीवन निष्फल-सा होता था। कुलवधु अपने चरित्र एवं आचरण पर

---

१. भद्र! एतां मेऽवस्थां श्रुत्वार्यपुत्रो यथा शोकपरवशो न भवति, तथा मे वृतान्तं भण। —अभि०, अंक २, पृ० ४२
२. प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः। —माल०, ५.१६
३. अद्य प्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य समागम-प्रणयिनी तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्तितव्यम्। —विक्र०, अंक ३, पृ० २०५
४. स्व० वा०, १.४
५. धन्या सा स्त्री यां तथा वेत्ति भर्ता।
भर्तृस्नेहात् सा हि दग्धाप्यदग्धा॥ —स्व० वा०, १.१३
६. वत्से! भर्तुबहुमता भव। —अभि० शा०, अंक ४, पृ० ६५
७. वही।
८. जाते! भर्तुरभिमता भव। —अभि० शा०, अंक ७, पृ० १४५

कोई आक्षेप सहन नहीं कर सकती थी। वह अपनी चारित्र्य-शुद्धि के प्रत्ययार्थ कठोर-से-कठोर परीक्षाएँ देने को तत्पर रहती थी। 'अभिषेक नाटक' में सीता राम के विश्वास के लिए अग्नि में प्रविष्ट हो जाती है[1]। पति के असान्निध्य या प्रवासकाल में नारी सांसारिक सुखों से निर्लिप्त होकर तपस्विनीवत् शुद्ध एवं सात्त्विक जीवन-यापन करती थी[2]। पति का प्रेम प्राप्त करने के लिए व्रत-उपवास आदि भी करती थी[3]।

भार्या पति के सुख-दुःख की सहचरी थी। जीवन की सभी अवस्थाओं में वह पति की अनुगामिनी थी[4]। वह वस्तुतः अपनी 'अर्द्धांगिनी'[5] अभिधा को सार्थक करती थी। संकट-काल में तो वह अपने स्वामी की सच्ची सहचरी थी। विपत्ति में वह तन, मन और धन सब कुछ पति पर न्योछावर कर देती थी। 'प्रतिमा नाटक' में सीता वनवास-गमन में राम का ही अनुवर्तन करती है[6]। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त की स्त्री धूता पति को चोरी के कलंक से बचाने के लिए अपनी बहुमूल्य रत्नावली तक दे देती है।

प्रेयसी

गृहिणी एवं पत्नी के अतिरिक्त नारी का प्रेयसी रूप भी दृष्टिगोचर होता है। प्रेयसियाँ दो प्रकार की थीं—एक तो वे जो विवाह के पश्चात् पति को आराध्य समझ कर उसी से एकनिष्ठ प्रेम करती थीं और दूसरी वे, जो विवाह से पूर्व ही किसी पुरुष को अपना तन-मन समर्पित कर देती थीं। रानी औशीनरी, महारानी धारिणी, सीता, धूता आदि प्रथम प्रकार की और उर्वशी, मालविका, शकुन्तला, कुरंगी, वासवदत्ता आदि दूसरे प्रकार की प्रेयसियाँ हैं।

---

१. अभि०, ६.२५

२. अभि० शा०, ७.२१

३. यथानिर्दिष्टं संपादितं मया प्रियानुप्रसादनं नाम व्रतम्। दारिकाः एत गच्छामः। —विक्र०, अंक ३, पृ० २०६

४. यावदिदानीमीदृशशोकविनोदनार्थमवस्था कुटुम्बिनीं मैथिलीं पश्यामि। —प्रतिमा०, अंक ५, पृ० १२६

५. मा स्वयं मन्युमुत्पाद्य परिहासे विशेषतः।
शरीरार्धेन मे पूर्वमाबद्धा हि यदा त्वया॥ —प्रतिमा०, १.१०

६. प्रतिमा०, १.२५

गृहपद के पश्चात् नारी का परिवार-पद विवेचनीय है। परिवार में नारी का स्थान उसके मातृत्व पर आधारित था। परिवार में माता का विशिष्ट एवं सम्माननीय स्थान था। पुत्रवती नारी वंशपरम्परा की अविच्छिन्न विधात्री होने के कारण कुल की प्रतिष्ठा होती थी[1]। वह पुत्र रूप में अपने पतिकुल के वंशसूत्र को धारण करती थी[2]। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में विरह-पीड़ित दुष्यन्त के शोक का कारण उसका शकुन्तला के प्रति अखण्ड प्रेम तो है ही, साथ ही उसके खेद का हेतु यह भी है कि उसने गर्भवती शकुन्तला का परित्याग कर अपने वंश को ही समाप्त कर दिया। सन्तानवती स्त्री वंशप्रवर्तिका होने के कारण पति के हृदय की भी अधिष्ठात्री होती थी। उसे पति का आदर एवं सम्मान प्राप्त होता था[3]। 'विक्रमोर्वशीय' में राजा पुरूरवा अपने पुत्र आयु को देखकर उसकी माता उर्वशी को 'पुत्रवती का स्वागत है' ऐसा कह कर सम्मानपूर्वक अर्द्धासन पर अधिष्ठित करता है[4]।

परिवार-पद

मातृत्व नारी की चरम परिणति थी। 'माता' की सुधावर्षिणी अभिधा को प्राप्त कर नारी अपने जीवन को सार्थक समझती थी। वीर पुत्र की माता बनने में वह गौरव का अनुभव करती थी। 'मालविकाग्निमित्र' में वसुमित्र की विजय पर परिव्राजिका द्वारा बधाई देने पर धारिणी यही कहती है कि मुझे यही सुख है कि मेरा पुत्र पिता के समान पराक्रमशाली बना[5]। यही कारण था कि नारी को सदा चक्रवर्ती और वीर-पुत्र की माता बनने का आशीर्वाद दिया जाता था[6]।

---

१. संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
—अभि० शा०, ६.२४

२. वही।

३. ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥ —अभि० शा०, ४.७

४. स्वागतं पुत्रवत्यै। इत आस्यताम्। —विक्र०, अंक ५, पृ० २४८

५. भगवति ! परितुष्टास्मि यत्पितरमनुजातो मे वत्सकः।
—माल०, अंक ५, पृ० ३५३

६. वत्से ! वीरप्रसविनी भव। —अभि० शा०, अंक ४, पृ० ६५

पुत्र-दर्शन से माता का रोम-रोम पुलकित हो जाता था[१]। यही उसके नारीत्व की सार्थकता थी।

नारी के मातृरूप का समाज में यथेष्ट सम्मान था। माता मनुष्यों के लिए देवताओं की भी देवता मानी जाती थी[२]। उसकी आज्ञा सर्वावस्थाओं में शिरोधार्य होती थी। पुत्र माता के आदेश से अकार्य तक करने को बाध्य हो जाता था। 'मध्यमव्यायोग' में घटोत्कच अपनी माता के व्रतपारणार्थ उसके आदेश से ब्रह्महत्या तक के लिए उद्यत हो जाता है[३]।

पारिवारिक क्षेत्र के साथ-साथ नारी का सामाजिक कार्य-क्षेत्र भी था। गृह एवं परिवार से बाहर भी उसकी कर्मभूमि थी। सामाजिक उत्सवों, समारोहों और विविध आमोद-प्रमोदों में नारी पति की सक्रिय सहयोगिनी थी। वह उत्साह एवं उमंग के साथ उत्सवों में भाग लेती थी और उनके आयोजन का सम्पूर्ण कार्य-भार सम्भालती थी। 'मालविकाग्निमित्र' में धारिणी अशोक-दोहदोत्सव का सम्पूर्ण आयोजन करती है और पति एवं परिवार-जनों के साथ उत्सव को सफल बनाती है[४]। राजकुल एवं राजान्तःपुर में स्त्रियाँ विभिन्न कर्मचारियों के पदों पर नियुक्त हुआ करती थीं। स्त्री-परिचारिकाओं, यवनी[५], उद्यानपालिका[६], बन्दीगृहरक्षिका[७] आदि का उल्लेख इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

सामाजिक क्षेत्र

---

१. इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा।
स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम्॥ —विक्र०, ५.१२

२. माता किल मनुष्याणां दैवतानां च दैवतम्। —मध्यमव्यायोग, १.३७

३. वही, १.६

४. जयतु जयतु भर्ता। देवी विज्ञापयति—तपनीयाशोकस्य कुसुमसहदर्शनेन ममारम्भः सफलः क्रियतामिति। —माल०, अंक ५, पृ० ३४२

५. एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः ...।
—अभि० शा०, अंक २, पृ० २७

६. ततः प्रविशत्युद्यानपालिका —माल०, अंक ३, पृ० २६०

७. यत्र सारभांड गृहव्यापारिता माधविका देव्या संदिष्टा।
—माल०, अंक ४, पृ० ३१६

तत्कालीन युग में नारी सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से परतन्त्र थी। समाज में गृहिणी, पत्नी, प्रेयसी और माता के विविध रूपों में आदृत होने पर भी वह अपने व्यक्तिगत आचरण में स्वतन्त्र नहीं थी। स्वेच्छाचारिता उसके लिए अच्छी नहीं समझी जाती थी। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दुष्यन्त द्वारा निरादृत शकुन्तला जब रोती हुई कण्व शिष्यों का अनुगमन करती है तो वे उसके इस स्वेच्छाचरण पर अत्यन्त क्रुद्ध होते हैं[1]। स्त्री कौमार्यावस्था में गुरुजन के संरक्षण में रहती थी और विवाहोपरान्त पति का नियन्त्रण उस पर रहता था। मनुस्मृति में भी स्त्री-स्वातन्त्र्य वर्जित बताया गया है[2]। विवाहिता स्त्री पर पति की सर्वतोमुखी प्रभुता थी[3]। पति की इच्छा-अनिच्छा ही पत्नी की इच्छा-अनिच्छा थी। पति अपनी स्त्री को जैसे चाहे वैसे रख सकता था। उस पर समाज या कन्या के पितृकुल का कोई नियन्त्रण नहीं था। विवाहोपरान्त नारी पतिकुल की ही शोभा एवं लक्ष्मी मानी जाती थी। पति की प्रिया हो या अप्रिया, उसका पतिगृह में निवास ही लोकसम्मत था[4]। ज्ञातिकुल में रहने वाली नारी, सती एवं शुद्धचरित्रा होने पर भी, समाज में निन्दा एवं वचनीयता का पात्र बन जाती थी। मनुष्य उसके विषय में असत्य एवं अन्यथा शंकाएँ करने लग जाते थे[5]। इसीलिए पतिव्रता नारी को लोकापवाद के भय से पतिगृह में दासी रूप में रहने को भी बाध्य होना पड़ता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कण्व ऋषि शिष्य शार्ङ्गरव दुष्यन्त द्वारा अस्वीकृत किये जाने पर भी

नारी की परतन्त्रता

---

१. शार्ङ्गरव—(सरोषं निवृत्य) किं पुरोभागे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ?
—अभि० शा०, अंक ५, पृ० ९४

२. पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ —मनुस्मृति, ९.३

३. अभि० शा०, ५.२६

४. अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः।
—अभि० शा०, ५.१७

५. सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशंकते।
—अभि० शा०, ५.१७

शकुन्तला का पतिगृह में दासी रूप में रहना ही उचित समझता है[1]। इसमें शार्ङ्गरव दोषी नहीं है। यह तत्कालीन समाज और सामाजिक व्यवस्था का दोष है जो उसे ऐसा सोचने को बाध्य करती है। लोक-निन्दिता नारी, शुद्धशीला होने पर भी पति द्वारा त्याज्य थी। 'अभिषेक नाटक' में भगवान् राम, सीता की पवित्रता को जानते हुए भी, केवल लोकनिन्दा के कारण उसका परित्याग करने को तत्पर हो जाते हैं[2]।

पुरुषों के लिए बहु-विवाह की स्वीकृति भी नारी की परतन्त्रता में सहायक थी। स्त्री, पति का तिरस्कार एवं अपमान सहती हुई भी पतिकुल में रहने को विवश थी, किन्तु पुरुष सच्चरित्रा एवं शीलवती पत्नी के रहते हुए भी बहु-विवाह के लिए स्वतन्त्र था। पुरुष अपनी कामुक-वृत्ति की शान्ति के लिए विवाह पर विवाह करता था और स्त्री अपनी परवशता पर आँसू बहा कर शान्त हो जाती थी। स्त्री पति पर खीझ कर, क्रुद्ध हो कर अन्त में अपने को भाग्य के हाथ में समर्पित कर देती थी। 'मालविकाग्निमित्र' में रानी धारिणी अग्निमित्र और मालविका की प्रणयलीला को देख कर पहले तो अत्यन्त क्रुद्ध होती है और क्रोध-वश मालविका को बन्दीगृह में डलवा देती है,[3] किन्तु इसका पति पर कोई प्रभाव न देख अन्त में दोनों का विवाह कराने को तैयार हो जाती है[4]।

नारी आर्थिक दृष्टि से भी पराधीन थी। आर्थिक विषयों में वह अपने पति पर अवलम्बित थी[5]। उसके भरण-पोषण का उत्तरदायित्व पति पर था। आर्थिक परतन्त्रता का यह तात्पर्य नहीं है कि स्त्री की निजी सम्पत्ति होती ही नहीं थी। स्त्री की व्यक्तिगत सम्पत्ति 'स्त्री-

---

१. अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः।
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्॥ —अभि० शा०, ५.२७

२. जानतापि च वैदेह्याः शुचितां धूमकेतन!।
प्रत्ययार्थं हि लोकानामेवमेव मया कृतम्॥ —अभि०, ६.२६

३. मालविका वकुलावलिका च पातालवासं निगलपद्यावदृष्टसूर्यपादं नागकन्यके इवानुभवतः। —माल०, अंक ४, पृ० ३१६

४. भगवती। त्वयानुमतेच्छाम्यार्यसुमतिना प्रथम संकल्पितां मालविकामार्य-पुत्राय प्रतिपादयितुम्। —माल०, अंक ५, पृ० ३५५

५. अर्थतः पुरुषो नारी या नारी सार्थतः पुमान्। —मृच्छ०, ३.२७

धन' कहलाती थी[1], जिस पर उसके पति का कोई अधिकार नहीं होता था। 'स्त्रीद्रव्य' का उपयोग करने में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वह इच्छानुसार उस धन का उपभोग कर सकती थी। 'मृच्छकटिक' में धूता सुवर्णभाण्ड के चोरी चले जाने पर उसके स्थान पर निजी सम्पत्ति स्वरूप मातृगृह से उपलब्ध रत्नावली देती है[2]। मनु[3] तथा याज्ञवल्क्य[4] ने 'स्त्रीधन' को छः प्रकार का बताया है—१. विवाह-वेला में अग्नि के समीप पिता आदि द्वारा दिया हुआ धन, २. पति या ससुराल वालों द्वारा प्रदत्त आभूषणादि द्रव्य, ३. प्रीति के कारण पति का दिया हुआ धन और ४, ५, ६. माता पिता एवं भ्राता से प्राप्त धन।

आलोच्य नाटकों में गृहिणी एवं पत्नी का ही अधिक वर्णन है। विधवा और उसकी स्थिति पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है।

विधवाओं की स्थिति

इसका कारण यही हो सकता है कि सहचर एवं जीवनसखा के विनाश से विधवा का समाज में कोई विशेष स्थान नहीं रह जाता था। 'मालविकाग्निमित्र' में प्रयुक्त 'पुनर्नवी कृतवैधव्य-दुःखया'[5] शब्द से विधवा की दयनीयावस्था का सम्पूर्ण चित्र नेत्रपटल के समक्ष उपस्थित हो जाता है। विधवा स्त्री पति की मृत्यु के पश्चात् तपस्विनी-सम-जीवन व्यतीत करती थी।[6] मांगलिक कार्यों में विधवा की उपस्थिति मंगलमय नहीं मानी जाती थी। विवाहादि अवसरों पर सौभाग्यवती स्त्रियां ही समस्त मंगलकृत्य सम्पन्न करती थीं[7]। विधवा स्त्री के लिए दायाधिकार का नियम भी नहीं था। वह पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं मानी जाती थी। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में सेठ धनमित्र की मृत्यु के पश्चात् उसकी समस्त

---

१. आत्माभाग्यक्षतद्रव्यः स्त्रीद्रव्येणानुकम्पितः। —मृच्छ०, ३.२७

२. इयं च मे एका मातृगृहलब्धा रत्नावली तिष्ठति।—मृच्छ०, अंक ३, पृ० १८३

३. मनुस्मृति, ६.१६४

४. याज्ञवल्क्य स्मृति, २.१४३

५. माल०, अंक ५, पृ० ३५०

६. ततो भ्रातुः शरीरमग्निसात्कृत्वा पुनर्नवीकृतवैधव्यदुःखया मया त्वदीयं देशमवतीर्य इमे काषाये गृहीते। —माल०, अंक ५, पृ० ३५०

७. त्वरताम् त्वरताम् आर्या। एव जामाता अविधवाभिः अभ्यन्तरचतुश्शालं प्रवेश्यते। —स्व० वा०, अंक ३, पृ० ८२

सम्पत्ति राज्याधिकार में होने वाली थी, किन्तु गर्भस्थ बालक के कारण वह राजकीय होने से बच गई[१]।

समाज में सती-प्रथा भी प्रचलित थी किन्तु इस प्रथा का कठोरता से पालन नहीं किया जाता था। विधवा सती होने के लिए

सती-प्रथा

बाध्य नहीं थी, अपितु स्वतन्त्र थी। 'मृच्छकटिक' में पतिव्रता धूता अपनी इच्छा से पति का मरण रूप अमंगल सुनने से पूर्व अग्नि में प्रविष्ट होना चाहती है[२]। 'ऊरुभंग' में दुर्योधन की महिषी पति के साथ ही अग्नि-प्रवेश का निश्चय कर लेती है[३]।

आलोच्य नाटकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पर्दा-प्रथा का भी समाज में अस्तित्व था। कुल-नारियाँ घर से बाहर प्रायः घूँघट

पर्दा-प्रथा

निकाल कर जाती थीं। 'प्रतिमा नाटक' में वनगमन के अवसर पर सीता मार्ग में घूँघट निकाल कर चलती है[४]। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुन्तला दुष्यन्त के समक्ष अवगुण्ठनवती बनकर आती है[५]। राजान्तःपुर की नारियाँ और धनाढ्य स्त्रियाँ सम्भवतः कंचुकावृत शिविका में बैठ कर बाहर निकलती थीं[६]। यज्ञ, विवाह, व्यसन और वन में स्त्रियों का दर्शन निर्दोष माना जाता था[७]। पर्दा या अवगुण्ठन नारी की विनयशीलता और लज्जा का भी प्रतीक था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दुष्यन्त को जब विवाह का स्मरण नहीं रहता है तब गौतमी शकुन्तला को लज्जा का परित्याग कर अवगुण्ठन हटाने को कहती है[८]।

---

१. अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२१

२. मृच्छ०, अंक १०, पृ० ५८६

३. एककृतप्रवेशनिश्चया न रोदिमि। —ऊरुभंग, अंक १, पृ० ३८

४. मैथिलि। अपनीयतामवगुण्ठनम्। —प्रतिमा०, अंक १, पृ० ४४

५. का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या। —अभि० शा०, ५.१३

६. तत्रभवती वासवदत्ता नाम राजदारिका धात्रीद्वितीया कन्यकादर्शनं निर्दोषमिति कृत्वाऽपनीतकंचुकायां शिविकायाम्। —प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ९३

७. निर्दोषदृष्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च।
—प्रतिमा०, १.२९

८. अभि० शा०, अंक ५, पृ० ८८

तत्कालीन समाज में कुल-नारियों के अतिरिक्त एक प्रकार की सार्वजनिक स्त्रियाँ भी थीं जो गणिका नाम से पुकारी जाती थीं।

गणिका

ये शिक्षित और विभिन्न कलाओं[१]—विशेषतः नृत्य और संगीत[२] में कुशल होती थीं। सामान्यतया लोग इन्हें सर्व-साधारण के उपभोग की वस्तु समझते थे। पण्यस्त्रियां बाजारू वस्तु के सदृश थीं, जिन्हें जो चाहे धन देकर ख़रीद सकता था[3]। सागर की लहर के समान चंचल और सायंकालीन मेघ के सदृश अस्थिर अनुराग करने वाली वेश्याएँ केवल धनापहरण जानती थीं और अनुरक्त मनुष्य को निर्धन एवं धनहीन बनाकर छोड़ देती थीं[४]। ये धन-प्राप्ति के लिए ही पुरुषों को विश्वास दिलाती थीं और स्वयं उन पर विश्वास नहीं करती थीं[५]। ये अत्यन्त अपवित्र और निम्न होती थीं[६]। समाज में इनको घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। वेश्याएँ और उनसे सम्बद्ध वस्तु सद्गृहस्थ के घर में प्रवेश नहीं कर सकती थीं[७]। ये प्रभूत धन-सम्पत्ति की अधिकारिणी और विशाल अट्टालिकाओं की स्वामिनी होती थीं[८]।

कतिपय गणिकाएँ 'वेश्या' अभिधा का अपवाद भी होती थीं। ये अर्थ की अपेक्षा गुणों का सम्मान करती थीं[९]। वसन्तसेना इसी का उदाहरण है। वह गणिका होने पर भी दरिद्र किन्तु कुलवान् एवं

---

१. एषा रंगप्रवेशेन कलानां चैव शिक्षया। —चारुदत्त, १.२४

२. मृच्छ०, १.१७

३. यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता, धनहार्यो ह्यसौ जनः। —मृच्छ०, ५.६

४. समुद्रवीचीवचलस्वभावाः सन्ध्याभ्रलेखेव मुहूर्तरागाः।
स्त्रियो हृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत् त्यजन्ति ॥
—मृच्छ०, ४.१५

५. मृच्छ०, ४.१४

६. न वेशजाताः शुचयस्तथांगनाः। —मृच्छ०, ४.१७

७. अलं चतुशालमिमं प्रवेश्य
प्रकाशनारीधृत एष यस्मात्। —मृच्छ०, ३.७

८. देखिए, वसन्तसेना के भवन का वर्णन। —मृच्छ०, अंक ४ (सम्पूर्ण)

९. दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोके अवचनीया भवति।
—मृच्छ०, अंक २, पृ० ६६

सदाचारी चारुदत्त से सच्चा प्रेम करती है और राजश्यालक से घृणा करती है[1]। गणिका अपने इच्छित पुरुष से विवाह कर कुलवधू के वन्दनीय पद को प्राप्त कर सकती थी[2]। कभी-कभी राजा भी गणिका के सद्गुणों से प्रभावित होकर उसे 'वधू' अभिधा से सम्मानित करता था। 'वधू' विशेषण से विशिष्ट गणिका वैधानिक दृष्टि से अपने अभीष्ट व्यक्ति की पत्नी बन सकती थी। 'मृच्छकटिक' में वसन्तसेना राजा द्वारा 'वधू'[3] पद से सम्मानित होकर चारुदत्त की पत्नी बन जाती है।

शिक्षा और नारी

शिक्षा के क्षेत्र में नारी प्रगति के पथ पर थी। नारी-शिक्षा पुरुष-शिक्षा के समान ही आवश्यक थी। स्त्री को आदर्श पत्नी एवं विदुषी बनाने के लिए उसे शिक्षा देना अनिवार्य था। स्त्री-शिक्षा की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। प्रत्येक नारी विविध कलाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकती थी। नाटकों में अनेक शिक्षिता नारियों का वर्णन मिलता है। शकुन्तला का ललितपदसंयुत प्रेमपत्र[4] उसके शिक्षित होने का प्रमाण तो है ही, साथ ही उसकी साहित्यिक अभिरुचि का परिचायक भी है। 'विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी राजा पुरूरवा को सुन्दर अर्थ एवं भाव से परिपूर्ण प्रणय-पत्र लिखती है[5]। साहित्य एवं विद्या के साथ नारी को ललित-कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थी। नृत्य-संगीत-विशारदा मालविका[6], चित्रकला की ज्ञाता अनुसूया

---

१. यत्नेन सेवितव्यः पुरुषः कुलशीलवान् दरिद्रोऽपि। —मृच्छ०, ८.३३

२. सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम् ॥ —मृच्छ०, ४.२४

३. आर्ये, वसन्तसेने। परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति।
—मृच्छ०, अंक १०, पृ० ५६८

४. तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललितपदबन्धनम्।
—अभि० शा०, अंक ३, पृ० ४८

५. तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थबन्धं पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः।
उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेक्षणायाः तस्याः समागतमिवाननमाननेन ॥
विक्र०, २.१३

६. भो वयस्य न केवलं रूपे शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका
—माल०, अंक २, पृ० २८८

एवं प्रियंवदा[1], विविध-कलाओं में दक्ष वसन्तसेना[2], वीणावादन की आचार्या उत्तरा नामक वैतालिका[3] आदि का वर्णन इसके पुष्ट प्रमाण हैं।

समाज में नारी का धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान था। धार्मिक क्षेत्र में स्त्री पति की सहयोगिनी एवं सहधर्मचारिणी[4] थी।

धर्म और नारी

धर्मानुष्ठान एवं धार्मिक क्रियाएँ बिना पत्नी के सम्पन्न नहीं हो सकती थीं। प्रत्येक धार्मिक संस्कार पत्नी के साथ करणीय था। अतः सहधर्माचरण के लिए विवाह एक अनिवार्य संस्कार था। विवाह के समय पुरुष सहधर्मानुष्ठान के लिए नारी का पाणि-ग्रहण करता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में महर्षि कण्व सहधर्माचरण के लिए दुष्यन्त को अपनी कन्या शकुन्तला प्रदान करते हैं[5]। न केवल गृहस्थाश्रम में ही, वरन् वानप्रस्थाश्रम में भी पत्नी पति के धर्मपालन में सहयोग देती थी। वह पुत्रादिक पर कुटुम्ब का भार सौंप कर पति के साथ ही वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करती थी। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुन्तला द्वारा यह पूछने पर कि 'हे तात ! मैं पुनः कब आश्रम के दर्शन करूँगी', कण्व कहते हैं कि 'तुम दीर्घ समय तक पृथ्वी की सपत्नी बनकर अद्वितीय वीर पुत्र को कुटुम्ब का दायित्व सौंप कर, अपने पति के साथ इस आश्रम में प्रवेश करोगी'[6]। नाटकों में प्रयुक्त

---

१. अभि० शा०, अंक ४, पृ० ६७

२. चारुदत्त, १.२४

३. उत्तराया वैतालिक्याः सकाशे वीणां शिक्षितुं नारदीयां गतासीत्।
—प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ० ५२

४. ननु सहधर्मचारिणी खल्वहम्। —प्रतिमा०, अंक १, पृ० ३६

५. तदिदानीमापन्नसत्त्वेयं प्रतिगृह्यताम् सहधर्माचरणायेति।
—अभि० शा०, अंक ५, पृ० ८६

६. भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धम्
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥
—अभि० शा०, ४.२०

'सहधर्मचारिणी'[१], 'धर्मपत्नी'[२] आदि शब्द नारी के धार्मिक महत्त्व को ही द्योतित करते हैं।

सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्र के सदृश राजनीतिक क्षेत्र में भी नारी का योग था। राजनीति में नारी का सक्रिय एवं प्रत्यक्ष सहयोग तो नहीं रहा, किन्तु उसने अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक संघर्ष एवं उथल-पुथल को जन्म अवश्य दिया।

राजनीति और नारी

'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में वासवदत्ता का अपहरण उदयन और राजा महासेन के मध्य संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर देता है[३]। 'अभिषेक नाटक' में राम-रावण के भीषण एवं विनाशकारी युद्ध में सीता का हरण ही कारण बनता है[४]।

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि नारी के प्रति आलोच्य नाटककारों और साहित्यिकों का दृष्टिकोण अतीव उदार एवं विशद रहा है। नारी उनके लिए पवित्र प्रतीत होती है। उसके प्रति उनके हृदय में सम्मान और आदर की भावना है। समाज में नारी की ह्रासोन्मुख अवस्था देखकर उनका अन्तर चीत्कार कर उठा, रोम-रोम हाहाकार करने लगा। उसके उत्कर्ष एवं उत्थान को उन्होंने अपने नाटकों का लक्ष्य बनाया। नारी के प्राचीन 'देवी' पद को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंनें अपनी कृतियों में उसे उच्च एवं विशिष्ट स्थान प्रदान किया। समाज में नारी के विषय में प्रचलित अर्द्धसत्यों और मिथ्या-धारणाओं के निवारण के लिए उन्होंने उसके गौरवमय रूप का चित्रण किया। उन्होंने समाज को अधोगति की ओर ले जाने वाली, कुल के लिए आधिस्वरूपा, दुश्शीला नारी को अपने ग्रन्थों का आदर्श नहीं बनाया, अपितु पति की सहधर्मचारिणी, पति के सन्तोष एवं प्रसन्नता के लिए

नारी के प्रति साहित्यिकों का दृष्टिकोण

---

१. प्रतिमा०, अंक १, पृ० ३६
२. अभि० शा०, ६.२४
३. प्रतिज्ञा०, अंक ४ (सम्पूर्ण)
४. मम दारापहारेण स्वयङ्ग्राहितविग्रहः।
आगतोऽहं न पश्यामि द्रष्टुकामो रणातिथिः॥ —अभि० ४.२२

आत्म-सुख को तिलांजलि देने वाली, गुरुजन की सर्वात्मना शुश्रूषा करने वाली और सपत्नी के साथ सखीसम व्यवहार करने वाली त्यागमयी देवी-रूपा नारी का चित्र खींचा है।

नाटककारों की दृष्टि में समाज-रचना के लिए नर और नारी स्तम्भ स्वरूप हैं। अतः दोनों को पारस्परिक सामंजस्य एवं सहयोग से कार्य करना चाहिए और एक दूसरे के प्रति उदार एवं सहानुभूति-पूर्ण दृष्टिकोण रखना चाहिए। नारी पर पुरुष की प्रभुता अनधिकार चेष्टा है। पुरुष द्वारा नारी का अनादर एवं अपमान उसके लिए सुखद न होकर दुःखद ही होता है। इससे दाम्पत्य एवं गृहस्थ जीवन अशान्ति एवं कलह का आलय बन जाता है, जो अन्त में समाज के लिए भी घातक तत्त्व सिद्ध होता है। नारी का पतन समाज का पतन है, और नारी का उत्कर्ष समाज का उत्कर्ष। अतः नारी को समाज की प्रगति का मूल मानकर उसका सर्वथा आदर करना चाहिए। यही नाटककारों का समाज व उसके कर्णधारों के लिए सन्देश है।

६

जीवन-पद्धति

जीवन-पद्धति भी समाज-चित्रण के विविध रूपों में से एक है। देश-विदेश की सभ्यता और संस्कृति के द्योतन में इससे यथेष्ट सहायता मिलती है। प्रस्तुत अध्याय में विवेच्य नाटक-युगीन समाज की जीवन-पद्धति का विवेचन किया गया है। खान-पान, आवास, वेशभूषा, उत्सव एवं आमोद-प्रमोद, जन-मान्यताएँ या जन-विश्वास, सामाजिक रीति-रिवाज तथा चिकित्सा-विधि, इसी पद्धति के अंग हैं।

खान-पान या आहार-पद्धति सामाजिक जीवन और रहन-सहन का प्रमुख अंग है। यह पद्धति देशकालानुसार परिवर्तित एवं परिवर्धित होती रहती है। आदिम मानव की ग्राम्य एवं असभ्य भोजन-प्रणाली ने सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के साथ संस्कृत एवं परिनिष्ठित रूप धारण किया।

खान-पान

विवेच्य नाटक-युग में खान-पान अत्यन्त सुसंस्कृत और सुरुचि-पूर्ण था। अन्न का प्राचुर्य था और सुस्वादु भोजन-सामग्रियों का अभाव न था। प्रत्येक खाद्य पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। मनुष्यों की रुचि के अनुसार विविध खाद्य पदार्थ बनाये जाते थे। गृहिणियाँ और पाकशास्त्री भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजन बनाने में निपुण होते थे। 'चारुदत्त नाटक' में नटी अपने व्रत के अवसर पर ब्राह्मण-भोजन के लिए स्वादिष्ट व्यंजनों का निर्माण करती है[1]। 'मृच्छकटिक' में विदूषक वसन्तसेना के प्रासाद के पंचम प्रकोष्ठ में प्रवेश

१. चारुदत्त, अंक १, पृ० २-८

कर पाकशास्त्रियों द्वारा बनाये गये नानाविध-आहार की सुगन्ध से उन्मत्त सा हो जाता है[1]।

तत्कालीन समाज में निरामिष और सामिष दोनों प्रकार के भोजन प्रचलित थे। सामिष आहार का प्रचलन सामान्यतया प्रत्येक युग में रहा है, किन्तु विवेच्य युग में सामिष आहार का कुछ विशेष उल्लेख मिलता है। निरामिष भोजन में अन्न, दाल, शाक, दुग्ध आदि का समावेश किया गया है तथा सामिष भोजन में मांस के साथ मदिरा-पान का निरूपण भी हुआ है।

निरामिष भोजन

शाकाहार सात्त्विक एवं सरल भोजन होता है। इसमें अन्न या अनाज प्रमुख खाद्य हैं। वर्ण्य नाटकों में यव[2], तण्डुल[3], तिल[4], नीवार[5] और श्यामाक[6], इन पाँच खाद्यान्नों का उल्लेख हुआ है। यव प्रमुख अन्न नहीं था। नाटकों में केवल एक-दो स्थलों पर ही इसका प्रयोग किया गया है। देवताओं के पूजोपायन के रूप में इसका उपयोग होता था[7]।

तण्डुल या चावल जनता का लोकप्रिय आहार था। शालि[8] और कलम[9] उसके ही प्रकार-विशेष थे। वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार शालि सर्दियों में पैदा होने वाला चावल है जिसे जड़हन भी कहते हैं[10]। कलम को मल्लिनाथ शालि का ही एक रूप स्वीकार

---

१. अधिकमुत्सुकायते मां साध्यमानबहुविधभक्ष्यभोजनगन्धः।
—मृच्छ०, अंक ४, पृ० २३७

२. तास्वेव पूर्वबलिरूढयवाङ्कुरासु। —चारुदत्त, १.२

३. चारुदत्त, अंक १, पृ० ४

४. अन्यथाऽवश्यं सिंचत मे तिलोदकम्। —अभि० शा०, अंक ३, पृ० ४६

५. अभि० शा०, १.१४

६. वही, ४.१४

७. देखिए, चारुदत्त, १.२

८. भुक्तं मयात्मनो गेहे शालीयकूरेण गुडौदनेन। —मृच्छ०, १०.२९

९. सदध्ना कलमोदनेन प्रलोभिता न भक्षयन्ति वायसा बलिं सुधासवर्णतया।
—मृच्छ०, अंक ४, पृ० २३२

१०. इण्डिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०२-३

करते हैं। चावल के अनेक प्रकार के व्यंजन बनाये जाते थे[१]। चावल को उबाल कर उसका भक्त[२] या भात के रूप में प्रयोग किया जाता था। गुड़ के साथ मिला हुआ चावल 'गुडौदन'[३] कहलाता था। चावल दही में मिला कर भी खाया जाता था[४]। पायस[५] दूध में चीनी और चावल डाल कर बनाया जाता था।

तिल अव्यवहृत खाद्यान्न था। मृत्यूपरान्त या श्राद्धादि के अवसर पर मृतक एवं पितृ-तृप्ति के लिए तिलोदक अर्पित करने की प्रथा थी[६]।

नीवार और श्यामाक वन्य धान्य थे। ये वनों में प्रचुर मात्रा में पैदा होते थे। इसीलिए 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में तपोवन-वर्णन में ही इनका उल्लेख आया है[७]।

निरामिष खाद्योपकरणों में अन्न के पश्चात् दाल एवं शाक का विशिष्ट स्थान होता है। नाटकों में माष[८] और कुलुत्थ[९] (कुलथी) जैसी दालों का उल्लेख हुआ है। डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास[१०] कुलित्थ को दाल का ही भेद मानते हैं।

दाल एवं शाक

शाक के अन्तर्गत रक्तमूलक[११] (मूली), पनस[१२] (कटहल) और

---

१. कलमा शालिविशेष—(मल्लिनाथ की टीका)। —रघु०, ४.३७
२. चारुदत्त, १.१
३. मृच्छ०, १०.२९
४. देखिए, पादटिप्पणी नं० ३
५. अन्यस्मिन् गेहे गत्वा पायसं भुङ्क्ते। —बा० च०, अंक १, पृ० २२
६. अभि० शा०, अंक ३, पृ० ४६
७. (क) अभि० शा०, अंक २, पृ० ३५
   (ख) वही, ४.१४
८. बलीयसि खल्वन्धकारे माषराशिप्रविष्टेव। —मृच्छ०, अंक १, पृ० ५४
९. तस्यां त्वं पुष्करिण्यां पुराणकुलुत्थयूषशबलानि उग्रगन्धीनिवचीवराणि प्रक्षालयसि। —मृच्छ०, अंक ८, पृ० ३७९
१०. रामायणकालीन संस्कृति, पृ० ७३
११. आपानकमध्यप्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते भङ्क्ष्यामि। —मृच्छ०, अंक ८, पृ० ३७६
१२. मृच्छ०, ८.८

कलाय[1] के नाम आये हैं। साग सूखे[2] और रसेदार दोनों प्रकार के बनाये जाते थे।

मसाले

भोजन को सुस्वादु और ज़ायकेदार बनाने के लिए मसालों और सुवासित चूर्णों का प्रयोग किया जाता था। मसाले के लिए नाटकों में 'वर्णक'[3] शब्द व्यवहृत हुआ है। मसालों में नमक[4], मिर्च[5], हींग[6], जीरा[7], भद्रमुस्ता[8] या नागरमोथा, वच[9] और सौंठ[10] प्रमुख थे। भोजन में अम्लांश लाने के लिए अम्ल रस या खटाई भी डाली जाती थी[11]। भोजनोपरान्त कर्पूरादि से सुवासित ताम्बूल[12] का भी प्रयोग होता था।

तेल

मसालों के समान तेल[13] भी भोजन को स्वादिष्ट बनाता था। यह आहार्य पदार्थों में चिक्कण तत्त्व का संचार करता था। यह दीपकादि जलाने में भी प्रयुक्त होता था[14]।

---

१. कलायंशाकेषु। —प्रतिमा०, अंक ५, पृ० १३५-६
२. मृच्छ०, १.५१
३. एका वर्णकं पिनष्टि। —मृच्छ०, अंक १, पृ० १२
४,५. घृतमरिचलवणरूषितो। —प्रतिज्ञा०, अंक ४, पृ० १०४
६. मृच्छ०, ८.१४
७. वही, ८.१३
८,९,१०. वही, ८.१३
११. मांसेन तिक्ताम्लेन भक्तं शाकेन सूपेन समत्स्यकेन। —मृच्छ०, १०.२९
१२. दीयते गणिकाकामुकयोः सकर्पूरं ताम्बूलम्। —मृच्छ०, अंक ४, पृ० २४०
१३. विक्षोभ्यमाणजनिततरंगतैलपूर्णभाजनम्। —चारुदत्त, अंक १, पृ० ३८
१४. वही।

मिष्ट द्रव्य

आहार में स्वाद-परिवर्तन के लिए मसालेदार वस्तुओं के समान ही मिष्ट पदार्थों का भी उल्लेख मिलता है। इसमें मधु[1], गुड़[2], खण्ड[3] (खांड) और मत्स्यण्डिका[4] उल्लेखनीय हैं। मत्स्यण्डिका विना साफ़ की हुई शक्कर होती थी[5]। मद-संवर्धनार्थ इसका विशेष उपयोग किया जाता था[6]।

मिष्ठान्न में मोदक का विशेष स्थान था। यह केवल खाद्य पदार्थ ही नहीं था अपितु देवोपायन के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता था। 'विक्रमोर्वशीय' में रानी औशीनरी निपुणिका से देवप्रसाद रूप मोदकों को माणवक को देने के लिए कहती है[7]। आकार में मोदक चन्द्रमा के सदृश गोल होता था[8]। यह दो प्रकार का होता था। एक केवल खांड से निर्मित होता था जो 'खण्डमोदक'[9] कहलाता था और दूसरा पिष्ट चावल में शक्कर मिला कर घी में भून कर बनाया जाता था और हिम की तरह श्वेत एवं निष्ठानित सुरा के समान मधुर होता था[10]। मोदक के समान अपूपक[11] भी एक प्रकार का मिष्ठान्न ही था। इसे आजकल बोलचाल की भाषा में मालपूआ कहते हैं।

---

१. वा० च०, अंक ३, पृ० ४१

२. प्रसारितगुडमधुरसङ्गत इव। —अवि०, अंक २, पृ० ४६

३. एष खलु खण्डमोदकसश्रीक। —विक्र०, अंक ३, पृ० १९७

४. वयस्य एतत्खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता। —माल०, अंक ३, पृ० २९६

५. वी० एस० आप्टे : स्टूडेन्ट्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४१९

६. माल०, अंक ३, पृ० २९६

७. हंजे निपुणिके एतानौपहारिकमोदकानार्यमाणवकं लम्भय। —विक्र०, अंक ३, पृ० २०५

८,९. एष खलु खण्डमोदकसश्रीक उदितो राजा द्विजातीनाम्। —विक्र०, अंक ३, पृ० १९७

१०. प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ८३-४

११. पच्यन्तेऽपूपकाः। —मृच्छ०, अंक ४, पृ० २३७

निरामिष आहार में दूध की गणना एक पौष्टिक एवं शक्तिप्रद पेय पदार्थ के रूप में की गई है। विवेच्य काल में गो-धन के प्राचुर्य के कारण दूध प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होता था। 'पंचरात्र नाटक' में विराटराज के जन्म-दिवस के अवसर पर गोदान के लिए सैंकड़ों गायें नगर-वाटिका के मार्ग पर सजा दी जाती हैं[1]। 'बाल-चरित' में गोपालों की एक पृथक् ही बस्ती का वर्णन है। दूध से दधि[3], नवनीत[3], तक्र[4] और घृत[5] की प्राप्ति होती थी।

दूध

वर्ण्य युग में लोगों के आहार में फलों का भी विशेष महत्त्व था। गृहोद्यानों, सार्वजनिक उपवनों तथा वन में फलों के पेड़ ही अधिक लगाये जाते थे। अतिथि-सत्कार अथवा किसी से भेंट करते समय फलों का व्यवहार ही उत्तम समझा जाता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दुष्यन्त का आतिथ्य फलमिश्रित अर्घ्य से ही किया जाता है[6]। 'मालविकाग्निमित्र' में परिव्राजिका महारानी धारिणी को भेंट करने के लिए बिजौरिया नींबू ही ले जाती है[7]। तपोवन में तो वन्य-फल और कन्दमूलादि आश्रमवासियों के प्रमुख आहार थे[8]। फलों के रस का सूप[9] के रूप में भी सम्भवतः प्रयोग किया जाता था।

फल

---

१. पंचरात्र, अंक २, पृ० ५१

२,३,४. अन्यस्मिन् गेहे गत्वा दधि भक्षयति। अपरस्मिन् गेहे गत्वा नवनीतं गिलति। अन्यस्मिन् गेहे गत्वा पायसं भुङ्क्ते। इतरस्मिन् गेहे गत्वा तक्रघटं प्रलोकते। —बा० च०, अंक १, पृ० २२

५. बा० च०, अंक ३, पृ० ४१

६. हला शकुन्तले। गच्छोटजम्। फलमिश्रमर्घमुपहर। —अभि० शा०, अंक १, पृ० १७

७. सखि। भगवत्याज्ञापयति। अरिक्तपाणिनास्मादृशजनेन तत्रभवती देवी द्रष्टव्या। तद्बीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामि। —माल०, अंक ३, पृ० २६०

८. स्व० वा०, १.३

९. मृच्छ०, १०.२६

फलों में आमों[1] का सेवन अधिक प्रचलित रहा होगा क्योंकि नाटकों में इनका वर्णन बहुत हुआ है। आम के अतिरिक्त जम्बू[2], पिण्डखजूर[3], बीजपूरक[4] (बिजौरिया नींबू), पिचुमन्दा[5] (नींबू), नारिकेल[6], कदली[7], तिन्तिणी[8], इक्षु[9], ताल[10] और कपित्थ[11] (कैथ) जैसे फलों का भी नामोल्लेख हुआ है।

सामिष भोजन

कहा जा चुका है कि सामिष आहार में मांस के साथ मदिरा का भी उल्लेख हुआ है। सामान्यतया इन दोनों का गहन सम्बन्ध समझा जाता है।

मांस

आलोच्य युग में मांस सामान्य भोज्य वस्तु थी। समाज में मांसाहार अनैतिक नहीं समझा जाता था। राजा और रंक कोई भी मांस-भोजी हो सकता था। ब्राह्मण तक मांस का सेवन करते थे। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में विदूषक ब्राह्मण होकर भी हरिणी का मांस खाने की इच्छा प्रकट करता है[12]। क्षत्रिय राजाओं का मृगया-प्रेम[13] उनकी मांसाभिरुचि को ही द्योतित करता है।

---

१. नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धफलतयोपभोगक्षमः सहकारः। —अभि० शा०, अंक १, पृ० १४
२. विक्र०, अंक ४, पृ० २२०
३. यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य। —अभि० शा०, अंक २, पृ० ३३
४. देखिए, पादटिप्पणी नं० २
५. चम्पकारामे पिचुमन्दाजायन्ते। —चारुदत्त, अंक ४, पृ० १०४
६. अभि० शा०, अंक ४, पृ० ६४
७. पंचरात्र, १.१६
८. तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत्। —अभि० शा०, अंक २, पृ० ३३
९. अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२४
१०. वा० च०, अंक ३, पृ० ४४
११. पक्वकपित्थं शीर्षं ते। —चारुदत्त, अंक १, पृ० ४२
१२. अहमपि प्रार्थ्यमानो यदा मिष्टहरिणीमांसभोजनं न लभे तदैतत्संकीर्तयन्नाश्वासयाम्यात्मानम्। —विक्र०, अंक ३, पृ० २०१
१३. एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि। —अभि० शा०, अंक २, पृ० २६

राजा दुष्यन्त इसका साक्षात् प्रमाण है।

सामान्यतया मांस तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—१. पशुमांस, २. पक्षिमांस और ३. मत्स्यमांस। पशुमांस में मृग, शूकर और सिंह का मांस प्रमुख था[1]। कतिपय अवसरों पर जंगली भैंसे का मांस भी खाया जाता था[2]।

मांस का दूसरा प्रकार पक्षिमांस था। 'मृच्छकटिक' में केवल एक स्थल पर परभृत-मांस का उल्लेख हुआ है[3]। चिड़िया आदि का शिकार करने वाले 'शकुनिलुंब्धक'[4] कहलाते थे।

पशुओं और पक्षियों के अतिरिक्त मछलियों का भी आहार में विशिष्ट स्थान था। मत्स्यमांस अत्यधिक लोकप्रिय था। राजकुल और धनिकगृहों में तो मछलियों के माँस का इतना प्राचुर्य था कि कुत्ते तक उन्हें छोड़ कर मृतक का सेवन नहीं करते थे[5]। मत्स्य-वन्धन धीवर[6] जाति के व्यक्तियों की आजीविका थी। वे काँटा आदि फैंक कर मछलियाँ फाँसते थे[7] और बाज़ार में बेचते थे[8]। मछलियों में रोहित नामक मछली प्रसिद्ध थी। यह लगभग तीन फ़ुट लम्बी और बड़ी पेटू मछली होती है। इसका मांस स्वाद में पंकिल होता हुआ भी खाने योग्य होता है। इसका पृष्ठ कभी जैतून के रंग

---

१. अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वनराजीष्वाहिण्डयते। —अभि० शा०, अंक २, पृ० २६

२. अभि० शा०, २.६

३. मृच्छ०, ८.१४

४. ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैः। —अभि० शा०, अंक २, पृ० २४

५. रमय च राजवल्लभं ततः खादिष्यसि मत्स्यमांसकम्।
एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां श्वानो मृतकं न सेवन्ते। —मृच्छ०, १.२६

६. अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ६७

७. अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ६७

८. एकस्मिन् दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत्........
पश्चादहं तस्य विक्रयणार्थं दर्शयन्गृहीतो भावमिश्रैः। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ६८

के सदृश, पेटी सुनहरी और डैने तथा आँखें लाल होती हैं[1]। 'अभिषेक नाटक' में महाशफ़र नामक मत्स्य का भी उल्लेख हुआ है। यह सम्भवतः एक विशालकाय. मछली होती होगी। श्राद्ध के अवसर पर अन्य वस्तुओं के साथ इसके मांस का भी विधान था[2]।

भक्ष्य जीवों में गोधा या गोह का उल्लेख भी मिलता है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजश्याल धीवर को 'गोधादी' अर्थात् गोह खाने वाला बताता है[3]। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि धीवर आदि निम्न जातियाँ ही इसके माँस का सेवन करती थीं।

नर-मांस खाने की प्रवृत्ति केवल राक्षसों में प्रचलित थी। 'मध्यमव्यायोग' में जब घटोत्कच ब्राह्मण के तीन पुत्रों में से एक को अपनी माता के व्रतपारणार्थ ले जाने की इच्छा करता है तब ब्राह्मण कहता है कि मैं अपने गुणवान् पुत्र को नरभक्षी को देकर किस प्रकार शान्ति-लाभ करूँगा[4] ?

आखेट में मारे गये जीवों से ही मांस-प्राप्ति नहीं होती थी, अपितु राज्य में वधशालाएँ भी थीं जहाँ पशुओं का वध किया जाता था और उनका मांस बेचा जाता था[5]।

मांस-भक्षण की अनेक विधियाँ प्रचलित थीं। मांस अग्नि में भून कर[6] अथवा तेल और मसालों में तल कर उपयोग में लाया जाता था[7]। इसका 'शूल्यमांस'[8] के रूप में भी प्रयोग होता था। तले हुए मांस का स्वाद मदिरा के साथ लिया जाता था[9]। 'शूल्यमांस'

---

१. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग १, पृ० ३१६-१७

२. प्रतिमा०, अंक ५, पृ० १३६

३. जानुक विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम्।

—अभि० शा०, अंक ६, पृ० ९७

४. पुरुपादस्य दत्त्वाहं कथं निवृतिमाप्नुयाम्। —मध्यमव्या०, १.१३

५. भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्र आमिषलोलुपो भीरुकश्च।

—माल०, अंक २, पृ० २८९

६. अंगारराशिपतितमिव मांसखण्डम्। —मृच्छ०, १.१८

७. घृतमरिचलवणरुपितो मांसखण्ड। —प्रतिज्ञा०, अंक ४, पृ० १०४

८. अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठो आहारो भुज्यते।

—अभि० शा०, अंक २, पृ० २६

९. प्रतिज्ञा०, अंक ४, पृ० १०४

पकाने की विधि में लोहे की सलाइयों में मांस के छोटे-छोटे टुकड़े पिरो कर आग के ऊपर रख दिये जाते थे[1]। आखेट आदि में जहाँ मांस पकाने का कोई साधन उपलब्ध नहीं होता था, 'शूल्यमांस' का प्रयोग किया जाता था।

सामिष भोजन में मांस के पश्चात् मदिरा का द्वितीय स्थान है। विवेच्य युग में सुरापान का व्यापक प्रचार था। समाज में सभी वर्गों के मनुष्य मद्य-पान करते थे। राजाओं से लेकर सामान्य अनुचरों तक को मदिरा पीने की स्वतन्त्रता थी।

मदिरा

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में नागरिक तथा उसके नगर-रक्षकों के मद्य-पान का उल्लेख मिलता है[2]। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में राजभृत्य गात्रसेवक मदिरोन्मत्त और जपापुष्प के सदृश रक्तलोचन दिखाई देता है[3]।

केवल पुरुष ही नहीं स्त्रियां भी मद्य-पान का आनन्द लेती थीं। मद्य अबलाजन का विशेष मण्डन माना जाता था[4]। 'मालविकाग्निमित्र' में रानी इरावती मदिरा पीकर राजा के साथ झूलने जाती है[5]।

सुरापान का सर्वाधिक प्रचलन गणिका-समाज में था। वेश्यालय एक प्रकार से पानागार बने हुए थे। वसन्तसेना के षष्ठ प्रकोष्ठ में वेश्या और कामुकजन सी-सी करते हुए मद्य-पान करते हैं[6]। दास-

---

१. डा० गायत्री वर्मा : कवि कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १५६

२. कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०१

३. एष गात्रसेवकः सुरां पीत्वा पीत्वा हसित्वा हसित्वा मदित्वा मदित्वा जपापुष्पमिव रक्तलोचन इत एवागच्छति। —प्रतिज्ञा०, अंक ४, पृ० १०३

४. चेटि निपुणिके श्रृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनम् इति। अपि सत्य एष लोकवादः। —माल०, अंक ३, पृ० ३०१

५. चेटि मदेन क्लाम्यमानमात्मानमार्यपुत्रस्य दर्शने हृदयं त्वरयति। —माल०, अंक ३, पृ० ३०१

६. पीयते चानवरतं ससीत्कारं मदिरा। —मृच्छ०, अंक ४, पृ० २४०

दासी गणिकाजन के पीने से बची हुई मदिरा को पीते हैं[१]। वसन्त-सेना की माता सीधु, सुरा और आसव के पान से स्थूलत्व को प्राप्त करती है[२]।

वर्ण्य नाटकों में सुरा के लिए मदिरा[३], 'कादम्बरी'[४], 'सीधु'[५], सुरा[६] और आसव[७] का प्रयोग किया गया है। मदिरा सुरा के पर्यायवाची शब्दों में से ही एक है। कादम्बरी कदम्ब वृक्ष के पुष्पों के रस से निर्मित विशेष प्रकार की मदिरा थी[८]। पके गन्ने के रस से निर्मित शराब 'सीधु' कहलाती थी[९]। सुरा का वर्णन भी मदिरा के एक भेद के रूप में हुआ है। 'मनुस्मृति' में सुरा, गौडी (गुड़ से बनी हुई), पैष्टी (चावल आदि के पिष्ट से बनी हुई) और माध्वी (महुआ के फूल से निर्मित) तीन प्रकार की वर्णित है[१०]। आसव नामक मद्य बिना पके इक्षु के रस से तैयार किया जाता था[११]।

मदिरापान के लिए विशेष स्थल या मदिरालय होते थे जो 'पानागार'[१२] कहलाते थे। इनमें मदिरा का विक्रय होता था और एक-साथ बहुत से व्यक्ति बैठ कर सुरा-पान का आनन्द लेते थे।

---

१. इमे चेटाः, इमाश्चेटिकाः, इमे अपरेऽवधीरितपुत्रदारवित्ता मनुष्याः करका-सहितपीतमदिरैर्गणिकाजनैर्ये मुक्ता आसवा तान् पिबन्ति ।
—मृच्छ०, अंक ४, पृ० २४०

२. सीधुसुरासवमत्ता एतावदवस्थां गता हि माता ।
यदि म्रियतेऽत्र माता भवति श्रृगालसहस्रपर्याप्ता ॥ —मृच्छ०, ४.३०

३. उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेक्षणायास्तस्याः समागतमिवाननमाननेन ।
—विक्र०, २.१४

४. अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०१

५. माल०, अंक ३, पृ० २६६

६. धन्याः सुराभिर्मत्ता । —प्रतिज्ञा०, ४.१

७. मृच्छ०, ४.२६

८. वी० एस० आप्टे : स्टुडेन्ट्स संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ० १४२

९. सीधुः पक्वेक्षुरसप्रकृतिकः सुराविशेषः ।—(टीका मल्लिनाथ) रघु०, १६.५२

१०. गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा । —मनुस्मृति, ११.९५

११. आसव—अपक्वेक्षुरसनिर्मितः । —(टीका महाप्रभुलाल गोस्वामी)
मृच्छ०, ४.२६

१२. प्रतिज्ञा०, अंक ४, पृ० १०४

'आपानक'[1] भी मदिरागृह की ही संज्ञा थी। डा० जगदीशचन्द्र जोशी ने 'आपानक' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में जिस तरह की 'कॉकटेल पार्टीज़' हुआ करती है, 'आपानक' कुछ-कुछ इसी तरह का अर्थ देता है[2]।' अमरकोश में 'आपानक' के लिए 'पानगोष्ठी'[3] पर्याय इसी अर्थ का द्योतक है। मद्य-विक्रेता 'शौण्डिक' और मदिरा की दुकान शौण्डिकापण कहलाती थी[4]।

भोजन-भेद

आहार के सामिष और निरामिष सर्वविध खाद्य पदार्थों की पांच श्रेणियां[5] थीं जिनका नामोल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—१.भक्ष्य, २. भोज्य, ३. लेह्य, ४. चोष्य और ५. पानीय[6]। भक्ष्य-वर्ग के अन्तर्गत वे पदार्थ आते हैं जिनको चबा कर खाया जाता है, जैसे रोटी,मोदक आदि। भोज्य में बिना अधिक चबा कर खाई जाने वाली वस्तुएँ यथा उबला हुआ चावल, भात आदि समाविष्ट हैं। लेह्य में मधु और चटनी के सदृश चाटे जाने वाले द्रव्य अन्तर्भूत होते हैं। चोष्य में गन्ने के समान चूस कर खाये जाने वाले पदार्थ आते हैं। पानीय के अन्तर्गत पेय पदार्थ आते हैं।

खाने-पीने और भोजन पकाने के लिए बर्त्तन अत्यन्त आवश्यक हैं। नाटकों में बर्त्तन के लिए 'भाण्ड'[7] शब्द आया है। बर्त्तनों में

---

१. आपानकमध्यप्रविष्टस्येव। —मृच्छ०, अंक ८, पृ० ३७६

२. प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, पृ० २०६

३. अमरकोश, २.१०.४२

४. अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०१

५. तत्र पंचविधस्याभ्यवहारस्योपनतसंभारस्य योजनां प्रेक्षमाणाभ्यां शक्यमुत्कण्ठां विनोदयितुम्। —विक्र०, अंक २, पृ० १७१

६. देखिए, कात्यायन की पंक्ति—'अभ्यवहारस्य पंचविधत्वं भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्य पानीयभेदेन'—गायत्री वर्मा कृत कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १५०

७. चा० च०, अंक १, पृ० १८

व्याधियों का कारण होता है[1] ।'

भोजन दिन में तीन वार किया जाता था । प्रातःकालीन अल्पाहार 'प्रातराश'[2] या 'कल्यवर्त'[3] कहलाता था । 'चारुदत्त नाटक' में सूत्रधार क्षुधा से व्याकुल होकर नटी से प्रातराश के विषय में पूछता है[4]। दूसरी बार का भोजन दोपहर में किया जाता था । 'मालविकाग्निमित्र' में विदूषक, वैतालिक द्वारा मध्याह्नकाल की सूचना दिए जाने पर राजा को अपराह्नभोजन का स्मरण कराता है[5] । भोजन का अन्तिम समय रात्रि में होता था । इसे ही अंग्रेजी भाषा में 'डिनर' शब्द से संबोधित किया जाता है ।

खान-पान के समान आवास भी रहन-सहन पद्धति का अविभाज्य अंग है । इसकी गणना मानव-जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं में की जाती है । शीत, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु से सुरक्षा की दृष्टि से आवास मानव के लिए परम आवश्यक है । साथ ही इससे मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास के इतिहास का भी ज्ञान होता है ।

आवास

विवेच्य नाटकों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन युग में स्थापत्य-कला उन्नति के चरम शिखर को प्राप्त कर चुकी थी और भवनों का निर्माण एक विस्तृत पैमाने पर आरम्भ हो गया था । आवास-गृहों का सृजन निश्चित एवं सुनियोजित रचनाशैली के आधार पर होता था । वसन्तसेना का अष्टप्रकोष्ठमय प्रासाद तत्कालीन परिनिष्ठित रचना-प्राविधि का ज्वलन्त प्रमाण है[6]। भवनों का आकार-प्रकार, विस्तार, उन्नति और भव्यता नागरिक के सामाजिक पद और स्तर को द्योतित करती थी । राजाओं और वैभवशालियों के भव्य एवं कलात्मक प्रासाद उनके अतुल ऐश्वर्य का परिचय देते थे । राजगृहों के विस्तार और गगनचुम्बी ऊँचाई को देख कर दृष्टि जड़ीभूत

१. अस्माकं पुनर्भोजनवेलोपस्थिता । अत्र भवत उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति । —माल०, अंक २, पृ० २८८
२. नास्ति किल प्रातराशोऽस्माकं गृहे । —मृच्छ०, अंक १, पृ० १२
३. भोः ! सुखं न आमयपरिभूतमकल्यवर्तं च । —स्व० वा०, अंक ४, पृ० ८६
४. चारुदत्त, अंक १, पृ० ३
५. माल०, अंक २, पृ० २८८
६. मृच्छ०, अंक ४, पृ० २२९-२४७

सी हो जाती थी। 'अविमारक नाटक' में अविमारक राजा कुन्तिभोज के राजकुल को देख कर विस्मय-विमुग्ध हो जाता है[१]। 'मृच्छ-कटिक' में वसन्तसेना का भवन त्रिलोक की श्री से स्पर्धा करने की सामर्थ्य रखता है[२]।

राज-प्रासादों और धनिक-गृहों को छोड़ कर जन-साधारण के मकान आवास एवं सुरक्षा की दृष्टि से बनाये जाते थे। उनका आकार-प्रकार और विस्तार सामान्य नागरिक के जीवन-स्तर के अनुकूल होता था। तपस्वियों के आवास-गृह 'उटज'[३] कहलाते थे। उनमें सांसारिक सुख-विलास के साधनों की साज सज्जा के स्थान पर घास-पत्तों का आच्छादन मात्र होता था।

गृह-निर्माण के उपकरणों में ईंट, मिट्टी और काष्ठ का उल्लेख हुआ है[४]। ईंटें पकी हुई और बिना पकी हुई दोनों प्रकार की उपयोग में लाई जाती थीं[५]। काष्ठ सम्भवतः भित्ति-रचना, गवाक्ष-निर्माण आदि में प्रयुक्त होता था। मकान तैयार होने के बाद उसमें परिष्कार एवं परिमार्जन के लिए सुधा या चूने का अवलेपन किया जाता था। सुधावलेपन करने वाले 'सुधाकार'[६] कहलाते थे। भवनों में कलात्मकता लाने के लिए नानाविध रत्न और मणि भी प्रयुक्त होते थे[७]।

---

१. अहो राजकुलस्य श्रीः।
विपुलमपि मितोपमं विभागान्निविडमिवाभ्युदितं क्रमोच्छ्रयेण।
नृपभवनमिदं सहर्म्यमालं जिगमिषतीव नभो वसुन्धरायाः।
—अवि०, ३.१३

२. एवं वसन्तसेनाया बहुवृत्तान्तमष्टप्रकोष्ठं भवनं प्रेक्ष्य, यत् सत्यं जानामि, एकस्थमिव त्रिविष्टपं दृष्टम्। —मृच्छ०, अंक ४, पृ० २४७

३. हला शकुन्तले गच्छोटजम् फलमिश्रमर्घमुपहर।
—अभि० शा०, अंक १, पृ० १७

४. इह खलु भगवता कनकशक्तिना चतुर्विधः सन्ध्युपायो दर्शितः।
तद्यथा पक्वेष्टकानामाकर्षणम्, आमेष्टकानां छेदनम्, पिण्डमयानां सेचनम्, काष्ठमयानां पाटनमिति। —मृच्छ०, अंक ३, पृ० १६०

५. वही।

६. प्रतिमा०, अंक ३, पृ० ६६

७. अवि०. ३.१६

युगविशेष के समाज की रहन-सहन प्रणाली का एक पोषक तत्त्व वेशभूषा भी है। विवेच्य युग में नर-नारी दोनों की वेशभूषा अत्यन्त सुसंस्कृत और परिष्कृत थी।

वेशभूषा

वस्त्र-चयन और परिधान के प्रति मनुष्यों की रुचि यथेष्ट परिपक्व थी। वे सूती, ऊनी, और रेशमी वस्त्रों, बहुमूल्य आभूषणों और सुगन्धित अवलेपनों का प्रयोग करते थे[1]। देश, काल, वातावरण, वैयक्तिक रुचि और सामाजिक स्तर के अनुसार व्यक्ति पृथक्-पृथक् परिधान धारण किया करते थे। प्रतिपाद्य नाटकों में वर्णित वेशभूषा के विविध प्रकार निम्नलिखित हैं—

जैसाकि 'क्षौमयुग्म'[2] 'कौशेयपत्रोर्णयुग्म'[3] आदि शब्द-प्रयोगों से व्यंजित होता है, स्त्री-पुरुष दोनों अपने शरीर की सुरक्षा के लिए दो वस्त्रों का प्रयोग करते थे—एक कटि

सामान्य वेशभूषा

से नीचे के भाग को आवृत करने के लिए और दूसरा कटि के ऊपर के भाग को ढकने के लिए व्यवहृत होता था। ऊपर का वस्त्र 'उत्तरीय'[4] या 'प्रावारक'[5] कहलाता था। 'शाटिका'[6] और 'शाटी'[7] का उल्लेख उस काल में साड़ी जैसे वस्त्र के प्रचलन को सिद्ध करता है। स्त्रियाँ आजकल के ब्लाउज़ की तरह कोई वस्त्र नहीं पहनती थीं। वे अंग-सौष्ठव के लिये स्तनावरक के रूप में 'स्तनांशुक'[8] धारण करती थीं। पुरुष सिर पर 'वेष्टन'[9] या 'पट्ट'[10] बांधते थे। 'मृच्छकटिक' में शकार वसन्तसेना को प्रसन्न करने के लिए अपना पगड़ी-युक्त सिर

---

१. देखिए, परिवार नामक अध्याय के अन्तर्गत राज-परिवार का विवेचन।
२. अभि० शा०, अंक ४, पृ० ६८
३. माल०, अंक ५, पृ० ३५६
४. दू० वा०, १.३
५. अयं प्रावारकः ममोपरि उत्क्षिप्तः। —मृच्छ०, अंक २, पृ० १४२
६. एकस्य शाटिकया कार्यमपरस्य मूल्येन। —प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ८६
७. जर्जरस्नानशाटीनिबद्धम्। —मृच्छ०, अंक ३, पृ० १६८
८. विक्र०, ५.१२
९. पतामि शीर्षेण सवेष्टनेन। —मृच्छ०, ८.३१
१०. प्रतिज्ञा०, ४.३

उसके चरणों पर रखने को उद्यत हो जाता है[1]। चरणों की रक्षा के लिए 'जूते'[2] और 'पादुका'[3] उपयोग में लाये जाते थे।

राजा और उसका परिवार अपने विभवानुकूल बहुमूल्य और और जड़ाऊ परिधान धारण करता था[4]।

यति या तपस्वी नगर के कोलाहल से दूर शान्त आश्रमों में निवास करते थे। अतः उनकी वेशभूषा भी सांसारिकता से परे वैराग्य और साधना की प्रतीक होती थी[5]। प्रकृति-प्रदत्त वल्कल ही मुनियों और वनवासियों के वस्त्र होते थे। दुष्यन्त आखेट के लिए जाते हुए मार्ग में तपस्वियों के वल्कलों से टपकी हुई जल-रेखाओं से तपोवन की सीमा का अनुमान कर लेते हैं[6]। 'अभिषेक नाटक' में राम वनवास-रूप धर्म-कार्य के लिए राजोचित वस्त्रों का परित्याग कर वल्कल पहनते हैं[7]। वल्कल तपस्वियों के लिए तप रूप संग्राम में कवच, संयम रूप गज के वशीकरण में अंकुश, इन्द्रिय रूप अश्व के निग्रह में लगाम का कार्य करते थे[8]। न केवल ऋषिजन अपितु तापसियाँ और मुनि-कन्याएँ भी वल्कल-वसन से अपने गात्र को सुशोभित करती थीं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुन्तला अपनी सखी अनसूया से अत्यन्त कस कर बाँधे गये वल्कल को शिथिल करने

यति-वेश

---

१. मृच्छ०, ८.३१

२. एषा पुनः का फुल्लप्रावारकप्रावृता उपानद्युगलनिक्षिप्ततैलचिक्कणाभ्यां पादाभ्यामुच्चासनोपविष्टा तिष्ठति। —मृच्छ०, अंक ४, पृ० २४४

३. चन्दनं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम्। —माल०, अंक ५, पृ० ३४७

४. देखिए, परिवार नामक अध्याय के अन्तर्गत राज-परिवार का विवेचन।

५. मंगलालंकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया।
त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया॥ —माल०, १.१४

६. अभि० शा०, १.१४

७. मंगलार्थेऽनया दत्तान् वल्कलांस्तावदानय।
करोम्यन्यैर्नृपधर्मं नैवाप्तं नोपपादितम्॥ —प्रतिमा०, १.२४

८. तपः संग्रामकवचं नियमद्विरदांकुशः।
खलीनमिन्द्रियाश्वानां गृह्यतां धर्मसारथिः॥ —प्रतिमा०, १.२८

के लिए कहती है[१]।

परिव्राजक और बौद्ध भिक्षुक काषाय वस्त्र पहनते थे। 'मालविकाग्निमित्र नाटक' में देवी कौशिकी वैधव्य के दुःख के कारण काषाय वस्त्र धारण कर संन्यास ग्रहण कर लेती है[२]। 'मृच्छकटिक' में बौद्ध भिक्षुक को काषाय-वस्त्रधारी कहा गया है[३]। संन्यासी पुराने कुलथी के चूर्ण से अपने वस्त्र रंगते थे[४]।

काष्ठनिर्मित चरणपादुका मुनिवेश का ही एक अंग थी। बनवास-काल में राम पैरों में पादुका ही पहनते हैं[५]। तपस्वी लम्बी-लम्बी दाढ़ी रखते थे[६] और हाथ में दण्डकमण्डलु लिये रहते थे[७]। वे सिर में डालने के लिए इँगुदी के तेल का प्रयोग करते थे[८]।

वन-कन्याओं के प्रसाधन-संविधानक वन्य एवं तापसोचित होते थे। वे पुष्पाभरणों से अपने शरीरावयवों को अलंकृत करती थीं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुन्तला कर्णावतंस रूप में शिरीष पुष्प धारण करती है[९]। राजा दुष्यन्त चित्र में शकुन्तला को वनवासानुरूप प्रसाधनों से सजाना चाहता है[१०]।

---

१. सखि अनसूये। अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियंत्रितास्मि। शिथिलय तावदेतत्। —अभि० शा०, अंक १, पृ० १३

२. माल०, अंक ५, पृ० ३५०

३. न युक्तं निर्वेदधृतकाषायं भिक्षुं ताडयितुम्। —मृच्छ०, अंक ८, पृ० ३७६

४. तस्यां त्वं पुष्करिण्यां पुराणकुलित्थयूषशवलानि दूष्यगन्धीनि चीवराणि प्रक्षालयसि। —मृच्छ०, अंक ८, पृ० ३७९

५. पादोपभुक्ते तव पादुके म एते प्रयच्छ प्रणताय मूर्ध्ना। —प्रतिमा०, ४.२५

६. यथाहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्वकूर्चानां तापसानां कदम्बैः। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ११६

७. तच्च परिभ्रष्टदण्डकुण्डिकाभाजनं शीकरैः सिक्ता। —मृच्छ०, अंक २, पृ० १४०

८. अभि० शा०, अंक २, पृ० २४

९. वही, १.२८

१०. वही, अंक ६, पृ० ११६

विवाह की विशिष्ट वेशभूषा होती थी[1]। वर-वधु को इस अवसर पर मांगलिक परिधान से विभूषित किया जाता था। वर स्वस्तिसूचक लाल वस्त्र धारण करता था[2]। वधु दुकूलनिर्मित ओढ़नी ओढ़ती थी और नख-सिख तक आभूषण पहनती थी[3]। वह नानाविध औषधियों से गुंथी हुई कौतुकमाला भी धारण करती थी। 'स्वप्नवासवदत्ता' में चेटी वासवदत्ता से पद्मावती के लिए कौतुकमाला गूंथने को कहती है[4]। 'कौशेयपत्रोर्णयुगल'[5] भी विवाह नेपथ्य में समाविष्ट था।

विवाह-परिधान

योद्धाओं की वेशभूषा 'समरपरिच्छद'[6] कहलाती थी। धनुषबाणादि अस्त्र, कवच, गोधा (ज्याघातवारण) और अंगुलित्राण समरवेश में परिगणित थे[7]। योद्धा दधिपिण्डवत् श्वेत छत्र भी धारण करते थे[8]।

समर-वेश

सामान्य स्त्रियों की तुलना में अभिसारिकाओं का वेश-विन्यास पृथक होता था। अवसर और परिस्थिति के अनुसार इनका वेश परिवर्तित होता रहता था। कभी इनकी वेशभूषा तड़क-भड़क वाली होती थी और कभी सामान्य। 'विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी सामान्य अभिसारिका-वेश धारण करती है। वह नीलांशुक पहन कर अल्पाभरणों से अपने को अलंकृत करती है[9]।

अभिसारिका-वेश

---

१. विवाहनेपथ्येन खलु शोभते मालविका। —माल०, अंक ५, पृ० ३४३

२. मृच्छ०, १०.४४

३. अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी बहुभिराभरणैः प्रतिभाति मे।
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका हतहिमैरिव चैत्रविभावरी ॥ —माल०, ५.७

४. इमां तावत् कौतुकमालां गुम्फतु आर्या। —स्व० वा०, अंक ३, पृ० ७६

५. माल०, अंक ५, पृ० ३५६

६. अये अयमंगराजः समरपरिच्छदपरिवृतः। —कर्णभार, अंक १, पृ० ४

७. पंचरात्र, २.२

८. पंचरात्र, अंक २, पृ० ५५

९. हला चित्रलेखे अपि रोचते तेऽयं मेऽल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेशः। —विक्र०, अंक ३, पृ० १६८

'मालविकाग्निमित्र' में दस्युओं की वेशभूषा का वर्णन हुआ है।

दस्यु-वेश

डाकू हाथ में धनुष-बाण लिये रहते थे और कंधे पर तूणीर धारण करते थे। उनकी पीठ पर मोर के लम्बे-लम्बे पंख बंधे रहते थे[१]।

विवेच्य नाटकों में स्थान-स्थान पर द्वारपाल और प्रतिहारी का उल्लेख हुआ है, किंतु उसकी वेशभूषा का स्पष्ट आभास कहीं

प्रतिहारी की वेशभूषा

नहीं मिलता। 'प्रतिमा नाटक' में द्वार-पालिका को श्वेत अंशुक धारण किये हुए बताया गया है[२]। अन्त:पुर का द्वार-रक्षक कंचुकी कहलाता था। वह सम्भवत: जैसा कि उसके सम्बोधन से स्पष्ट है, लम्बा कंचुक धारण करता था। वृद्ध होने के कारण उसके हाथ में बेंत की छड़ी रहती थी[३]।

केवल 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में मृगया-वेश का संकेत मिलता है[४]। दुष्यन्त कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँच कर अपने परिजनों से आखेट

मृगया-वेश

की वेशभूषा उतारने को कहता है। इससे इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि शिकारियों की एक विशिष्ट वेशभूषा होती थी, किन्तु यह वेशभूषा कैसी और किस प्रकार की होती थी, इसका कोई परिचय नहीं मिलता है।

यवनियाँ या राजा की यूनानी अंगरक्षिकाएँ[५] आखेट-काल में अपने विशिष्ट परिधान के कारण तुरन्त पहचान ली जाती थीं। वे

यवनी-वेश

गले में वन्य-पुष्पों की माला धारण किये हुए और हाथ में धनुष लिये हुए राजा की रक्षा करती थीं[६]। मथुरा-संग्रहालय

---

१. माल०, ५.१०

२. चरति पुलिनेषु हंसी काशांशुकवासिनी सुसंहृष्टा।
मुदिता नरेन्द्रभवने त्वरिता प्रतिहाररक्षीव॥ —प्रतिमा०, १.२

३. अभि० शा०, ५.३

४. अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेशम्। —अभि० शा०, अंक २, पृ० ३२

५. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग १, पृ० ३२७

६. अभि० शा०, अंक २, पृ० २७

के प्रसिद्ध कापालिक मण्डल (Bacchanalian group) में यूनानी महिलाओं की पोशाक देखी जा सकती है[१]।

विरहिणी और विरही की वेशभूषा

विरहिणी नारियाँ प्रिय के विरह में समस्त शृङ्गार छोड़ देती थीं। वे मलिन वस्त्र[२] धारण कर अतीत की स्मृति में अपना समय व्यतीत किया करती थीं। वे एक वेणी बाँधती थीं[३]। आभूषणों से उन्हें अरुचि हो जाती थी[४]। व्रत, उपवासादि नियमों[५] और अनाहार[६] के कारण उनका शरीर कृश हो जाता था। शकुन्तला, सीता, कुरंगी आदि नारियाँ क्रमशः दुष्यन्त, राम और अविमारक के विरह में विरहिणी का वेश ही धारण करती हैं।

पुरुष भी प्रिया के विरह में विक्षिप्त-से हो जाते थे। उनकी वेशभूषा प्रमत्त व्यक्ति की-सी प्रतीत होती थी। दुष्यन्त शकुन्तला के विरह में विशिष्ट एवं राजोचित मण्डन विधि का परित्याग कर देता है और सतत चिन्ता के कारण अतीव कृशता को प्राप्त करता है[७]।

नियम-वेश

व्रत, उपवास आदि के अवसर पर नर-नारी जो परिधान धारण करते थे, उसे नियमवेश[८] कहते थे। व्रतधारिणी नारियाँ श्वेत रेशमी वस्त्र धारण करती थीं। उनके शरीर पर मांगलिक आभूषण और केशों में दूर्वादल शोभायमान रहता था[९]।

वध्य व्यक्ति वध के अवसर पर रक्त वस्त्र धारण करता था[१०]।

---

१. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग १, पृ० ३२७

२. वसने परिधूसरे वसाना। —अभि० शा०, ७.२१

३. धारयन्त्येकवेणी। —अभि०, २.८

४. सुमनोवर्णं नेच्छति। —अभि०, अंक ३, पृ० ६२

५. नियमक्षाममुखी। —अभि० शा०, ७.२१

६. अनशनकृशदेहा। —अभि०, २.८

७. अभि० शा०, ६.६

८. विहितनियमवेषा राजर्षिमहिषी दृश्यते। —विक्र०, अंक ३, पृ० २०२

९. विक्र०, ३.१२

१०. मृच्छ०, १०.४४

उसे करवीर पुष्पों की माला पहनायी जाती थी[1] और सम्पूर्ण शरीर को पितृवन के पुष्पों से परिवेष्टित किया जाता था[2]। उसके शरीर पर रक्त-चन्दन के छापे लगाये जाते थे[3] और तिल, तण्डुल आदि के पिसे हुए चूर्ण का अवलेपन किया जाता था[4]।

वध्य पुरुष की वेशभूषा

स्नानीय-वेश स्नान के समय एक विशेष वस्त्र धारण किया जाता था जो स्नानीय-वस्त्र कहाता था[5]।

डिण्डिक-वेश[6] डिण्डिक संभवत: बहुरूपिया होता था। जो अपनी विकृत एवं उपहासास्पद वेशभूषा से मनुष्यों का मनोरंजन करता था[7]।

गोपालक-वेश ग्वालों की भी एक पृथक् वेशभूषा होती थी। 'बालचरित' में गोपालक-वेश का केवल संकेत-मात्र मिलता है[8]।

सामाजिक उत्सव एवं आमोद-प्रमोद

तत्कालीन सामाजिक जीवन में उत्सव एवं आमोद-प्रमोद का बड़ा महत्व था। मनुष्य अतीव उत्साह एवं उमंग से उत्सवों को मनाते थे और विविध क्रीड़ाओं एवं मनोविनोद के साधनों से अपना मनोरंजन करते थे। उल्लेखनीय सामाजिक उत्सव एवं मनोविनोद इस प्रकार हैं—

'मध्यमव्यायोग' में इस उत्सव का संकेत मिलता है[9]। यह इन्द्र

---

१. दत्तकरवीरदामा। —मृच्छ०, १०.२

२. मृच्छ०, १०.३

३,४. मृच्छ०, १०.५

५. माल०, ५.१२

६. प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ७२

७. कपिलदेवगिरि शास्त्री कृत प्रतिज्ञायौगन्धरायण की टीका, पृ० ७२

८. विष्णोर्बालचरितमनुभवितुं गोपालकवेशप्रच्छन्ना घोषमेवावतरिष्यामः। —बा० च०, अंक १, पृ० ३८

९. मायापाशेन बद्धस्त्वं विवशोऽनुगमिष्यसि।
राजसे रज्जुभिर्बद्धः शक्रध्वज इवोत्सवे॥ —मध्यम०, १.४७

के सम्मान में आयोजित एक धार्मिक एवं सार्वजनिक उत्सव था।

शक्रध्वजोत्सव

श्री भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार यह समारोह भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की अष्टमी से द्वादशी पर्यन्त पाँच दिन तक मनाया जाता था[१]। इसमें आश्विन-पूर्णिमा के सात दिन पूर्व ही इन्द्र की ध्वजा रस्सियों से बाँध कर स्थापित की जाती थी। प्रतिदिन उसे बड़े उत्साह से फहराया जाता था और पूर्णिमा के दिन रस्सियाँ खोल कर ज़मीन पर पटक दिया जाता था। यह ध्वजा इन्द्र का प्रतीक मानी जाती थी। इस इन्द्रध्वज-उत्सव का लक्ष्य इन्द्रदेव से सुवृष्टि और प्रभूत धान्य प्रदान करने की कामना थी। यह समारोह वर्त्तमान भारत के होली पर्व और योरुप के 'मेपोल फेस्टिवल' से बहुत साम्य रखता है[२]।

इन्द्रयज्ञ-उत्सव

यह सम्भवतः इन्द्रध्वज उत्सव का ही एक प्रकार होगा। यह आभीर जाति का प्रिय पर्व था[३]।

द्यूत-क्रीड़ा

विवेच्य समाज में द्यूत-क्रीड़ा का अत्यधिक प्रचलन था। 'कत्ता'[४] 'त्रेता'[५] 'पावर'[६] आदि द्यूतशास्त्र के पारिभाषिक शब्द इसकी लोकप्रियता को ही सूचित करते हैं। जूआ खेलने पर कोई राजकीय नियंत्रण नहीं था। मनुष्य निर्बाध रूप से जुआ खेलते थे। धनिकों का तो द्यूत प्रिय व्यसन ही था[७]। जूआ मनुष्यों के लिए बिना सिंहासन का राज्य था[८]।

द्यूतकरों की एक मण्डली या समुदाय होता था[९]। इस द्यूत-

---

१. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग २, पृ० १६५

२. डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास : रामायणकालीन संस्कृति, पृ० ६७-८

३. श्वोऽस्माकं घोषस्योचित इन्द्रयज्ञो नामोत्सवो भविष्यति।
—बा० च०, अंक १, पृ० ११

४. मृच्छ०, २.५

५,६. वही, २.६

७. नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभववता समुपास्यते जनेन। —मृच्छ०, २.७

८. द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्। —मृच्छ०, अंक २, पृ० ११३

९. एष त्वं खलु द्यूतकरमण्डल्या बद्धोऽसि। —मृच्छ०, अंक २, पृ० १०६

मंडली का अध्यक्ष 'सभिक'[1] कहलाता था। सभिक का सभी द्यूतकरों पर आधिपत्य रहता था। वह जूए में हार कर रुपया न देने वाले द्यूतकर की वहुत दुर्गति करता था। 'मृच्छकटिक' में द्यूतकर माथुर दस सुवर्ण के लिए संवाहक को मारता है[2]। हारे हुए जुआरी पर न्यायालय में दावा करके भी रुपया वसूल किया जाता था। संवाहक के जूए में हार कर भाग जाने पर द्यूतकर माथुर से राजकुल में निवेदन करने के लिए कहता है[3]। द्यूत जीविका का आधार भी था। 'मृच्छकटिक' में संवाहक चारुदत्त के निर्धन होने पर द्यूतोपजीवी हो जाता है[4]। जूए से एक ओर धन-सम्पत्ति की उपलब्धि होती थी तो दूसरी ओर मनुष्य का सर्वनाश भी हो जाता था[5]।

संगीत एवं नृत्य

मनोविनोद के साधनों में संगीत एवं नृत्य का भी विशिष्ट स्थान था। मनुष्य नाच-गाकर अपनी श्रान्तिक्लान्ति का शमन करते थे। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त अपने मनोविनोद के लिए आर्य रेभिल के घर संगीत सुनने जाता है[6]। वीणा आदि वाद्य यन्त्र भी मनुष्य के एकाकी जीवन के मनोनुकूल मित्र थे। चारुदत्त वीणा को उत्कण्ठित व्यक्ति का अन्तरंग मित्र, निर्दिष्ट स्थान पर गुप्त प्रेमी के आने में विलम्ब होने पर मनोविनोद का साधन, वियोग से उद्विग्न जन को धैर्य प्रदान करने वाली प्रेयसी के तुल्य और अनुरागियों में प्रेम की वृद्धि करने वाली वताता है[7]। नृत्य भी मानव हृदय के उल्लास एवं उमंग की अभिव्यक्ति का सरल माध्यम था। 'बालचरित' में वर्णित हल्लीसक नृत्य एक लोकनृत्य का ही रूप था। यह एक

---

१. लेखकव्यापृतहृदयं सभिकं दृष्ट्वा झटिति प्रभ्रष्टः। —मृच्छ०, २.२

२. मृच्छ०, २.१३

३. मृच्छ०, अंक २, पृ० १२६

४. चारित्र्यावशेषे च तस्मिन् द्यूतोपजीवी अस्मि संवृत्तः। —मृच्छ०, अंक २, पृ० १३२

५. मृच्छ०, २.८

६. कापि वेला आर्य चारुदत्तस्य गान्धर्वं श्रोतुं गतस्य। —मृच्छ०, अंक ३, पृ० १४७

७. मृच्छ०, ३.३

रुचिर और ललित नृत्य होता था[१]। इसमें बालाएँ सज-धज कर एक नेता पुरुष के साथ नगाड़े की धुन पर नाचती थीं[२]।

तत्कालीन समाज में मनोविनोदों के अन्तर्गत वेश्या एवं गणिका भी परिगणित थे। धनिक और कामुक व्यक्ति वेश्याओं को प्रभूत धन देकर उनका उपभोग करते थे[३]। 'मृच्छकटिक' में राजश्याल संस्थानक गणिका वसन्तसेना के साथ रमण करने के लिए दस हज़ार मूल्य का सुवर्णाभूषण भेजता है[४]। वेश्या-गृह कामुकों के रमण-स्थल बने हुए थे।

वेश्या एवं गणिका

समाज में शौकीन मनुष्य अपने चित्तानुरंजनार्थ अनेक प्रकार के पक्षी भी पालते थे। वसन्तसेना के प्रासाद में पालतू पक्षियों के आवास के लिए एक पृथक् प्रकोष्ठ ही निर्मित था[५]। पालतू पक्षियों में पारावत, पंजरशुक, मदनसारिका, कोयल, लावक, कपिंजल, कपोत, गृहमयूर, राजहंस और सारस प्रमुख थे[६]। पहाड़पुर की खुदाई में हंस, मयूर, कोकिल आदि पक्षियों के अनेक चित्र मिले हैं जिनसे गुप्तकालीन पक्षियों का ज्ञान होता है और तत्कालीन साहित्य में वर्णित पक्षियों के वर्णन की भी पुष्टि होती है[७]। पक्षियों के अतिरिक्त पशु भी मनोरंजनार्थ पाले जाते थे। वसन्तसेना के प्रासाद-वर्णन के प्रसंग में भेड़, वानर आदि पशुओं के पालने का उल्लेख मिलता है[८]।

पक्षी-पालन

---

१. भोगे विषोल्वणफणस्य महोरगस्य।
हल्लीसकं सललितं रुचिरं वहामि ॥ —बा० च०, ४.६

२. अद्य भर्तृदामोदरोऽस्मिन् वृन्दावने गोपकन्यकाभिः सह हल्लीसकं नाम प्रक्रीडितुभागच्छति। —बा० च०, अंक ३, पृ० ४४

३. चारुदत्त, १.१७

४. आर्ये ! येन प्रवहणेन सह सुवर्णदशसाहस्त्रिकोऽलंकारः अनुप्रेषितः।
—मृच्छ०, अंक ४, पृ० १६३

५. ही ही भोः। प्रसारणं कृतं। गणिकया नानापक्षिसमूहैः।
—मृच्छ०, अंक ४, पृ० २४२

६. मृच्छ०, अंक ४, पृ० २४१-२४२

७. आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया रिपोर्ट।

८. मृच्छ०, अंक ४, पृ० २३३

उद्यान एवं वाटिका भी नागरिकों के विनोद के साधन थे। मनुष्य अपने घर के सामने छोटा-सा उद्यान लगाया करते थे। 'मृच्छ-कटिक' में चारुदत्त[1] और वसन्तसेना[2] के गृहोद्यान उस समय के मनुष्यों के प्रकृति-प्रेम को ही सूचित करते हैं। ये उद्यान भाँति-भाँति के पुष्पित वृक्षों से अत्यन्त मनोहर और रमणीक प्रतीत होते थे[3]। इनमें युवतियों के भूलने के लिए दोला आदि भी वृक्षों पर डाल दिये जाते थे[4]।

उद्यान

जन-सामान्य के विनोद के लिए साँप का खेल भी प्रचलित था। सपेरे कुटिल विषधरों को मन्त्रादि द्वारा वशीभूत कर पिटारी में बन्द कर लेते थे और उनकी नाना प्रकार की चेष्टाएँ दिखा कर जनता का मनोरंजन करते थे। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में गात्र-सेवक अपने मित्रों की तुलना बंधन से छूटे हुए कृष्णसर्पों से करता है[5]। जब खेल दिखाने के लिए सर्पों को मंजूषा से बाहर निकाला जाता था तो वे एकदम क्रुद्ध हो कर अपना फण ऊँचा करते थे[6]।

सांप का खेल

'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में एक स्थल पर 'डिण्डिक' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ कपिलदेवगिरि[7] ने विकृत वेश भाषणादि के द्वारा जनता का मनोरंजन करने वाला किया है। इससे ऐसा आभास होता है कि तत्कालीन समाज में बहुरूपिये या स्वांग

स्वांग

---

१. मृच्छ०, अंक ३, पृ० १५७

२. मृच्छ०, अंक ४, पृ० २४७

३. अच्छरीतिकुसुमप्रस्तारा: रोपिता अनेकपादपा:।
—मृच्छ०, अंक ४, पृ० २४८

४. मृच्छ०, अंक ४, पृ० २४८

५. एते ते सुहृदो निरोधमुक्ता इव कृष्णसर्पा इतस्ततो निर्धावन्ति।
—प्रतिज्ञा०, अंक ४, पृ० ११०

६. प्रतिज्ञा०, ४.१३

७. डिण्डिको नाम यो विकृतवेपभाषणादिना जनस्य हास्यं जनयन् भिक्षामर्जयति स उच्यते। —कपिलदेवगिरि कृत प्रतिज्ञायौगन्धरायण की टीका, पृ० ७२

भरने वाले भी होते थे जो विचित्र वेशभूषा और स्वर-परिवर्तन के द्वारा जनता का मनोरंजन किया करते थे।

लोकमान्यताएं और जन-विश्वास

मानव-जीवन के निर्माण में लोक-मान्यताओं और लोक-विश्वासों का भी सदा से योग रहा है। ये विश्वास बौद्धिक सिद्धांत या धारणाएं नहीं हैं, अपितु जन-प्रचलित रूढ़ एवं तर्कशून्य रूढ़ियाँ या परम्पराएँ हैं। आलोच्य काल में अन्धविश्वासों का अभाव नहीं था। दैनिक जीवन में स्वप्न, शकुन, भूत-प्रेत, ज्योतिष, देव, तन्त्र-मंत्र, ब्रह्मशापादि में मनुष्यों की अटल आस्था थी।

स्वप्न

स्वप्नों के शुभाशुभ फलों में लोगों का प्रगाढ़ विश्वास था। उनसे उन्हें भावी घटनाओं की पूर्व सूचना मिलती थी। 'बालचरित' में राजा कंस ज्योतिषियों से स्वप्न में दृष्ट आंधी, भूकम्प, उल्कापात और देवप्रतिमाओं का फल पूछता है[1]। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में नटी स्वप्न में अपने पितृकुल के व्यक्तियों को अस्वस्थ देख कर उनकी कुशलता के विषय में चिंतित हो उठती है[2]।

शकुन

निमित्त अथवा शकुन का प्रभाव भी जन-जीवन पर कुछ कम नहीं रहा है। शकुनों को प्रचलित मान्यताओं एवं मापदण्डों के आधार पर आँका जाता था और कार्य की सिद्धि-असिद्धि का पूर्वाभास पाने की चेष्टा की जाती थी[3]। नाटकों में वर्णित शुभाशुभ निमित्तों की विवरणिका इस प्रकार है—

(क) शुभ निमित्त—

१. आकाश में बिजली एवं प्रचण्ड वायु से विद्ध नूतन बादलों की गर्जना से अथवा कम्पायमान पृथ्वी के घूमने से किसी महापुरुष

---

१. बा० च०, अंक २, पृ० ३०

२. प्रतिज्ञा०, अंक १, पृ० ४

३. हा धिक्! पुत्रकस्य मे महानुभावत्वं सूचयिष्यन्ति जन्मसमयसमुद्भूतानि महानिमित्तानि। —बा० च०, अंक १, पृ० ४

के अवतार की सूचना ग्रहण की जाती थी[1]।

२. पुरुष का दक्षिण अक्षि-स्पन्दन शुभसूचक माना जाता था[2]।

३. चित्त में आकस्मिक आनन्द का अनुभव भी शुभ निमित्त का प्रतीक था। 'विक्रमोर्वशीय' में राजा पुरूरवा अपने हृदय में आकस्मिक प्रसन्नता का अनुभव कर अभीष्ट सिद्धि की कल्पना करता है[3]।

४. मरते हुए शत्रु को देखने से जन्मान्तर में भी अक्षिरोग नहीं होता था[4]।

(ख) दुर्निमित्त—

१. आकाश से जलती हुई उल्काओं का गिरना[5] अशुभ माना जाता था।

२. कौए का शुष्क वृक्ष की शुष्क शाखा पर बैठ कर उस पर अपनी चोंच घिसना और सूर्याभिमुख होकर भयावह स्वर में क्रन्दन करना दुर्निमित्त का द्योतक समझा जाता था[6]। सूर्याभिमुख कौए का शुष्क वृक्ष पर बैठ कर भयंकर वामनेत्र से देखना भी भावी विपत्ति की सूचना देता था[7]।

३. लपलपाती हुई जिह्वा वाले, शुक्ल दांतों से युक्त, कुटिल तथा वायु से परिपूरित कुक्षि वाले सर्प का मार्ग में दर्शन दुर्लक्षण था। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त न्यायमण्डप को जाते समय मार्ग में सर्प को देख कर अपनी दुःखद मृत्यु का अनुमान कर लेता है[8]।

४. पुरुष का वाम-नेत्र-स्पन्दन[9] और स्त्री का दक्षिण-नेत्र-

१. बा० च०, १.६
२. मृच्छ०, ६.२४
३. विक्र०, २.६
४. मृच्छ०, अंक १, पृ० ५४७
५. दूतघ० १.२५
६. पंचरात्र, अंक २, पृ० ५२
७. मृच्छ०, ६.११
८. वही, ६.१२
९. वही, ७.६

स्फुरण[1] अशुभसूचक था।

५. मुण्डित-मस्तक बौद्ध संन्यासी का दर्शन अमांगलिक समझा जाता था[2]।

६. सूर्योदय के समय सूर्यग्रहण किसी महापुरुष के विनाश की सूचना देता था[3]।

७. हृदय का अकारण भयभीत एवं व्यथित होना[4] पृथ्वी के शुष्क होने पर भी पैरों का लड़खड़ाना[5] तथा बाहु का पुनः-पुनः प्रकम्पन[6] शुभ शकुन नहीं माना जाता था।

शुभ और अशुभ निमित्तों के अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रधान गुण, कर्म एवं फल वाले महानिमित्त होते थे जिनका शुभाशुभ फल निश्चित नहीं था। 'बालचरित' में कंस ऐसे ही महानिमित्तों को देख कर उनके फल का निश्चय नहीं कर पाता है[7]।

तत्कालीन समाज में भूत-प्रेत[8], पिशाच[9] आदि में भी लोग बहुत विश्वास करते थे। इन प्रेतात्मा जीवों का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में प्रतिहारी राजा से कहता है कि किसी अदृष्ट-रूप वाले प्राणी ने माणवक को मेघ-प्रतिच्छन्द नामक प्रासाद के अग्रभाग में रख दिया है।

भूत-प्रेत

---

१. मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३२६

२. कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्। —मृच्छ०, अंक ७, पृ० ३७१

३. सूर्योदये उपरागो महापुरुषविनिपातमेव कथयति।
—मृच्छ०, अंक ६, पृ० ४६०

४,५. मृच्छ०, ७.६

६. मृच्छ०, ६.१३

७. सेव्यैः प्रधानगुणकर्मफलैर्निमित्तैः।
किं वाग्रतो व्यसनमभ्युदयो नु तन्मे। —बा० च०, २.१

८. अदृष्टरूपेण केनापि सत्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्याग्रभूमिमारोपितः।
—अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२४

९. भवति ननु पश्य आश्वासितो पिशाचोऽपि भोजनेन।
—विक्र०, अंक २, पृ० १८६

फलित ज्योतिष और नक्षत्र-विद्या में भी मनुष्यों की आस्था थी। नवीन कार्यारम्भ के लिये ग्रह, नक्षत्र, मुहूर्त आदि के मांगल्य का विशेष ध्यान रखा जाता था। राज्याभिषेक, युद्ध के लिये प्रस्थान, गृह-प्रवेश, यज्ञारम्भ, विवाह-संस्कार आदि कार्य सदा मांगलिक एवं ज्योतिष-सम्मत मुहूर्त में ही सम्पन्न किये जाते थे। 'अविमारक' में अमात्य भूतिक शुभ नक्षत्र में कुरंगी के वरान्वेषण के लिए प्रस्थान करते हैं[1]। 'प्रतिमा नाटक' में भरत के नगर-प्रवेश के समय भट भरत से कृत्तिका की समाप्ति पर नगर में प्रवेश करने के लिये कहता है[2]।

ज्योतिष

सिद्ध-पुरुषों एवं दैव-चिन्तकों के वाक्य प्रमाण माने जाते थे। 'मृच्छकटिक' में राजा पालक सिद्धादेश में विश्वास कर आर्यक को बन्दीगृह में डलवा देता है[3]। सिद्धों की भविष्यवाणी या गणना कभी असत्य सिद्ध नहीं होती थी। विधि या दैव सिद्धादेश का ही अनुकरण करता था[4]—ऐसा जन-विश्वास था। राजसभा में भी वेतनभोगी[5] दैव-चिन्तक[6] होते थे।

भाग्य या विधि के सर्वातिशायी प्रभाव में तत्कालीन नागरिकों की अटल आस्था थी। सम्पूर्ण जगत् विधि की लीला माना जाता था। विधाता ही समस्त चराचर विश्व की स्थिति का नियामक था[7]। उसके विधान का कोई भी प्राणी उल्लंघन नहीं कर सकता था[8]। मानव-जीवन की विविध क्रियाओं के साफल्य और

दैव

---

१. अद्य नक्षत्रं शोभनमिति तेन च दूतेनामात्य आर्यभूतिक प्रस्थितः।
—अवि०, अंक ३, पृ० ६०

२. प्रतिमा०, अंक ३, पृ० ७४

३. मृच्छ०, अंक ४, पृ० २२४

४. तत्प्रत्ययात् कृतमिदं नहि सिद्धवाक्या-
न्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि ॥ —स्व० वा०, १.११

५. अर्थशास्त्र, खण्ड ५, अध्याय ३

६. माल०, अंक ४, पृ० ३२३

७. मृच्छ० १०.५९

८. विधिरनतिक्रमणीयः। —प्रतिमा०, अंक २, पृ० ५६

असाफल्य में दैव का प्रमुख हाथ रहता था[1]। दुर्दैव के शमनार्थ मनुष्य तीर्थादि भी जाते थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में महर्षि कण्व शकुन्तला के भाग्य की प्रतिकूलता की शांति के लिए सोमतीर्थ जाते हैं[2]। दैव के प्रति अगाध निष्ठा होते हुए भी जन-जन में पुरुषार्थ विद्यमान था। 'वालचरित' में कंस अपने पुरुषार्थ से दैव तक को वंचित करने की शक्ति रखता है[3]।

अलौकिक तत्त्व

तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना, शाप और दैवी विद्याओं जैसे अलौकिक तत्त्वों में भी जनता का विश्वास था। मन्त्रों में दैवी शक्ति मानी जाती थी। मन्त्र-बल से व्यक्तियों के स्वेच्छानुसार अदृश्य और दृश्य हो जाने और सब कुछ जान लेने के उल्लेख भी मिलते हैं[4]। सांसारिक आधि-व्याधि के निराकरण के लिए रक्षा-सूत्र और रक्षा-करण्डक पहनने की प्रथा भी थी। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में राजमाता नाग-वन को गये हुए अपने पुत्र की जीवन-रक्षा के लिए समस्त वंधुओं के हाथ से स्पर्श किया गया रक्षा-सूत्र भेजती है[5]। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में भरत के हाथ में अपराजिता नामक औषध से युक्त तावीज़ बाँधा गया था[6]। दैवी विद्याएँ भी लोगों को सिद्ध हो जाती थीं। तिरस्करिणी और अपराजिता ऐसी ही अलौकिक विद्याएँ थीं। तिरस्करिणी विद्या की सिद्धि से अदृश्य रहने की शक्ति प्राप्त हो जाती थी[7] और अपराजिता विद्या के वल से अजेयता की उपलब्धि हो सकती थी[8]। माया के आश्रय से अलौकिक वस्तुओं का सृजन भी

१. प्रतिज्ञा०, १.३

२. दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। —अभि० शा०, अंक १, पृ० ६

३. वा० च०, २.१४

४. अवि०, ४.१३

५. सर्ववधूजनहस्तयुक्ता वा एका वा प्रतिसरा दीयतामिति।
—प्रतिज्ञा०, अंक १, पृ० १०

६. अभि० शा०, अंक ७, पृ० १३६

७. चित्रलेखा—(तिरस्करिणीमपनीय राजानमुपेत्य)।
—विक्र०, अंक २, पृ० १८३

८. ननु भगवतादेवगुरुणा अपराजितां नाम शिखावन्धनविद्यामुपदिशता त्रिदश-प्रति पक्षस्यालङ्घनीये कृते स्वः। —विक्र०, अंक २, पृ० १७६

सम्भव था। 'प्रतिमा नाटक' में रावण अपनी माया से कांचन-मृग की रचना कर राम को प्रवंचित करता है[1]। ऋषियों का शाप अमोघ माना जाता था। 'अविमारक नाटक' में चण्डभार्गव ऋषि के शाप से सौवीर-राज सपरिवार श्वपाकत्व को प्राप्त होता है[2]।

समाज और राष्ट्र के उत्कर्ष में सामाजिक प्रथाओं का भी योग रहता है। ये प्रथाएँ मानव को समाज से सुसम्बद्ध करने वाली कड़ियाँ होती हैं। वर्ण्य समाज में लौकिक रीतियों और प्रथाओं के बंधन बड़े कठोर थे। लोक-प्रथाओं का पालन करना प्रत्येक सामाजिक के लिए आवश्यक था। इनका उल्लंघन करने वाला दंड का भागी होता था। 'अभिषेक नाटक' में राम बाली को अगम्यागमन अर्थात् छोटे भाई की स्त्री को दूषित करने के अपराध के कारण दंड देते हैं[3]।

सामाजिक प्रथाएँ

लोक-निंदा और लोकापवाद का भय ही लौकिक प्रथाओं का पालन कराने में प्रधान रूप से कारण होता था। लोकापवाद की आशंका से लोग मर्यादा का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर पाते थे। 'अभिषेक नाटक' में राम प्रजा के विश्वास के हेतु ही परम पुनीता सीता की अग्नि-परीक्षा लेते हैं[4]।

विवेच्य नाटकों के आधार पर तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं की रूपरेखा इस प्रकार खींची जा सकती है—

समाज में विवाहिता नारी के लिए सामाजिक बंधन अत्यन्त कठोर था। विवाहित स्त्री का, चाहे पति की प्रिय हो या अप्रिय, पति-गृह में रहना ही लोकसम्मत माना जाता था[5]। पितृगृह में उसका

---

१. प्रतिमा, अंक ५, पृ० १४०-१४२

२. यस्माद् ब्रह्मर्षिमुख्योऽहं श्वपाक इति भाषितः।
तस्मात् सपुत्रदारस्त्वं श्वपाकत्वमवाप्स्यसि॥ —अवि०, ६.६

३. दण्डितस्त्वं हि दण्ड्यत्वाद् अदण्ड्यो नैव दण्ड्यते।
—अभि०, अंक १, पृ० १६

४. जानतापि च वैदेह्याः शुचितां धूमकेतन।
प्रत्ययार्थं हि लोकानामेवमेव मया कृतम्॥ —अभि०, ६.२६

५. अभि० शा०, ५.२७

निवास लोकनिंदा का कारण बन जाता था। मनुष्य उसके लिए अनेक प्रकार की शंकाएँ करने लग जाते थे[१]।

लोक-रीति के अनुसार छोटे भाई के संसर्ग से बड़े भाई की स्त्री दूषित नहीं मानी जाती थी, किंतु बड़े भाई के संसर्ग से छोटे भाई की स्त्री दूषित हो जाती थी[२]। 'अभिषेक नाटक' में सुग्रीव की स्त्री को अभिमर्षित करने के अपराध के कारण राम बाली को दंड देते हैं[3]।

मातृ-दोष के कारण पुरुषों को दोषी या अपराधी नहीं समझा जाता था। इसी आधार पर भरत माता के दोषी होने पर भी स्वयं को निर्दोष सिद्ध करता है[४]।

आजकल की तरह वर्ण्य युग में भी उपयुक्त अवसरों पर अभिनन्दन करने की प्रथा प्रचलित थी। 'प्रतिमा नाटक' में राम के राज्याभिषेक के अवसर पर लक्ष्मणादि भ्राता और समस्त बंधु-बान्धव उनका अभिनन्दन करते हैं[५]।

कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिए शपथ या सौगंध खाने की रीति भी सर्वत्र प्रचलित थी। मनुष्य प्रायः अपनी प्रियतम वस्तु की शपथ खाते थे। 'स्वप्नवासवदत्त नाटक' में विदूषक अपने मित्र राजा को सत्य कहने के लिए मित्रता की शपथ दिलाता है[६]। पैरों की शपथ खाने की भी विचित्र प्रथा प्रचलित थी। भरत सुमन्त्र को सत्य वृत्तान्त बताने के लिए दशरथ के चरणों की शपथ दिलाता है[७]।

---

१. अभि० शा०, ५.१७

२. न त्वेवं हि कदाचिज्ज्येष्ठस्य यवीयसो दाराभिमर्शनम्।

—अभि०, अंक १, पृ० १७

३. अभि०, १.२१

४. सुपुरुष ! पुरुषाणां मातृदोषो न दोषो,
वरद भरतमार्तं पश्य तावद्यथावत्॥ —प्रतिमा०, ४.२१

५. प्रतिमा०, अंक ७, पृ० १८२-१८३

६. वयस्यभावेन शापितः असि, यदि सत्यं न भणसि।

—स्व० वा०, अंक ४, पृ० १११

७. स्वर्गं गतेन महाराजपादमूलेन शापितः स्याः, यदि सत्यं न ब्रूयाः।

—प्रतिमा०, अंक ६, पृ० १५८

प्रतिज्ञा करने से पूर्व जल का आचमन किया जाता था। यौगन्धरायण जल का आचमण कर स्वामी को शत्रु-वन्धन से मुक्ति दिलाने की प्रतिज्ञा करता है[1]।

छींक या जमुहाई आते समय आशीर्वादात्मक वचनों का प्रयोग करने की रीति थी[2]।

इष्टजन की विदा के समय सगे-सम्बन्धी किसी जलाशय तक छोड़ने जाते थे। शकुन्तला को विदा करते समय महर्षि कण्व और अनसूया आदि सखियाँ उसे सरस्तीर तक पहुँचाने जाते हैं[3]।

सम्माननीय व्यक्ति से मिलते समय उसे कुछ-न-कुछ उपहार में अवश्य दिया जाता था। ऋषिगण राजा दुष्यन्त से मिलते समय उसे फल भेंट करते हैं[4]। भगवती कौशिकी महारानी धारिणी से मिलने जाते समय बिजौरिया नींबू उपहार के लिए मँगाती है[5]।

'दूतवाक्य' में 'तृणान्तराभिभाषण' नामक सामाजिक प्रथा का संकेत भी उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार दुष्ट के साथ तिनका बीच में रख कर वार्तालाप किया जाता था। श्रीकृष्ण दुर्योधन जैसे दुरात्मा व्यक्ति से तिनका मध्य में रख कर अभिभाषण करना उचित समझते हैं[6]। तिनका बीच में रखने का तात्पर्य यह था कि वक्ता श्रोता को प्रत्यक्ष सम्बोधित न करके तिनके को माध्यम बना कर बोलता था और श्रोता परोक्ष रूप से इस संवाद को सुनता था।

विवाहादि मांगलिक अवसरों पर सौभाग्यवती स्त्रियाँ ही समस्त मंगल-कृत्य सम्पन्न करती थीं। 'स्वप्नवासवदत्त' में सौभाग्यवती नारियाँ ही जामाता उदयन को चतुश्शाला में ले जाती हैं[7]।

---

१. प्रतिज्ञा०, अंक १, पृ० ३८

२. क्षुतादिप्रयोगेष्वाशिषोऽभिधेयाः। —प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ० ६८

३. भगवन् ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्। अत्र सन्दिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि। —अभि० शा०, अंक ४, पृ० ७३

४. अभि० शा०, अंक २, पृ० ३७

५. माल०, अंक ३, पृ० २६८

६. भोः कुरुकुलकलंकभूत! अयशोलुब्ध। वयं किल तृणान्तराभिभाषकाः। —दू० वा०, अंक १, पृ० ३०

७. स्व० वा०, अंक ३, पृ० ८२

दीर्घ प्रवास के पश्चात् नगर में प्रवेश करते समय नगर के समीप थोड़ा विश्राम कर नगर में प्रवेश करना लोकाचारों में परि-गणित था[1]।

सामाजिक सुख-समृद्धि के लिए सामाजिक नीरोगता एवं अनामयता अनिवार्य है। कहा भी गया है 'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्' अर्थात् मानव के लिए सांसारिक धर्म का पालन करने का प्रमुख साधन सुस्वास्थ्य एवं नीरोगता है और यह केवल चिकित्सा-शास्त्र के परिज्ञान द्वारा ही सम्भव है।

चिकित्सा-विधि

आलोच्य युग में औषध-विज्ञान एवं चिकित्सा-शास्त्र समुन्नत एवं विकासशील था। समाज में वैद्यों[2], भिषजों[3] और चिकित्सकों[4] का बाहुल्य था। चिकित्सक रोग-निदान और रोगोपचार में सिद्धहस्त होते थे। रोगविशेषज्ञ भी थे जिन्हें विशेष-विशेष रोगों का विशिष्ट ज्ञान होता था। 'मालविकाग्निमित्र' में ध्रुवसिद्धि नामक विषवैद्य सर्पदष्ट व्याधियों का विशेषज्ञ है[5]।

रोगोपचार के सम्बन्ध में सर्वप्रथम रोग का कारण जानने का प्रयास किया जाता था। व्याधि के निदान-परीक्षण के विना उसकी चिकित्सा असम्भव थी[6]। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुन्तला की सखियाँ उसके मनस्ताप का कारण जान कर उसका निवारण करना चाहती हैं[7]। चिकित्सकों के अनुसार अनियमित आहार भी शारीरिक विकारों का मूल था[8]। असमय भोजन करने से शारीरिक क्रिया-प्रणाली अव्यवस्थित होकर अनेक प्रकार के रोगों को जन्म देती थी।

---

१. अथ च उपोपविश्य प्रवेष्टव्यानि नगराणीति सत्समुदाचारः।
—प्रतिमा०, अंक ३, पृ० ७५

२,३. किमाहुस्तं वैद्याः, न खलु भिषजस्तत्र निपुणाः। —प्रतिमा०, ३.१

४. अत्रभवत उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति।
—माल०, अंक २, पृ० २८८

५. माल०, अंक ४, पृ० ३१६

६. विकारं खलु परमार्थतः अज्ञात्वा नारम्भः प्रतीकारस्य।
—अभि० शा०, अंक ३, पृ० ४४

७. वही।

८. माल०, अंक २, पृ० २८८

रोग के दो प्रकार थे—एक मानसिक और दूसरा शारीरिक। मानसिक सन्ताप का कारण व्यक्ति की विशेष अवस्था या परिस्थिति होती थी, किन्तु शारीरिक पीड़ा का कारण शरीरगत विकार था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दुष्यन्त के मनस्ताप का हेतु शकुन्तला का विरह है। शारीरिक रोगों में कुछ तो सामान्य एवं साध्य रोग होते थे और कुछ असाध्य। सामान्य रोगों में आतपलंघन[1] (लू लगना), शीर्षवेदना[2], मोच आ जाना[3], कुक्षिपरिवर्त[4] (पेट का गुड़गुड़ाना), फोड़ा-फुन्सी[5], अक्षिरोग[6], सन्धिक्षोभ[7], व्रण[8], सर्प-दंश[9], ठंड लगना[10] आदि का निरूपण किया गया है। जटिल रोगों में यक्ष्मा[11], चातुर्थिक ज्वर[12], कुब्ज[13], वातशोणित[14] का संकेत विवेच्य नाटकों में मिलता है।

वैद्यों एवं चिकित्सकों द्वारा अनुमत उपचार-विधि के साथ-साथ प्राथमिक एवं घरेलू उपचार भी प्रचलित थे। आतप-ताप में शरीर को शीतलता पहुँचाने के लिए उशीरानुलेप किया जाता था[15]। मोच आये हुए अंग पर रक्तचन्दन का लेप लाभकारी समझा जाता था[16]।

---

१. अभि० शा०, अंक ३, पृ० ४१
२. स्व० वा०, अंक ५, पृ० १३३
३. माल०, अंक ४, पृ० ३२१
४. स्व०, वा०, अंक ४, पृ० ८६
५. ततो गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः। —अभि० शा०, अंक २, पृ० २८
६. मृच्छ०, अंक १०, पृ० ५४७
७. अभि० शा०, अंक २, पृ० २८
८. क्रियतामस्य व्रणप्रतिकर्मेति। —प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ० ६७
९. माल०, ४.४
१०. मृच्छ०, अंक १, पृ० ८२
११. यक्ष्मार्ता इव पादपाः। —अवि०, ४.४
१२. एषा खलु चातुर्थिकेन पीडयते। —मृच्छ०, अंक ४, पृ० २४५
१३. अभि० शा०, अंक २, पृ० २८
१४. यथा वातशोणित अभितरव वर्तत इति पश्यामि। —स्व० वा०, अंक ४, पृ० ८६
(यह सम्भवतः गठिए का ही एक प्रकार होगा।)
१५. अभि० शा०, अंक ३, पृ० ४१
१६. माल०, अंक ४, पृ० ३१७

व्रण-विरोपण के लिए इंगुदी तैल श्रेष्ठ माना जाता था[१]। सर्प के काटने पर सर्प-विष के निवारण के लिए या तो उस दष्ट अंग को काट दिया जाता था, या जला दिया जाता था या घाव में से दूषित रक्त निकाल दिया जाता था[२]।

उस युग में भी दयालु एवं सहृदय चिकित्सक थे जो दरिद्र एवं दीन रोगियों को निःशुल्क औषध देते थे[३]।

चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से व्यायाम[४] भी मानव स्वास्थ्य के लिए आवश्यक था। इससे शरीर हृष्ट-पुष्ट रहता था, स्कन्ध-प्रदेश दृढ़, उन्नत और विशाल हो जाता था[५]। इसके अन्तर्गत खेल-कूद, विविध क्रीड़ाएँ और कसरत समाविष्ट थे। 'स्वप्नवासवदत्त' में राजकुमारी पद्मावती के मुख पर कन्दुक-क्रीड़ा रूप व्यायाम से उत्पन्न स्वेदबिन्दु दिखाई देते हैं[६]।

भास, कालिदास और शूद्रक के सतरह नाटक सम्मिलित रूप से तत्कालीन सामाजिक जीवन और जीवन-पद्धति का चित्र प्रस्तुत करते हैं। जहाँ भास तथा कालिदास के रूपक राजकीय जीवन का संस्पर्श करते दिखाई देते हैं, वहाँ शूद्रक का 'मृच्छकटिक' जन-सामान्य की दशा का चित्रांकन करता है। किसी एक विवेच्य नाटककार या उसके नाटकों को तद्युगीन जीवन-पद्धति के अंकन का श्रेय नहीं दिया जा सकता है।

निष्कर्ष

---

१. यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे। —अभि० शा०, ४.१४

२. माल०, ४.६

३. दरिद्र इवातुरो वैद्येनौषधं दीयमानमिच्छसि। —माल०, अंक २, पृ० २८७

४. व्यायामशाली चाप्यनुपालकः। —प्रतिज्ञा०, २.१३

५. व्यायामस्थिरविपुलोच्छ्रितायतांसो। —अवि०, १.८

६. स्व० वा०, अंक २, पृ० ६७

७

शिक्षा-प्रणाली

समाज-चित्रण का एक महत्त्वपूर्ण रूप शिक्षा-प्रणाली भी है। विवेच्य नाटकों से तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। समाज में शिक्षा का क्या स्वरूप था, क्या-क्या विषय पढ़ाये जाते थे, गुरु-शिष्य का सम्बन्ध किस प्रकार का होता था, क्या पाठ्यक्रम था—आदि सभी शिक्षा-सम्बन्धी विषयों का विवरण वर्ण्य नाटकों में मिलता है।

शिक्षा-केन्द्र

आलोच्य युग में शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ सुसंचालित शिक्षण-संस्थाएँ थीं जहाँ उनको विभिन्न विद्याओं एवं कलाओं की शिक्षा दी जाती थीं।

शिक्षा-केन्द्रों में आश्रमों का विशिष्ट स्थान था जो कोलाहल और अशान्त वातावरण से परे शान्त अरण्यों में स्थित थे।

आश्रम

आश्रम विद्या के सर्वोत्कृष्ट केन्द्र थे। उनमें ज्ञान-विज्ञान की अजस्र धारा प्रवाहित होती थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर आश्रमों की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि "भारतवर्ष में सबसे आश्चर्य-जनक बात ध्यान देने योग्य यह है कि यहाँ शहर नहीं, जंगल सर्वोत्कृष्ट संस्कृति के जन्मदाता हुए। इन जंगलों में यद्यपि मनुष्य ही रहते थे, परन्तु संघर्ष और कलह का लेशमात्र भी चिह्न न था। यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है कि इस एकाकी जीवन और एकान्तता ने मनुष्य को अकर्मण्य न बना कर ज्ञान का विस्तार ही किया[1]।" कण्व,

१. गायत्री देवी वर्मा : कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ३७६

च्यवन और मारीच ऋषियों के आश्रम इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

आश्रम-विद्यालयों में विविध विद्याओं की शिक्षा प्रदान की जाती थी। उनमें अनेक शास्त्रों और विद्याओं में पारंगत, अपने विषय के विशेषज्ञ, आचार्य होते थे, जो विद्यार्थियों को विषय-विशेष का अधिकारी वना देते थे। 'विक्रमोर्वशीय' में राजकुमार आयु च्यवन ऋषि के निर्देशन में समस्त विद्याओं का अनुशीलन कर धनुर्वेद में विशेष योग्यता प्राप्त करता है[१]। 'स्वप्नवासवदत्त' में ब्रह्मचारी लावाणक नाम के ग्राम में स्थित शिक्षा-केन्द्र में वेदों का विशेष अध्ययन करने के लिए जाता है[२]। कण्व के आश्रम के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि 'चारों वेदों में निपुण यज्ञ-सम्बन्धी साहित्य के विद्वान्, पद और कर्मपाठ के अनुसार संहिता का पाठ करने में विशेषज्ञ, छन्द, शिक्षा, व्याकरण और निरुक्त में प्रवीण, आत्मविज्ञान, ब्रह्मोपासना, मोक्ष, धर्म, न्याय, कला आदि के परम ज्ञाता वहाँ रहा करते थे[३]।'

आश्रम-धर्म एवं आश्रम-कर्त्तव्य अत्यन्त कठोर और दुर्वह होते थे। इनका पालन करना समस्त विद्यार्थियों एवं आश्रमवासियों के लिए आवश्यक था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में तन्वंगी शकुन्तला को वृक्ष सींचते हुए देख कर राजा दुष्यन्त कहता है कि महर्षि कण्व वस्तुतः असाधुदर्शी है, जिन्होंने इसको कठोर आश्रमधर्म में नियुक्त किया है[४]। दैनिक हवन[५], तपादि अनुष्ठान[६], वन से कन्द-मूल, समिधा, कुश, कुसुमादि का लाना[७], आश्रम-वृक्षों को[८] सींचना आदि आश्रम-धर्म में परिगणित थे।

---

१. गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः। —विक्र०, अंक ५, पृ० २४६

२. श्रुतिविशेषणार्थं वत्सभूमौ लावाणकं नाम ग्रामस्तत्रोषितवानस्मि। —स्व० वा०, अंक १, पृ० ४७

३. गायत्री देवी वर्मा : कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ३७९-३८०

४. अभि० शा०, अंक १, पृ० १२

५. यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि। —अभि० शा०, अंक ४, पृ० ६२

६. वत्से ! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्। —अभि० शा०, अंक ४, पृ० ७७

७. अद्य पुष्पसमित्कुशनिमित्तं ऋषिकुमारकैः सहगतेनानेनाश्रमविरुद्धमाचरितम्। —विक्र० अंक ५, पृ० २४६

८. अभि० शा०, अंक १, पृ० १२

आश्रमों का प्रधानाधिकारी कुलपति[1] कहलाता था। समस्त आश्रमवासी ऋषि उसकी आज्ञा उसी प्रकार शिरोधार्य करते थे जैसे परिवारजन अपने ज्येष्ठ व्यक्ति की। एक कुलपति के अधिष्ठातृत्व में दस हज़ार विद्यार्थी तक रहते थे। उनके पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का उत्तरदायित्व कुलपति पर ही होता था[2]। कहने की आवश्यकता नहीं कि कुलपति शब्द आश्रम-व्यवस्था में पारिवारिक वातावरण की सृष्टि का सूचक है[3]।

आश्रमों के संरक्षण और शान्ति-व्यवस्था का भार राजा पर होता था। वही आश्रमों का तन-मन-धन से रक्षण करता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में अनसूया भ्रमर द्वारा संत्रस्त शकुन्तला को तपोवन के रक्षक राजा दुष्यन्त का स्मरण करने को कहती है[4]। राजा को आश्रमवासियों के उपरोधों और विघ्नों की सतत् चिन्ता रहती थी[5]। वह आश्रम में अविनय का आचरण करने वालों को दण्डित करता था[6]। वह ऋषियों एवं ब्रह्मचारियों के कष्टों के परिज्ञान के लिए एक धर्माधिकारी भी नियुक्त करता था। धर्माधिकारी समय-समय पर आश्रम का निरीक्षण करता था और वही ऋषियों के सम्पद्-विपद् की सूचना भी राजा को यथासमय देता था[7]।

परम्परागत वैदिक आश्रमों के अतिरिक्त राजकीय शिक्षण-

---

१. अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः। —अभि० शा०, अंक १, पृ० ९

२. मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः।। —आचार्य कपिलदेव द्विवेदी कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की टीका, पृ० ३५-३६

३. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग २, पृ० ९१

४. अभि० शा०, अंक १, पृ० १६

५. राजा—तपोवननिवासिनामुपरोधो मा भूत्।
—अभि० शा०, अंक १, पृ० १०

६. कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यकासु।। —अभि० शा०, १.२३

७. भवति यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमाश्रमिणामविघ्न क्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः। —अभि० शा०, अंक १, पृ० १८

राजकीय शिक्षणालय

संस्थाएँ भी होती थीं जहाँ शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक एवं सांस्कृतिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में राजभवन के समीप स्थित इसी प्रकार के राजकीय विद्यालय का उल्लेख हुआ है। इस विद्यालय के दो विभाग थे, जिनमें एक में संगीतशाला[1] और दूसरे में चित्रशाला[2] थी।

राजकीय शिक्षणालयों के आचार्यों को राज्यकोष से नियमित वेतन मिलता था। 'मालविकाग्निमित्र' में नाट्याचार्य हरदास और गणदास संगीत एवं नृत्य के शिक्षण के लिए वेतन ग्रहण करते हैं[3]।

राजगृह

राज-परिवार के लिए राजगृह में भी शिक्षा की सम्यक् व्यवस्था होती थी। राजकुमारों को क्षात्रधर्म और अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देने के लिए राजगृह में राजाचार्य या राजगुरु रहते थे[4] जो राजा की छत्र-छाया में ही जीवन-यापन करते थे[5]। 'पंचरात्र' में आचार्य द्रोण इसी प्रकार के राजगुरु हैं। राजकन्याओं को भी विविध कलाओं में निपुण बनाने के लिए आचार्य नियुक्त किये जाते थे। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में महासेन की महिषी अपनी पुत्री वासवदत्ता को वीणा-वादन सिखाने के लिए एक आचार्य रखना चाहती है[6]।

गुरु का महत्त्व

शिक्षा के क्षेत्र में तो गुरु या शिक्षक का महत्त्व था ही, किन्तु समाज ने भी उसे उच्च एवं विशिष्ट पद प्रदान कर रखा था। उसे समाज में सर्वोत्कृष्ट और पूज्यतम माना जाता था। राज-राजेश्वर तक गुरु का देवता के समान आदर करते थे। 'पंचरात्र'

---

१. तत्तावत्संगीतशालां गच्छामि। —माल०, अंक १, पृ० २६२

२. चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति। —माल०, अंक १, पृ० २६४

३. भवति पश्याम उदरम्भरिसंवादम्। किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम्। —माल०, अंक १, पृ० २७४

४. भो आचार्य ! धर्मे धनुषि चाचार्य। —पंचरात्र, अंक १, पृ० २४

५. पंचरात्र, १.३०

६. प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ० ५३

में यज्ञ की समाप्ति पर गुरुजनों का अभिनन्दन करते समय दुर्योधन सर्वप्रथम आचार्य द्रोण को प्रणाम करता है[1]।

शिष्य के चारित्रिक विकास के लिए गुरु का व्यक्तित्व आदर्श बनता था। आदर्श-आचार्य ही शिष्य के भावी जीवन को दृष्टान्तरूप बना सकता था। आदर्श-गुरु स्वयं विद्वान् होता था और शिष्यों को विद्या प्रदान करने में प्रवीण होता था[2]। विद्या-दान से ज्ञान की वृद्धि मानी जाती थी, नाश नहीं। जीविकोपार्जन के लिए विद्या-दान निन्दनीय माना जाता था। 'मालविकाग्निमित्र' में विदूषक जीविका के हेतु अध्यापन-कर्म अंगीकार करने वाले मनुष्यों को ज्ञान का व्यापार करने वाले वणिक् बताता है[3]।

आदर्श-शिक्षक

गुरु की योग्यता शिष्य के चयन में प्रकट होती थी। शिक्षक का कौशल इसी में था कि वह विद्यार्थियों के दृढ़ मनोबल और उत्साह तथा शक्ति को देख कर उसके अनुकूल शिक्षा प्रदान करे। अयोग्य शिष्य का चयन गुरु के बुद्धिलाघव को व्यक्त करता था[4]। सुशिष्य को दी गई विद्या ही सफल होती थी। कुपात्र को विद्या का दान केवल मनोव्यथा का कारण बनता था[5]। गुरु की विद्या सुपात्र विद्यार्थी में पहुँच कर उसी प्रकार दमक उठती थी जैसे मेघ का जल समुद्र-शुक्ति में पहुँच कर मोती बन जाता है[6]। गुरु की सफलता शिष्य

---

१. पंचरात्र, अंक १, पृ० १९

२. श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥
—माल०, १.१६

३. यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति॥
—माल०, १.१७

४. विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयतीति।
—माल०, अंक १, पृ० २७५

५. सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता।
—अभि० शा०, अंक ४, पृ० ६३

६. पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥ —माल०, १.६

के नैपुण्य पर अवलम्बित समझी जाती थी[१]। 'मालविकाग्निमित्र' में आचार्य गणदास, भगवती कौशिकी के मुख से मालविका के नृत्य की प्रशंसा सुनकर अपने नाट्याचार्य के पद को सार्थक समझता है[२]।

गुरु-दक्षिणा

विद्यार्थीगण निश्चित विद्या की समाप्ति पर गुरु को वांछित दक्षिणा देते थे[३]। यह दक्षिणा कितनी होनी चाहिए, इसका स्पष्ट संकेत नाटकों में नहीं मिलता है। इसका स्वरूप एवं परिमाण गुरु या शिष्य की इच्छा पर निर्भर था। यज्ञादि धार्मिक समारोहों के समापन पर भी यज्ञकर्ता गुरु को दक्षिणा देते थे। 'पंचरात्र' में दुर्योधन यज्ञावसान पर आचार्य द्रोण को दक्षिणा स्वीकार करने को बाध्य करता है[४]।

विद्यार्थी-जीवन

जीवन का प्रथम चरण—ब्रह्मचर्याश्रम—विद्याध्ययन के लिए नियत था। इस अवधि में विद्यार्थी को संयमित जीवन-यापन करना पड़ता था। छात्र के परिवार का सामाजिक स्तर कुछ भी क्यों न हो, उसे गुरु के कठोर अनुशासन का पालन करना पड़ता था। 'विक्रमोर्वशीय' में आयु च्यवन ऋषि के आश्रम में विद्यार्जन करते समय, राजपुत्र होने पर भी, ऋषि-कुमारों के साथ समिधा, पुष्पादि लाने जाता है[५]। छात्र-जीवन में आत्मानुशासन, इन्द्रिय-निग्रह, दैनिक अनुष्ठानादि पर विशेष बल दिया जाता था। विद्या को तप की तरह अर्जित करना पड़ता था। विद्या समाप्ति पर्यन्त उसके लिए नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अनिवार्य था। राजकुमार आयु क्षत्रियोचित विद्याओं में निष्णात होकर ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है[६]।

---

१. माल०, २.६

२. अद्य नर्तयितास्मि। —माल०, अंक २, पृ० २८५

३. दीक्षां पारितवान् किमिच्छति पुनर्देयं गुरोर्यद्भवेत्। —स्व० वा०, १.८

४. भो आचार्य ! धर्मे धनुषि चाचार्य। प्रतिगृह्यतां दक्षिणा। —पंचरात्र, अंक १, पृ० २४

५. अद्य पुष्पसमित्कुशनिमित्तं ऋषिकुमारकैः सहगतेनानेनाश्रमविरुद्धमाचरितम्। —विक्र०, अंक ५, पृ० २४६

६. अयि वत्स उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे। द्वितीयमध्यासितुलव समयः। —विक्र०, अंक ५, पृ० २४६

बालक के विद्यारम्भ की अवस्था शैशवावस्था ही होती थी। माता-पिता अपने बालकों को विद्या-प्राप्ति के निमित्त बाल्यावस्था में ही गुरु के हाथों समर्पित कर देते थे[१]।

विद्याध्ययन की अवधि विद्यार्थी के विद्याध्ययन का परिसमाप्ति-काल निश्चित नहीं था। उसका दीक्षा-काल उसकी योग्यता पर निर्भर करता था। क्षत्रिय-बालक जब कवच धारण करने योग्य हो जाता था तभी वह विद्याध्ययन समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। 'विक्रमोर्वशीय' में राजकुमार आयु कवचहर इस आयु अवस्था तक समस्त विद्याएँ सीख लेता है[२]।

'कौटलीय अर्थशास्त्र' के अनुसार अध्येय विद्याएँ चार हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति। जिस विद्या से धर्म और अधर्म के स्वरूप का ज्ञान होता है उसे त्रयी कहते हैं, जिससे अर्थ या अनर्थ का बोध होता है, उसे वार्ता और जिसमें न्याय तथा अन्याय का विवेचन होता है, उसे दण्डनीति कहते हैं। जो विद्या तर्क द्वारा इन समस्त विद्याओं के महत्त्व का स्पष्टीकरण कर बुद्धि को स्थिर करती है और बुद्धि, वाणी और क्रिया में निपुणता लाती है, उसे आन्वीक्षिकी कहते हैं[3]।

अध्ययन के विषय

मनु ने चतुर्वेद, षड्वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्म-शास्त्र इन चतुर्दश विद्याओं का निरूपण किया है। शुक्राचार्य ने त्रयी के अन्तर्गत इन्हीं चतुर्दश विद्याओं को परिगणित किया है[४]।

विवेच्य नाटकों में अध्येय विषयों के अन्तर्गत ऋग्वेद[५], सामवेद[६], गणित[७], हस्तिशिक्षा[८], वैशिकी कला[९], नृत्य कला[१०], गान्धर्व

---

१. बालं ह्यपत्यं गुरवे प्रदातुर्नैवापराधोऽस्ति पितुर्न मातुः ॥

—पंचरात्र, १.१९

२. एष गृहीतविद्य आयुः सम्प्रति कवचहरः संवृतः।

—विक्र०, अंक ५, पृ० २४८

३. अर्थशास्त्र, १.२,८,१२

४. शुक्रनीति, १.५४

५,६,७,८,९. मृच्छ०, १.४

१०. मृच्छ०, १.१७

विद्या[1], चौर्यविद्या[2], संवाहन कला[3], धनुर्वेद[4], सांगोपांग वेद[5], मानवीय धर्मशास्त्र[6], माहेश्वर योग शास्त्र[7], वार्हस्पत्य अर्थशास्त्र[8], मेधातिथि का न्यायशास्त्र[9], प्राचेतस श्राद्धकल्प[10], इतिहास[11], वेदान्त दर्शन[12], नाट्य-विद्या[13] और ज्योतिष-शास्त्र[14] की चर्चा की गई है। इनके अतिरिक्त आलोच्य-काल में अपराजिता[15] नामक शिखावन्धन विद्या और तिरस्करिणी[16] जैसी रहस्यमयी विद्याएँ भी प्रचलित थीं जिनकी सिद्धि से अदृश्य होने की शक्ति प्राप्त हो जाती थी।

विवेच्य युग में मौखिक पठन-पाठन के साथ लिखित सामग्री का उपयोग भी होता था। अध्येय विषयों का ज्ञान पुस्तकों[17] द्वारा भी कराया जाता था। उर्वशी का प्रेम-पत्र[18],

लेखन-प्रणाली

शकुन्तला का ललितपदों वाला प्रणय-पत्र[19], सेनापति पुष्यमित्र का राजकीय लेख[20], कल्पवृक्ष के पत्तों से निर्मित वस्त्रों पर लिखी गयी दुष्यन्त की कीर्ति-गाथा[21], तत्कालीन सुनिश्चित लेखन-शैली के ज्वलन्त दृष्टान्त हैं।

---

१. प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ० ६३
२. मृच्छ०, अंक ३, पृ० १५६-१७१
३. मृच्छ०, अंक २, पृ० १२७
४. पंचरात्र, अंक ३, पृ० ११५
५,६,७,८,९,१०. —प्रतिमा०, अंक ५, पृ० १३४
११. अभि० शा०, अंक ३, पृ० ४४
१२. विक्र०, १.१
१३. माल०, १.४
१४. माल०, अंक ५, पृ० ३५१
१५. अभि० शा०, अंक ७, पृ० १३९
१६. विक्र०, अंक २, पृ० १७७
१७. एतदक्षरं मम पुस्तके नास्ति। —अवि०, अंक २, पृ० ३३
१८. विक्र०, २.१३
१९. अभि० शा०, अंक ३, पृ० ४९
२०. अयं देवस्य सेनापतेः पुष्यमित्रस्य सकाशात्सोत्तरीयप्राभृतको लेखः प्राप्तः। —माल०, अंक ५, पृ० ३५२
२१. अभि० शा०, ७.५

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में प्रयुक्त 'लेखन-साधनम्'[1] शब्द लेखन-सामग्रियों के अस्तित्व को द्योतित करता है। लिखनें के लिए पत्र-रूप में नलिनी-पत्र[2] और भूर्ज-पत्र[3] का प्रयोग किया जाता था। शकुन्तला नें कमल-पत्र पर प्रेम-पत्र लिखा था और उर्वशी नें भूर्ज-पत्र पर अपनें मनोभाव व्यक्त किये थे। 'नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु'[4], से ऐसा व्यंजित होता है कि उस युग में नखों को पैना और नुकीला बना कर उनसे भी लेखनी का काम लिया जाता था। लिखने के लिए मसि या स्याही का उपयोग होता था। स्याही की छोटी-छोटी टिकिया[5] मिलती थीं जिन्हें मसि-पात्र में पानी में घोल कर लिखने योग्य मसि का रूप दे दिया जाता था।

लेखन-सामग्री

निष्कर्ष यह है कि आलोच्य-काल में शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा था। द्विज-बालकों को आश्रमों में शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा की अवधि क्षमता एवं योग्यता पर निर्भर होती थी। आश्रमों में विविध विद्याएँ सिखायी जाती थीं। समाज और धर्म में गुरु का स्थान बहुत ऊँचा था। उसका आदेश सर्वोपरि नियामक होता था और उसके समक्ष राजा तक झुकते थे। आश्रम-संस्कृति से यह अनुमान लगाना गलत न होगा कि भारतीय संस्कृति का विकास नगरों में नहीं अपितु वनों में हुआ था। अध्ययन-अध्यापन में पुस्तकों का प्रयोग भी होता था। सन्देश आदि के प्रेषण में पत्र-प्रयोग होता था। लेखनी के अभाव में बढ़े हुए नुकीले नख का उपयोग भी होता था। शिक्षा की व्यवस्था राज-धर्म का अंग थी। राजपरिवारों में राजगुरु भी होते थे। विद्या-दान ब्राह्मण का कर्त्तव्य था, जीविकोपार्जन का साधन नहीं।

निष्कर्ष

---

१. न खलु संनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि।—अभि० शा०, अंक ३, पृ० ४९

२. एतस्मिंछुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु।
—अभि० शा०, अंक ३, पृ० ४९

३. भूर्जपत्रगतोऽयमक्षरविन्यासः। —विक्र०, अंक २, पृ० १८०

४. अभि० शा०, अंक ३, पृ० ४९

५. बलीयसि खल्वन्धकारे माषराशिप्रविष्टेव मसीगुटिका दृश्यमानेव प्रनष्टा वसन्तसेना। —मृच्छ०, अंक १, पृ० ५६

८

धर्म एवं नीति

समाज-रचना में धर्म एवं नीति का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। ये दोनों समाज के दृढ़ आधारस्तम्भ हैं। जिस प्रकार पहियों के सहयोग के बिना रथ अपने गन्तव्य पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता, उसी प्रकार धर्म एवं नीति के बिना सशक्त एवं सुचारु समाज का निर्माण असम्भव है।

धर्म मानव-जीवन के चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—में प्रथम एवं मूर्धन्य[1] है। इसके द्वारा ही अर्थ, काम एवं मोक्ष की सिद्धि होती है। इसी कारण आचार्यों ने इसे अभ्युदय एवं निःश्रेयस-सिद्धि का मूल माना है।

व्याकरण के अनुसार 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु में मन् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इससे व्युत्पत्तिलभ्य तीन अर्थ (या व्याख्याएँ) हैं। प्रथम, 'ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः' अर्थात् जिससे लोक धारण किया जाये वही धर्म है, द्वितीय, 'धरति धारयति वा लोकं इति धर्मः' अर्थात् जो लोक को धारण करे वह धर्म है और तृतीय, 'ध्रियते यः स धर्मः' अर्थात् जो दूसरों द्वारा धारण किया जाय, उसी की धर्म संज्ञा है। 'महाभारत' में धर्म का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'धारणात् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः'। इसके अनुसार धारण करना ही धर्म है[2]।

---

१. अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते॥

—कुमारसम्भव, ५.३८

२. डा० गायत्री वर्मा : कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ४१८

धार्मिक सम्प्रदाय

धर्मशास्त्रियों ने धर्म के स्वरूप के विषय में अपने बुद्धि-बल के आधार पर पृथक्-पृथक् व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इससे धर्म की अनेक शाखाएँ (सम्प्रदाय) दृष्टिगोचर होती हैं।

आलोच्य नाटकों में धर्म की चार शाखाओं का संकेत मिलता है जिन्हें ब्राह्मण, वैष्णव, शैव एवं बौद्ध मत के नाम से अभिहित किया गया है। यों तो जैन-सम्प्रदाय भी बहुत पुराना है, किन्तु उसका उल्लेख नगण्य है। स्पष्टतः उक्त नाटकों में जैन-धर्म विशेष चर्चा का विषय नहीं है।

ब्राह्मण-धर्म

संबंधित युग में ब्राह्मण-धर्म (जिसे वैदिक-धर्म भी कहा जा सकता है) का अखण्ड साम्राज्य था। वेदों और शास्त्रों में जनता का अटल विश्वास था। जीवन के क्रिया-कलापों में शास्त्र-वचन प्रमाण माने जाते थे[1]। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में शास्त्र-सम्मत निर्णय ही मान्य होता था। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में भरतरोहक युद्ध में जीते हुए शत्रु के विषय में शास्त्र-सम्मत विधान पूछता है[2]। वैदिक कर्मकाण्ड की प्रधानता एवं यज्ञादि को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। सर्वसाधारण में धार्मिक-क्रियाओं और यज्ञ-विधानों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी। यज्ञानुष्ठान इसी पृथ्वी पर स्वर्ग-प्राप्ति का सोपान माना जाता था। 'पंचरात्र' में दुर्योधन यज्ञ-रूप धर्मकृत्य करने से इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग-सुख का अनुभव करता है[3]। याग-क्रियाओं में दयादाक्षिण्यादि गुणों की समाहिति मानी जाती थी और उनसे मानव के समस्त कल्मष धुल जाते थे। दुर्योधन कपटी एवं अयशोभागी होने पर भी यज्ञ-दीक्षित होने के कारण सुकृती के रूप में शोभायमान होता है[4]। उस युग में गृहस्थ की दिन-

---

१. न जानाति भवान् शास्त्रमार्गम्। —अवि०, अंक २, पृ० ५१

२. अपरोक्ष-राज्यव्यवहारो भवानिति ब्रवीति। समरावजितेषु शत्रुषु किमाह शास्त्रम्? —प्रतिज्ञा०, अंक ४, पृ० १२६

३. मृतैः प्राप्यः स्वर्गो यदिह कथयन्त्येतदनृतम्।
परोक्षो न स्वर्गो बहुगुणमिहैवैष फलति॥ —पंचरात्र, १.२३

४. पंचरात्र, १.२२

चर्या में पंच महायज्ञ[१] (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ) की भावना विद्यमान थी। चारुदत्त का नित्य गृहस्थोचित देव-पूजन[२], देव-बलि-अर्पण[३] और सन्ध्या, जपादि धर्माचरण[४], पंचयज्ञ की महत्ता का परिचायक है। इन्द्र[५], अग्नि[६], विष्णु[७], वरुण[८], सूर्य[९], रुद्र[१०], मरुत[११], यम आदि[१२] वैदिक देवताओं को विशेष महत्त्व प्राप्त था।

परम्परागत वर्णाश्रम-धर्म की समुचित व्यवस्था थी[१३]। समाज में ब्राह्मणों का सर्वोत्कृष्ट पद था। पृथ्वी पर पूज्यतम[१४] होने के कारण समस्त धार्मिक आयोजनों में उनको अग्रिम स्थान दिया जाता था।

वैष्णव-धर्म

विवेच्य युग में वैष्णव धर्म का उदय हो चुका था। वैदिक-कालीन विष्णु जो प्रकृति की दिव्य शक्ति मात्र थे, इस युग में सर्व-शक्तिमान् देवता बन गये थे। वे त्रैलोक्य के आदि कारण[१५] और त्रिलोक में अभिनीत क्रिया-कलापों के सूत्रधार[१६] माने जाते थे। उनके दशावतारों का अत्यधिक माहात्म्य था। विवेच्य नाटकों

---

१. मनुस्मृति, ३.६९,७०

२. तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः।
तुष्यन्ति शमिना नित्यं देवताः किं विचारितैः॥ —मृच्छ०, १.१६

३. तद्वयस्य। कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः। गच्छ त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर। —मृच्छ०, अंक १, पृ० २०

४. अहमपि कृतशौचः सन्ध्यामुपासे। —मृच्छ०, अंक ३, पृ० १८९

५. मृच्छ०, २.३

६. पंचरात्र, १.४

७. मृच्छ०, ६.२७

८. अभि०, अंक ४, पृ० ६९

९. मृच्छ० ६.२७

१०. पंचरात्र, १.१६

११. अभि०, ६.३०

१२. अभि०, ६.३३

१३. भो भोस्तपस्विनः असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति। —अभि० शा०, अंक ५, पृ० ८४

१४. द्विजोत्तमाः पूज्यतमाः पृथिव्याम्। —मध्यम०, १.९

१५. नमो भगवते त्रैलोक्यकारणाय नारायणाय। —अभि०, अंक ४, पृ० ७७

१६. दू० घ०, १.१

में विष्णु के सात अवतारों—राम[1], कृष्ण[2], बलराम[3], वराह[4], वामन[5], नृसिंह[6] और मत्स्य[7] का निरूपण मिलता है। विष्णु पृथ्वी पर धर्म के संस्थापन और अधर्मियों के विनाश के लिए अवतार लेते हैं[8]—ऐसा तत्कालीन धार्मिक विश्वास था, जिसमें निःसन्देह गीता की परम्परा है।

वर्ण्य-काल में विभिन्न दार्शनिक एवं धार्मिक मतों के साथ-साथ शैवाद्वैतवादी विचारधारा भी प्रवहमान थी। इसके अनुसार केवल शिव ही इस चराचर जगत् के कारण थे। जल, अग्नि, पुरोधा, रवि, शशि, आकाश, पृथ्वी और वायु शिव के आठ व्यक्त रूप माने जाते थे[9]। वे अखण्ड समाधि[10] में स्थित होकर मुमुक्षु और अनन्य भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करते थे[11]। शिव का अर्द्धनारीश्वर[12] रूप भी उपासना का विषय था। वेदान्त में वे संसार में व्याप्त परमपुरुष के नाम से प्रशस्त हैं[13]।

शैव-मत

आलोच्य-युग बौद्ध-धर्म का ह्रास-युग था। बौद्ध-धर्म उन्नति की

१. अभि०, १.१
२. वयमपि मनुष्यलोकमवतीर्णस्य भगवतो विष्णोर्बालचरितमनुचरितुं गोपालकवेषप्रच्छन्ना घोषमेवावतरिष्यामः। —बा० च०, अंक १, पृ० २०
३. स्व० वा, १.१
४. अभि०, ६.३१
५. बा० च०, १.१
६. अभि० शा०, ७.३
७. अवि०, १.१
८. इह तु जगति नूनं रक्षणार्थं प्रजानाम्।
अमुरसमितिहन्ता विष्णुरद्यावतीर्णः॥ —बा० च०, १.९
९. अभि० शा०, १.१
१०. शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलय ब्रह्मलग्नः समाधिः। —मृच्छ०, १.१
११. विक्र०, १.१
१२. कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्। —माल०, १.१
१३. वेदान्तेषु यमाहुरेक पुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी। —विक्र० १.१

ओर अग्रसर न होकर पतन की ओर गतिमान् था। इसमें अनेक विकृतियों ने जन्म ले लिया था। धर्म का व्यावहारिक पक्ष समाप्त होकर केवल सैद्धान्तिक पक्ष रह गया था। बौद्धों के

बौद्ध-धर्म

धार्मिक सिद्धान्त केवल उपदेश के विषय रह गये थे। जीवन में उनका पालन नहीं किया जाता था। जनता की धर्मास्था विगलित हो गई थी। लोग सांसारिक कष्टों से बचने के लिए (धर्माभिरुचि से नहीं) परिव्राजकत्व ग्रहण कर लेते थे। 'मृच्छकटिक' में संवाहक सांसारिक जीवन से दुःखी होकर शाक्यश्रमणक बन जाता है[1]। बौद्ध-भिक्षुओं का समाज में आदर नहीं था। मनुष्य इनको घृणा एवं तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। शाक्यश्रमण का दर्शन अमांगलिक समझा जाता था। आर्यक को मुक्त करके जीर्णोद्यान जाते समय चारुदत्त मार्ग में भिक्षु को देखकर अमंगल की कल्पना करता है[2]।

धर्म और धार्मिक विचार-प्रणालियों का मूल आधार देवता है। देवता की अमोघ एवं अलौकिक शक्ति में विश्वास ही धर्म की नींव को दृढ़ करता है। तत्कालीन समाज में बहुदेववाद बद्धमूल हो चुका था। अनेक देवी-देवताओं में लोगों की आस्था

देवता

बढ़ गई थी। आलोच्य नाटकों में जिन देव-देवियों का उल्लेख हुआ है, वे ये हैं—इन्द्र[3], वरुण[4], अग्नि[5], रुद्र[6], सूर्य[7], मरुत[8], यम[9], विष्णु[10], ब्रह्मा[11], शिव[12], कुबेर[13], स्कन्द[14], कामदेव[15], चन्द्र[16],

---

१. आर्य अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि।

—मृच्छ०, अंक २, पृ० १३६

२. कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्।

—मृच्छ०, अंक ७, पृ० ३७१

३. मृच्छ०, २.३
४. अभि०, अंक ४, पृ० ६९
५. अभि०, अंक ६, पृ० ११९
६. अभि०, ६.३०
७. मृच्छ०, ६.२७
८. अभि०, ६.३०
९. अभि०, अंक ६, पृ० १२३
१०. मृच्छ०, ६.२७
११. मृच्छ०, ६.२७
१२. मध्यम०, १.४३
१३. मृच्छ०, अंक ४, पृ० २४७
१४. मृच्छ०, अंक ३, पृ० १५९
१५. अवि०, अंक ३, पृ० ७९
१६. अभि०, ६.३०

नारद[१], नगरदेवता[२], गृहदेवता[३], वनदेवता[४], लक्ष्मी[५], कात्यायनी[६], सरस्वती[७], शची[८], गौरी[९] और मातृदेवियाँ[१०]।

इन्द्र देवताओं का अधीश्वर था[११]। मेघों पर भी इसका आधिपत्य था। मेघ इन्द्र की आज्ञा से ही प्रचण्ड जलवृष्टि करते थे[१२]। इन्द्र के सम्मान में शक्रध्वजोत्सव[१३] और इन्द्रयज्ञ[१४] जैसे समारोह भी आयोजित होते थे।

वरुण जल का देवता[१५] माना जाता था। कुषाण और गुप्त मूर्तियों में यह मगर पर बैठा हुआ है और दण्ड के लिए हाथ में पाश लिये हुए है[१६]।

अग्नि देवताओं का मुख[१७] माना जाता था। यज्ञादि[१८] धार्मिक अनुष्ठानों में इसका विशेष महत्त्व था। राजगृहों में प्रासाद से पृथक् अग्न्यागार[१९] होते थे जहाँ निरन्तर अग्नि प्रदीप्त रहती थी।

रुद्र एक वैदिक-कालीन साधारण कोटि का देवता था जो गुप्तकाल तक आते-आते महत्त्वपूर्ण देवता बन गया। कालान्तर में इसका सम्बन्ध शिव से जोड़ा जाने लगा और अन्त में यह शिव का ध्वंसकारी रूप-मात्र रह गया[२०]। इसका प्रमुख अस्त्र परशु माना जाता था[२१]।

---

१. मृच्छ०, ५.११ २. मृच्छ०, १.२७
३. मृच्छ०, अंक १, पृ० ३२ ४. अभि० शा०, ४.५
५. अवि०, २.३ ६. अवि०, अंक ३, पृ० ७४
७. अभि०, ६.३० ८. विक्र०, अंक ३, पृ० २०३
९. मृच्छ०, १.२ १०. मृच्छ, अंक १, पृ० ३२
११. न खलु देवराजो ममासनमारोहति। —प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ८०
१२. मृच्छ०, ५.२१ १३. मध्यम०, १.४७
१४. बा० च०, अंक १, पृ० १४
१५. पश्य पश्य भगवत्प्रसादान्निष्कम्पवीचिमन्तं सलिलाधिपतिम्।
—अभि०, अंक ४, पृ० ७९
१६. भगवतशरण उपाध्याय: कालिदास का भारत, भाग २, पृ० १२६
१७,१८. तृप्तोऽग्निर्हविषामरोत्तममुखम्। —पंचरात्र, १.४
१९. वेत्रवति अग्निशरणमार्गमादेशय। —अभि० शा०, अंक ५, पृ० ८२
२०. डा० जगदीशचन्द्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, पृ० २८१-८२
२१. चिरं मूले दग्धः परशुरिव रुद्रस्य पतति। —पंचरात्र, १.१६

सूर्य ऋग्वेद के विश्वदेवों[1] में परिगणित देवता था। इसके सारथि का नाम अरुण[2] था, जो इसके रथ का संचालन करता था।

मरुत् विवेच्य युग के लोकप्रिय देवता नहीं थे। हाँ, वैदिक देवता के रूप में मरुत् की प्रतिष्ठा बनी हुई थी। मरुत् देवों का एक पृथक् समुदाय या गण[3] था। ऋग्वेद में ये वृष्टि-देवता के रूप में वर्णित हैं[4]।

यम भी एक वैदिक देवता था जो ऋग्वेद में मृतकों का राजा[5] बताया गया है। यही कालान्तर में मृत्यु का देवता माना जाने लगा।

विष्णु—ऋग्वेद का सूर्यदेव विष्णु आलोच्य युग में सर्वशक्तिमान, जगत् का नियन्ता और त्रिलोक का आदि कारण[6] माना जाने लगा था। सुदर्शन-चक्र, शार्ङ्ग धनुष, कौमोदकी गदा, पांचजन्य शंख, नन्दक तलवार इसके आयुध थे[7]। इसका वाहन गरुड़ पक्षी माना जाता था[8]। इसके विषय में ऐसी पौराणिक मान्यता थी कि यह धर्म-संस्थापन के लिए पृथ्वी पर विविध अवतार ग्रहण करता है[9]।

ब्रह्मा विश्व का स्रष्टा स्वीकृत था[10]। इसको 'प्रजापति'[11] संज्ञा से भी अभिहित किया जाता था। भारतीय संग्रहालयों में ब्रह्मा की मूर्त्ति चार सिर, चार हाथ वाली है। हाथों में वेद, कमण्डलु, रुद्राक्ष और स्रुवा हैं। बड़ी दाढ़ी वाली प्रतिमाएँ विशेष रूप से देखने में आती हैं[12]।

---

१. मेक्डॉनल : वैदिक माइथोलोजी, पृ० ३१

२. अभि० शा०, ४.२

३. सब्रह्मेन्द्रमरुद्गणं त्रिभुवनं सृष्टं त्वयैव प्रभो। —अभि०, ६.३०

४. ऋग्वेद, ८.७.१६

५. ऋग्वेद, १०.१४.१

६. नमो भगवते त्रैलोक्यकारणाय नारायणाय। —अभि०, अंक ४, पृ० ७७

७. दू० वा०, अंक १, पृ० ३७-४३

८. अये अयं भगवतो वाहनो गरुड प्राप्तः। —दू० वा०, अंक १, पृ० ४४

९. वा० च०, १.९

१०. मध्यम०, १.४३

११. अभि० शा०, ५.१५

१२. गायत्री देवी वर्मा : कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ४४४

शिव को हस्ति-चर्मधारी[१], सर्पों[२] से परिवेष्टित अर्द्धनारीश्वर[३], योगसमाधि में लीन[४], जल, अग्नि, पुरोधा, चन्द्र, सूर्य, आकाश, वायु और पृथ्वी—इन अष्टमूर्त्तियों से युक्त[५], पृथ्वी और आकाश में व्याप्त, वेदान्तियों का आदिपुरुष[६], आत्मभू[७], नीलकण्ठ[८], और गौरी से आश्लिष्ट[९] माना गया है। पिनाक (धनुष) इनका वरायुध है[१०]।

कुबेर धन का देवता माना गया है[११]। इसके नाम से कुरूपता प्रकट होती है। हाथ में एक थैली लिये हुए, कुरूप गर्दन और तोंद वाले एक लाक्षणिक बनिये या ख़ज़ान्ची के रूप में उसकी मूर्त्ति मिलती है[१२]।

स्कन्द शरवण से उत्पन्न[१३] और शक्ति नामक अस्त्र को धारण करने वाला[१४] कहलाता था।

कामदेव शृङ्गार-रस का देवता था[१५]। वसन्तोत्सव के अवसर पर इसकी आम्र-मंजरियों द्वारा पूजा की जाती थी[१६]।

चन्द्र औषधियों का स्वामी माना जाता था[१७]।

---

१. यः स्वयं कृत्तिवासाः। —माल०, १.१
२. पर्यंकग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो। —मृच्छ०, १.१
३. कान्तासंमिश्रदेहो। —माल०, १.१
४. शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः। —मृच्छ, १.१
५. अभि० शा०, १.१ ६. विक्र०, १.१
७. अभि० शा०, ७.३५ ८. मृच्छ०, १.२
९. मृच्छ०, १.२ १०. अभि० शा०, १.६
११. प्रतिमा०, ५.१७
१२. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग २, पृ० १४८
१३. प्रतिज्ञा०, २.२
१४. शक्तिधरो यमः। —मध्यम०, १.४३
१५. शृङ्गारैकरस : स्वयं नु मदनो। —विक्र०, १.१०
१६. सखि अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०२
१७. अभि० शा०, ४.२

नारद देवर्षि[1] कहलाता था। यह वेदों में पारंगत, संगीत प्रेमी और वीणा के स्वर से लोक में कलह उत्पन्न करने वाला मान्य था[2]।

गृह-देवता, नगर-देवता और वन-देवता—ये सम्भवतः गृह, नगर और वन की रक्षा करने वाले देवता थे।

लक्ष्मी ऐश्वर्य एवं वैभव की अधिष्ठात्री देवी ही थी। यह विष्णु की अर्धांगिनी मानी जाती थी[3]।

कात्यायनी शुम्भ, निशुम्भ और महिषासुर का वध करने वाली मानी जाती थी[4]। कुण्डोदर सर्प, शंकुकर्ण शूल, नील और मनोजव दुराचारियों के विनाश के समय देवी की सहायता करते थे[5]।

सरस्वती वाणी की अधिष्ठात्री देवी थी। वह 'भारती'[6] अभिधा से भी विभूषित थी।

शची इन्द्र की पत्नी[7] कही जाती है। शची अत्यन्त ओजस्विनी एवं तेजोमयी देवी थी। 'विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी व्रतवेशधारिणी देवी औशीनरी को तेज में शची के समकक्ष बताती है[8]।

मातृ-देवियाँ संख्या में सात थीं। अमरकोष में इनका नामोल्लेख इस प्रकार है—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा[9]। कुषाण-काल के एक मथुरा-प्रस्तर पर सप्त-मातृकाओं की नीली किनारी की पंक्ति उत्कीर्ण है[10]। एक गुप्त शिलालेख में स्कन्द के साथ इनका उल्लेख प्राप्त होता है[11]।

गौरी शिव की अर्धांगिनी स्वीकार की गई थी[12]।

---

१. अये भगवान् देवर्षिनारदः। —अवि०, अंक ६, पृ० १५८
२. अवि०, ६.११
३. अवि०, २.३
४. वा० च०, २.२०
५. वा० च०, अंक २, पृ० ३८
६. अभि०, ६.३०
७. अभि० शा०, ७.२८
८. न किमपि परिहीयते शच्या ओजस्वितया। —विक्र०, अंक ३, पृ० २०३
९. ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्तमातरः॥ —अमरकोश
१०. भगवतशरण उपाध्याय—कालिदास का भारत, भाग २, पृ० १४८
११. स्कन्दगुप्त का विहार शिला-स्तम्भ-लेख।
१२. मृच्छ०, १.२

अर्ध-देवता

देवताओं के अतिरिक्त आलोच्य नाटकों में सिद्ध[1], विद्याधर[2], गन्धर्व[3], अप्सरा[4] और किंपुरुष[5] का नामोल्लेख भी हुआ है। इनको अर्ध-देवताओं की कोटि में प्रगणित किया गया है।

धर्माचरण

धर्माभ्यास के अन्तर्गत यज्ञ, व्रत-उपवास, देवार्चन, सन्ध्या-वन्दन, तपश्चर्या, तीर्थयात्रा, षोडश संस्कार एवं अतिथि सत्कार का समावेश किया जा सकता है।

यज्ञ

धार्मिक क्षेत्र में यज्ञों का विशेष महत्त्व था। वह धर्माचरण का प्रमुख अंग था। इहलोक में यश एवं अभ्युदय की वृद्धि के लिए यज्ञों का आयोजन किया जाता था। यज्ञ-रूप धर्म-कृत्य से पृथ्वी पर ही स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती थी[6]।

यज्ञ के प्रारम्भ में यजमान का एक धार्मिक संस्कार होता था जो दीक्षा[7] कहलाता था। यज्ञान्त में अवभृथ[8] नाम की धार्मिक क्रिया होती थी जो यज्ञ की समाप्ति की सूचना देती थी। अवभृथ स्नान तक अग्नि वेदी के बाहर नहीं निकाली जा सकती थी[9]। यज्ञ के अन्त में पुरोहितों और वेदज्ञ ब्राह्मणों को प्रभूत दक्षिणा प्रदान की जाती थी। 'पंचरात्र' में दुर्योधन के यज्ञ में प्राप्त प्रभूत दक्षिणाओं से ब्राह्मण परितृप्त हो जाते हैं[10]।

यज्ञों में पशु-बलि का भी विधान था। 'मृच्छकटिक' में विदूषक

१,२,३,४. अभि०, अंक ६, पृ० १२२

५. आयुष्मन् एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुष पर्वतस्तपः संसिद्धिक्षेत्रम्।
—अभि० शा०, अंक ७, पृ० १३१

६. पंचरात्र, १.२३

७. नृपे दीक्षां प्राप्ते जगदपि समं दीक्षितमिव। —पंचरात्र०, १.३

८. एहि एहि पुत्र। एवमेवावभृथस्नानेषु खेदमवाप्नुहि।
—पंचरात्र, अंक १, पृ० २१

९. अनवसितेऽव भृथस्नाने न खलु तावदग्निरुत्स्रष्टव्यो भवद्भिः।
—पंचरात्र, अंक १, पृ० ३

१०. तृप्ता द्विजेन्द्रा धने। —पंचरात्र, १.४

फुरफुर करते हुए दीपक की तुलना यूपकाष्ठ से बांधने के लिए लाये गये बकरे से करता है[१]।

यज्ञों में अश्वमेध[२], राजसूय[३], विश्वजित्[४], नैमिषेय[५], शतकुम्भ[६] और अग्निष्टोम[७] का निरूपण हुआ है। अश्वमेध एक राजयज्ञ था और राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। इसमें एक निश्चित अवधि के लिए मेध्याश्व छोड़ा जाता था। उसकी रक्षा के लिए बड़ी भारी सेना के साथ प्रायः राजपुत्र को सेनापति बना कर भेजा जाता था। यज्ञ-तुरंग निर्द्वन्द्व विचरण करता था और उसके पीछे रक्षक सेना रहती थी। जब कोई विपक्षी योद्धा अश्व को पकड़ कर चुनौती देता था तो उसके साथ अश्व-रक्षकों का घमासान युद्ध होता था। यदि यज्ञाभिलाषी राजा विजय प्राप्त कर लेता था तो सपरिवार शान्त चित्त से यज्ञ का आयोजन करता था[८]। यज्ञ-समाप्ति पर वह चक्रवर्ती सम्राट् घोषित कर दिया जाता था।

राजसूय-यज्ञ भी अश्वमेध-यज्ञ के समान विशाल राजयज्ञ था। समस्त विपक्षी राजाओं का विजेता ही इस यज्ञानुष्ठान का अधिकारी माना जाता था[९]। विश्वजित् दिग्विजय के पश्चात् किया जाता था। इसमें यजमान अपना सारा कोष दान कर देता था[१०]। नैमिषेय, शतकुम्भ और अग्निष्टोम यज्ञ अश्वमेधादि के सदृश विशाल राजयज्ञ नहीं थे और न ही इनका राजनीतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व था।

---

१. भोः। प्रदोषमन्दमारुतेन पशुबन्धोपनीतस्यैव छागलस्य हृदयं फुरफुरायते प्रदीपः। —मृच्छ०, अंक १, पृ० ६५
२. माल०, अंक ५, पृ० ३५३
३. पंचरात्र, १.२८
४. अयं खलु तावत् सन्निहितसर्वरत्नस्य विश्वजितो यज्ञस्य प्रवर्तयिता प्रज्वलितधर्मप्रदीपो दिलीपः। —प्रतिमा०, अंक ३, पृ० ७६
५. नैमिषेयसत्रादवियुक्तोऽहमुर्वश्या। —विक्र०, अंक ५, पृ० २४३
६. मध्यम०, अंक १, पृ० ११
७. तेन ह्यग्निष्टोमफलं ददामि। कर्णभार, अंक १, पृ० २१
८. माल०, अंक ५, पृ० ३५२-३५३
९. एवमेव क्रतून् सर्वान् समानीयाप्तदक्षिणान्।
राजसूये नृपाञ्जित्वा जरासन्ध इवानय॥ —पंचरात्र०, १.२८
१०. रघुवंश, ५.१

ये भी धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों पर तिथि-विशेष पर और अभीष्ट सिद्धि के लिए व्रत, उपवास रखे जाते थे। 'पंचरात्र' में दुर्योधन का शरीर यज्ञ के अवसर पर किये गये व्रतों से अत्यन्त कृश हो जाता है[1]। 'मृच्छकटिक' में धूता तिथि-विशेष पर किया जाने वाला रत्न षष्ठीव्रत करती है[2]। 'विक्रमोर्वशीय' में रानी औशीनरी रुष्ट प्रिय को प्रसन्न करने के लिए 'प्रियानुप्रसादन'[3] व्रत करती है। इसी प्रकार 'चारुदत्त' में नटी 'जन्मान्तर में' भी, वर्तमान् पति को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए 'अभिरूपपति'[4] नाम के व्रत की साधना करती है।

व्रत-उपवास

व्रत के अवसर पर मनोवांछित फल-लाभार्थ पूजन-सामग्री से देवपूजा की जाती थी। 'विक्रमोर्वशीय' में रानी प्रिय को प्रसन्न करने के लिए चन्द्रदेव की अर्चना करती है[5]। व्रत के दिन व्रतधारी के सामाजिक स्तर के योग्य ब्राह्मण भोजन के लिए निमन्त्रित किया जाता था[6] और भोजन के पश्चात् उसे दक्षिणा प्रदान की जाती थी[7]।

धार्मिक कृत्यों में देवार्चन का भी विशेष महत्त्व था। उपासक अभीष्ट-सिद्धि के लिए देवताओं की विधिवत् पूजा करते थे। 'विक्रमोर्वशीय' में रानी प्रिय-प्रसादन रूप कार्य की सिद्धि के लिए यथाविधि चन्द्रमा की अर्चना करती है[8]। देव-पूजन और देव-बलि गृहस्थ के नित्य नियमों में भी विहित थे। प्रतिदिन मन, वचन,

देवार्चन

---

१. क्रतुव्रतैस्ते तनु गात्रमेतत्। —पंचरात्र, १.२६

२. मृच्छ०, अंक ३, पृ० १८४

३. भर्तुः प्रियानुप्रसादनं नाम। —विक्र०, अंक ३, पृ० २०४

४. चारुदत्त, अंक १, पृ० ५

५. दारिकाः आनयतोपहारिकं यावन्मणिहर्म्यपृष्ठगतांश्चन्द्रपादानर्चामि। —विक्र०, अंक ३, पृ० २०४

६. अस्माद्दृशजनयोग्येन ब्राह्मणेन उपनिमन्त्रितेन। —मृच्छ०, अंक १, पृ० १८

७. अपि च दक्षिणा कापि ते भविष्यति। —मृच्छ०, अंक १, पृ० १६

८. विक्र०, अंक ३, पृ० १०४

कर्म से पूजित देवता भक्त की इष्ट-सिद्धि अवश्य करते थे[१]। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त नित्य नियमानुसार देवकार्य[२] सम्पन्न करता है।

प्रातः सायं सन्ध्यावन्दन और जपादि वैदिक आर्यों की नित्य क्रियाएँ थीं जो अपने धूमिल रूप में विवेच्य-काल में भी अवशिष्ट थीं।

सन्ध्या-वन्दन

'मृच्छकटिक' में चारुदत्त सन्ध्या-वन्दन[३] और गायत्री आदि मन्त्रों के जप[४] को दैनिक जीवनचर्या का अंग मानता है।

तपोऽनुष्ठान विशेषतः तपस्वियों की जीवनचर्या का अंग थी। उसमें नैपुण्य का भी योग होता था। दुःसाध्यता उसकी कसौटी थी।

तपश्चर्या

कुछ तपस्वी तपोयोगी होकर समाधि में स्वयं को और निकटवर्ती संसार को पूर्णतः विस्मृत कर देते थे। मारीच ऋषि के आश्रम में कठोर तपस्या में निरत मुनि के चारों ओर चींटियों ने बिल बना लिये थे, वक्षस्थल पर सर्पत्वचा पड़ी हुई थी, गले में सूखी हुई लताएँ उलझी हुई थीं और जटाओं में चिड़ियों ने घौंसले बना लिये थे[५]।

तपःसाधना ऋषियों के लिए 'जीवनौषध' थी। ऋषियों के लिए उसमें व्यवधान असह्य था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुन्तला की विदा के समय भी महर्षि कण्व को तपोपरोध चिन्ता ही व्यथित करती है[६]। तपस्वियों के तपोमार्ग में उपस्थित होने वाली बाधाओं के निवारण का उत्तरदायित्व राजा का होता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त कण्व-शिष्यों से मिलने पर सर्वप्रथम उनकी तपस्या की निर्बाधता के विषय में प्रश्न करता है[७]।

---

१. गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः।
तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः॥ —मृच्छ०, १.१६

२. सिद्धीकृतदेवकार्यस्य। —मृच्छ०, अंक १, पृ० २५

३. अहमपि कृतशौचः संध्यामुपासे। —मृच्छ०, अंक ३, पृ० १७६

४. समाप्तजपोऽस्मि। —मृच्छ०, अंक १, पृ० ५८

५. अभि० शा०, ७.११

६. वत्से ! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्। —अभि० शा०, अंक ४, पृ० ७७

७. अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः। —अभि० शा०, अंक ५, पृ० ८६

तीर्थ-यात्रा

धार्मिक दृष्टि से तीर्थ-यात्रा या तीर्थाटन का बड़ा महत्त्व था। तीर्थस्थान अत्यन्त पावन और पाप-नाशक समझे जाते थे। लोग विशेष तिथियों पर तीर्थों में स्नान करने जाते थे। 'विक्रमोर्वशीय' में राजा पुरूरवा तिथि-विशेष पर सपरिवार गंगा-यमुना के संगम में स्नान करने के लिए जाता है[1]। लोग तीर्थों में जाकर ग्रह-शान्ति भी कराते थे। महर्षि कण्व शकुन्तला की ग्रह-शान्ति के लिए सोमतीर्थ को जाते हैं[2]।

संस्कार

धर्म-क्षेत्र में संस्कारों का भी विशिष्ट स्थान था। व्यक्ति अपने नाम के अनुरूप शरीर और आत्मा का शोधन एवं परिष्कार करते थे। पुनर्जन्म की व्यवस्था में भी संस्कारों का योग समझा जाता था[3]। इसलिए संस्कारयुत मनुष्य द्विज[4] कहलाता था। आलोच्य नाटकों में पुंसवन[5], जातकर्म[6], उपनयन[7], समावर्तन[8], विवाह[9] और अन्त्येष्टि[10] सस्कारों का विशेषता से निरूपण हुआ है।

---

१. अद्य तिथिविशेष इति भगवत्योर्गंगायमुनयोः संगमे देवीभिः सहकृताभिषेकः साम्प्रतमुपकार्या प्रविष्टः। —विक्र०, अंक ५, पृ० २३९

२. देवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। —अभि० शा०, अंक १, पृ० ६

३. गौतम धर्मसूत्र, १०.१

४. "जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः, संस्कारैर्द्विज उच्यते" —देखिए, गायत्री वर्मा : कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ५४

५. निवृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२१

६. विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः।
—अभि० शा०, अंक ७, पृ० १४७

७. तस्य पुत्रोपनयनार्थं सकलत्रोऽस्मि प्रस्थितः।
—मध्यम०, अंक १, पृ० २८

८. कस्मात् त्वं कृतसमावर्तो वटुक इव त्वरसे। —अवि०, अंक ४, पृ० ११८

९. तच्चित्रफलकस्थयोर्वत्सराजवासवदत्तयोर्विवाहोऽनुष्ठीयताम्।
—प्रतिज्ञा०, अंक ४, पृ० १२९

१०. हन्त स्वर्गं गतो वाली। सुग्रीव। क्रियतामस्य संस्कारः।
—अभि०, अंक १, पृ० २२

शुद्धि-संस्कारों में पुंसवन प्रथम था। यह गर्भाधान के तृतीय मास में सम्पन्न होता था। इसमें सारे दिन उपवास की हुई पत्नी को पति दही में एक यव की वाल और दो माष के दाने मिला कर तीन बार पीने को देता था और प्रत्येक बार उससे पूछता था—'तुम क्या पी रही हो?' तथा पत्नी प्रत्येक वार 'पुंसवने पुंसवने' कहती थी[१]।

'जात-कर्म' वालक के जन्म के पश्चात् सम्पन्न होने वाला प्रथम संस्कार था। यह नालोच्छेद से पूर्व किया जाता था। पुत्रोत्पत्ति की सूचना प्राप्त करते ही पिता वालक का मुख देखता था और स्नान-मार्जन के पश्चात् यथाविधि पितरों का श्राद्ध कर बच्चे को घी-मधु चटाता था[२]।

उपनयन-संस्कार यज्ञोपवीत-संस्कार भी कहलाता था। इस संस्कार के पश्चात् वालक यज्ञोपवीत धारण कर ब्रह्मचारी बन जाता था और विद्याध्ययन आरम्भ करता था। मानव धर्मशास्त्र के आदेशानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए उपनयन-संस्कार का समय क्रमशः आठ से सोलह, ग्यारह से बाईस और बारह से चौबीस वर्ष तक माना जाता था[३]।

समावर्तन संस्कार विद्याध्ययन की समाप्ति पर मनाया जाता था। वेदानुशीलन के पश्चात् गुरु की अनुमति से ब्रह्मचारी का घर लौट आना ही समावर्तन कहलाता था।

समावर्तन के पश्चात् विवाह-संस्कार[४] का विशेष महत्त्व था। यह ब्रह्मचारी के लिए गृहस्थाश्रम का मार्ग प्रशस्त करता था।

अन्त्येष्टि-संस्कार मृत्यु के उपरान्त किया जाता था। इसके अन्तर्गत समस्त मृतक क्रियाओं का समावेश होता है। मृतक के शव का स्पर्श अशौच माना जाता था। अशौच की शुद्धि के लिए यमुनादि पवित्र नदियों के जल में स्नान करने की प्रथा थी[५]। पितरों की तृप्ति के

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र, अध्याय १, १३.२, ७

२. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग २, पृ० १५५

३. वही, भाग २, पृ० १५७

४. विस्तार के लिए देखिए 'परिवार' नामक अध्याय।

५. भर्तः, अशौचितोऽस्मि, मृता दारिका गृहीता। मुहूर्तकं प्रतिपालयतु भर्ता यावद् यमुनाजलं गत्वा शौचं करोमि। —चा० च०, अंक १, पृ० १६

लिए उदक-दान[1] और निर्वाप[2] की क्रियाएँ भी प्रचलित थीं। पितरों की स्मृति में सांवत्सरिक श्राद्ध किये जाते थे[3]। श्राद्ध-दिवस पर श्रद्धानुसार दान दिया जाता था[4]। श्राद्ध के अवसर पर मनुष्यों के लिए घासों में कुश, औषधों में तिल, शाकों में कलाय, मत्स्यों में महाशफर, पक्षियों में वाध्रीणस (काली गर्दन, लाल शिर वाला पक्षी) और पशुओं में गाय या खड्ग का विधान था[5]। कांचनपार्श्व मृगों के मांस से पितरों का श्राद्ध करना उत्तम माना जाता था। इससे तृप्त पितर पुत्र-लाभ का फल प्राप्त करते थे और स्वर्ग में देवों के साथ विमानों में निवास करते थे तथा आवागमन के बन्धन से मुक्त होकर स्थिर हो जाते थे[6]।

अतिथि-सत्कार

यह भी धर्माचरण का ही अंग था। आगन्तुक का स्वागत-सत्कार गृहस्थ का अनिवार्य कर्त्तव्य माना जाता था। अतिथि के आगमन पर उसका अभिवादन[7] किया जाता था और फिर उसको बैठने के लिए आसन दिया जाता था[8]। तत्पश्चात् पाद और अर्घ्य से उसका आतिथ्य किया जाता था[9]। इस प्रारम्भिक औपचारिकता के बाद परस्पर कुशल-क्षेम-विषयक प्रश्न किये जाते थे और अतिथि अपने आगमन का उद्देश्य प्रकट करता था[10]। अतिथि-सत्कार में मधुर और नम्र शब्दों का प्रयोग शिष्टाचार माना जाता था[11]।

---

१. जात। त्वमेव पर्यवस्थापय आत्मानं अस्माकं तिलोदकदानाय। —मृच्छ०, अंक १०, पृ० ५६४
२. अभि० शा०, ६.२५
३. श्वस्तत्रभवतस्तातस्यानुसंवत्सरश्राद्धविधिः। —प्रतिमा०, अंक ५, पृ० १२६
४. सर्वं श्रद्धया दत्तं श्राद्धम्। —प्रतिमा०, अंक ५, पृ० १३५
५. प्रतिमा०, अंक ५, पृ० १३५-३६
६. प्रतिमा०, ५.१०
७. अये भगवान्। भगवन् अभिवादये। —प्रतिमा०, अंक ५, पृ० १३२
८. भगवन्। एतदासनमास्यताम्। —प्रतिमा०, अंक ५, पृ० १३२
९. इदानीमतिथिविशेषलाभेन। हला शकुन्तले गच्छोटजम् फलमिश्रमर्घमुपहर इदं पादोदकं भविष्यति। —अभि० शा०, अंक १, पृ० १७
१०. अभि० शा०, अंक १, पृ० १८
११. भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्। —अभि० शा०, अंक १, पृ० १७

धर्माचरण और धर्मनिष्ठा के गर्भ में अच्छे जन्म की कामना ही समाहित है। यह कामना मनुष्य को पापों से बचा कर सदाचरण करने की प्रेरणा देती है। वर्ण्य-युग में कर्मवाद और पुनर्जन्म में बहुत से लोगों का अटूट विश्वास था। जीव को मरणोपरान्त कर्मानुसार गति प्राप्त होती है—लोगों का यह विश्वास उन्हें सत्कर्म में प्रवृत्त कराता था। 'मृच्छकटिक' में चेट अपने दासत्व का कारण पूर्वजन्म कृत पाप ही मानता है। इसी कारण वह इस जन्म में शकार के पुनः पुनः कहने पर भी वसन्तसेना-वध-रूप दुष्कृत नहीं करता है[1]। सम्भवतः परलोक कोई अलौकिक वस्तु न होकर, केवल पाप-पुण्य का परिणाम था[2]।

कर्मवाद एवं पुनर्जन्म

नीति

नीति को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—एक सामान्य नीति और दूसरी राजनीति। सामान्य नीति में नैतिक और मानवोचित आचरण आता है और राजनीति में राजा और उसकी शासन-व्यवस्था से सम्बद्ध नीति का समावेश होता है।

सामान्य नीति

विवेच्य-काल में लोगों का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा था। सदाचार या शिष्ट आचरण जीवन का आधार-स्तम्भ था। दीन-दयालुता, विनम्रता, सज्जनों का सत्कार, सच्चरित्रता, परोपकार, सरलता, उदारता, शौर्य, धैर्य, मिष्टभाषण आदि मानवीय गुण सदाचार के अंग थे। मानवीय गुणों से सम्पन्न व्यक्ति का जीवन ही वस्तुतः श्लाघ्य समझा जाता था[3]। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त आदर्श सद्गुणों का साकार रूप ही है[4]।

---

१. येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः।
अधिकं च न क्रेष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि॥ —मृच्छ०, ८.२५

२. शकार—कः स परलोकः?
विट—सुकृतदुष्कृतस्य परिणामः। —मृच्छ०, अंक ८, पृ० ४१५

३. मृच्छ०, १.४८

४. वही।

चारित्र्य-रक्षा तत्कालीन नागरिकों का परम धर्म था। मनुष्यों को चरित्र की रक्षा की अत्याधिक चिन्ता रहती थी। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त वसन्तसेना के सुवर्णभाण्ड के चोरी चले जाने पर इस आशंका से अत्यन्त दुःखित होता है कि सब लोग उसके चरित्र पर शंका करेंगे, वस्तु-स्थिति को कोई नहीं देखेगा[1]। निर्मल चरित्र में उच्च कुल ही कारण होता था। अकुलीनों में समस्त मानवीय गुण विद्यमान होने पर भी उनका चरित्र निष्कलंक नहीं माना जाता था[2]।

चरित्र

सत्य नैतिकता का मापदण्ड था। कठिन-से-कठिन विपत्ति में भी सत्य का परित्याग नहीं किया जाता था। असत्य-भाषण पाप माना जाता था। 'मृच्छकटिक' में वसन्तसेना के आभूषण चोरी हो जाने पर विदूषक कहता है कि मैं इसके विषय में असत्य प्रचार करूँगा। इस पर चारुदत्त उत्तर देता है कि मैं दरिद्र होने पर भी चरित्र को भ्रष्ट करने वाले असत्य का आश्रय नहीं लूँगा[3]।

सत्य

दान देने की प्रवृत्ति भी लौकिक और पारलौकिक कल्याण का साधन मानी जाती थी। याचक को अभिलषित वस्तु प्रदान करना ही दान का सर्वोच्च आदर्श था। 'कर्णभार' में कर्ण ब्राह्मण-रूप-धारी इन्द्र को अपने शरीर की रक्षा करने वाला कवच तक दान में दे देता है[4]। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त जैसा धनाढ्य व्यक्ति याचकों को अभीष्ट धन प्रदान करते-करते ग्रीष्मकाल के जलपूर्ण तालाब के समान मनुष्यों की प्यास बुझा कर स्वयं सूख जाता है[5]।

दान शीलता

---

१. यदि तावत् कृतान्तेन प्रणयोऽर्थेषु मे कृतः।
किमिदानीं नृशंसेन चारित्रमपि दूषितम्॥ —मृच्छ०, ३.३५

२. अवि०, २.५

३. भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम्।
अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम्॥ —मृच्छ०, ३.२६

४. कर्णभार, १.२१

५. मृच्छ०, १.४६

प्रतिज्ञा-पालन तत्कालीन नैतिक आचरण का मूल मन्त्र था। लोग प्राणोत्सर्ग द्वारा भी वचन का निर्वाह करते थे। 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' में यौगन्धरायण असह्य

प्रतिज्ञा-पालन

कष्टों को सहते हुए भी राजमाता के समक्ष की गई स्वामी को मुक्ति दिलाने की प्रतिज्ञा का पालन करता है[1]।

लोग न्यास (धरोहर) की सर्वात्मना रक्षा करते थे। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त वसन्तसेना के सुवर्णभाण्ड की रक्षा के लिए दिन में वर्धमानक और रात्रि में मैत्रेय को

न्यास-रक्षा

नियुक्त करता है[2]। साक्षियों की उपस्थिति में धरोहर लौटानी पड़ती थी। 'स्वप्नवासवदत्त' में रैभ्य और धात्री की साक्षि राजा में वासवदत्ता रूप धरोहर लौटाने का परामर्श देता है[3]।

शरणागत की रक्षा करना मानव का प्राथमिक कर्त्तव्य था। शरणागत को, शत्रु होने पर भी अभय

शरणागत-रक्षा

प्रदान किया जाता था। 'अभिषेक नाटक' में राम शरण में आये हुए विभीषण को, शत्रु का भ्राता होने पर भी, सत्कारपूर्वक प्रवेश कराने के लिए कहते हैं[4]।

माता-पिता, गुरुजन, आचार्य आदि से मिलते समय प्रणाम या अभिवादन करना लौकिक शिष्टाचार माना जाता था। 'पंचरात्र' में उत्तर भगवान् कृष्ण[5] और पिता

अभिवादन

विराट[6] से मिलते समय उन्हें अभिवादन करता है। अज्ञानवश अभिवादन न करने पर क्षमा-याचना भी की जाती थी। अभिमन्यु अपने पूज्य अर्जुन आदि

---

१. यदि शत्रुवलग्रस्तो राहुणा चन्द्रमा इव।
मोचयामि न राजानं नास्मि यौगन्धरायणः॥ —प्रतिज्ञा०, १.१६

२. मृच्छ०, अंक १, पृ० ९३

३. साक्षिमन्यासो निर्यातयितव्यः। इहात्रभवान् रैभ्यः अत्रभवती चाधिकरणं भविष्यति। —स्व० वा०, अंक ६, पृ० २२९

४. कथं विभीषण शरणागत इति। वत्स लक्ष्मण ! गच्छ, सत्कृत्य य प्रवेश्यतां विभीषणः। —अभि०, अंक ४, पृ० ७३

५,६. भगवन् ! अभिवादये। तात ! अभिवादये। —पंचरात्र, अंक २, पृ० १०१

पितृजनों को अज्ञानवश प्रणाम न करने के कारण अपने अपराध के लिए क्षमा मांगता है[1]।

परिवार एवं समाज में बन्धुत्व की भावना विद्यमान थी। भाई भाई के लिए, पिता पुत्र के लिए, पुत्र पिता के लिए, पत्नी पति के लिए, पति पत्नी के लिए, स्वामी सेवक के लिए, सेवक स्वामी के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने को तत्पर रहता था। 'मध्यम-व्यायोग' में ब्राह्मण और उसके परिवारजनों का पारिवारिक स्नेह और त्याग-भावना धन्य है[2]। रुमण्वान् नामक मन्त्री अपने स्वामी उदयन के दुःख से अत्यन्त व्यथित होता है। वह राजा के न खाने पर स्वयं भी नहीं खाता और उसके साथ अहर्निश विलाप करता रहता है[3]।

बन्धुत्व

लोग दूसरों द्वारा किये गये उपकार को विस्मृत नहीं करते थे अपितु प्रत्युपकार करने का प्रयत्न करते थे। 'बालचरित' में नन्दगोप वसुदेव कृत उपकारों के प्रत्युपकार के लिए उसके पुत्र कृष्ण की रक्षा करने को उद्यत हो जाता है[4]।

कृतज्ञता

दूसरों का धन लोष्ठवत् समझा जाता था। मनुष्य परिहास में भी परद्रव्य का अपहरण करने से डरते थे। 'प्रतिमा नाटक' में अवदातिका परिहास में नेपथ्य-रक्षिका रेवा के वल्कल उठा लाने के कारण अपने को धिक्कारती है और अपने कर्म को अनुचित कहती है[5]।

परद्रव्य-दृष्टि

---

१. अज्ञानस्तु मया पूर्वं यद् भवान् नाभिवादितः।
तस्य पुत्रापराधस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ —पंचरात्र, २.६८

२. मध्यम०, अंक १, पृ० १२-१८

३. स्व० वा०, १.१४

४. यद्यस्ति भवतः किंचिन्मया पूर्वकृतं भवेत्।
तस्य प्रत्युपकारस्य कालस्ते समुपागतः॥ —बा० च०, १.२०

५. अहो अत्याहितम्। परिहासेनापीमं वल्कलमुपनयन्त्या ममैतावत् भयमासीत्, किं पुनर्लोभेन परधनं हरतः। —प्रतिमा०, अंक १, पृ० ६

समाज में नैतिकता का स्तर उन्नत होते हुए भी अनीति एवं अधर्म का अभाव नहीं था। जनता में रिश्वत लेना, चोरी करना, डाका डालना, शराब पीना, जुआ खेलना, वेश्यागमन आदि अनैतिक कृत्य निर्बाध रूप से प्रचलित थे।

राजनीति

इसके अन्तर्गत राजकीय शासन-व्यवस्था, न्याय एवं दण्ड-विधान[1], युद्ध एवं सैन्य-व्यवस्था, राजा की गृह एवं परराष्ट्र नीति आदि विषयों की विवेचना की जाती है।

राजकीय-प्रशासन का मूल शान्ति और सुरक्षा में निहित था। राजा का राज-दण्ड शान्ति की व्यवस्था करता था। राजा दण्ड-

राजनीति एवं शासन-व्यवस्था

विधानानुसार दुष्टों और अपराधियों को दण्ड देकर[2] तथा प्रजा के पारस्परिक विवादों को शान्त कर[3] राज्य में शान्ति स्थापित करता था। राजा का सुचारु प्रबन्ध ही प्रजा को अनीति पर चलने एवं अधर्माचरण से बचाता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त की समुचित शासन-नीति के कारण ही प्रजा में निकृष्ट-से-निकृष्ट वर्ण भी कुमार्ग का अनुसरण नहीं करता है[4]।

राजकीय शासन-प्रबन्ध की सम्यक् प्रगति के लिए राजा के पास अनेक प्रत्युत्पन्नमति मंत्री होते थे। ये राजा के तन्त्रावाप

मन्त्रि-परिषद्

अर्थात् स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र नीति की चिन्ता करते थे। इनकी एक परिषद् होती थी जो 'अमात्य-परिषद्'[5] या 'मंत्रि-परिषद्'[6] कहलाती थी। राजा शासन से सम्बद्ध विषयों पर परिषद् से परामर्श करता था[7]। मंत्रि-परिषद् विविध राजकीय विषयों

---

१. नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः। —अभि० शा०, ५.८
२. वही।
३. प्रशमयसि विवादम्। —अभि० शा०, ५.८
४. न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते। —अभि० शा०, ५.१०
५. मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि। —विक्र०, अंक ५, पृ० २५२
६. तेन हि मंत्रिपरिषदं ब्रूहि। —माल०, अंक ५, पृ० ३५२
७. तदमात्यवर्गेण सह संमन्त्र्य गन्तव्यम्। —अभि०, अंक १, पृ० ८

पर नीति निर्धारित कर अन्तिम निर्णय के लिए राजा के पास भेजती थी[1]। राजा का निर्णय ही सर्वसम्मति से स्वीकार्य एवं मान्य होता था[2]।

नागरिकों की समस्याओं और विवादों के प्रशमन तथा दुर्विनीतों को दण्ड देने के लिए राजकीय न्यायालय होते थे। अधिकरण-मण्डप के प्रधानाधिकारियों में न्यायाधीश, श्रेष्ठी और कायस्थ परिगणित थे[3]। ये तीनों अधिकारी मिल कर न्याय करते थे। न्यायाधीश राजा का वैतनिक सेवक होता था। उसे राजा इच्छानुसार हटा सकता था। 'मृच्छकटिक' में शकार अधिकरणिक को कहता है कि यदि मेरा अभियोग नहीं सुना गया तो राजा से कह कर तुम्हें निकलवा दूँगा[4]। न्यायाधीश आजकल के जज के समान होता था। न्यायालय में निष्पक्ष न्याय के निमित्त यह आवश्यक था कि न्यायाधीश शास्त्रों का ज्ञाता, वादी-प्रतिवादी के कपट-व्यवहार को समझने में दक्ष, वक्ता, क्रोध-रहित, मित्र, शत्रु और पुत्रादि स्वजन के लिए समद्रष्टा, दुर्बलों का पालक, शठों का शासक, धर्मलोभी, तत्त्वज्ञ तथा राजा के क्रोध का निवारक हो[5]।

न्याय-विधान

श्रेष्ठी वर्तमान न्यायालयों के 'ज्यूरर' (Juror) या 'असेसर' (Assessor) के समान कहा जा सकता है। कायस्थ सम्भवतः न्यायालय का पेशकार होता था। वह कार्यार्थी का व्यवहार लिखता था[6]।

---

१. अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भगतमनुष्ठेयमनुष्ठितमभूत्। देवस्य तावदभिप्रायं श्रोतुमिच्छामीति। —माल०, अंक ५, पृ० ३५१

२. अमात्यो विज्ञापयति—कल्याणी देवस्य बुद्धिः मन्त्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम्। —माल०, अंक ५, पृ० ३५२

३. (ततः प्रविशति श्रेष्ठिकायस्थादिपरिवृतोऽधिकरणिकः।) —मृच्छ०, अंक ९, पृ० ४५५

४. किं न दृश्यते मम व्यवहारः? यदि न दृश्यते, तदावुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं मातरं च विज्ञाप्य एतमधिकरणिकं दूरीकृत्य अत्र अन्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि। —मृच्छ०, अंक ९, पृ० ४६१

५. मृच्छ०, ९.५

६. यदार्य आज्ञापयति! आर्य! लिखितम्। —मृच्छ, अंक ९, पृ० ४६६

न्यायालय में अधिकरणिक के समक्षवादी तथा प्रतिवादी दोनों के बयान लिये जाते थे। साक्षियों की गवाहियाँ भी ली जाती थीं। न्यायाधीश जिसे चाहे उसे व्यवहार के लिए बुलवा सकता था[1]। फांसी आदि के जटिल अभियोगों में न्यायाधीश का निर्णय अन्तिम स्वीकृति के लिए राजा के पास भेज दिया जाता था[2]।

राजा को अधिकरणिक का निर्णय रद्द करने का पूर्ण अधिकार था। 'मृच्छकटिक' में राजा पालक न्यायाधीश द्वारा चारुदत्त के लिए निर्धारित किये गये राष्ट्र-निष्कासन दण्ड को भंग कर उसके लिए प्राणदण्ड की आज्ञा देता है[3]। राजा स्वयं भी धर्मासन पर बैठ कर पौर कार्यों का अवेक्षण करता था और उचित निर्णय देता था[4]।

दण्ड-विधान मानव-धर्म-शास्त्र पर आधारित था। न्यायाधीश मनुनिर्दिष्ट दण्ड-नियमों के अनुसार ही दण्ड का विधान करते थे[5]।

दण्ड-प्रणाली

अपराधी के लिए दण्ड के नियमों की धाराएँ अत्यन्त कठोर थीं। अपराधी को कठोर-से-कठोर सज़ा दी जाती थी। दण्ड-विधान के अनुसार रत्नों की चोरी के अपराध का दण्ड मृत्यु था[6]। हत्या के अपराधी के लिए भी प्राणदण्ड नियत था। 'मृच्छकटिक' में शकार न्यायाधीश से चारुदत्त को प्राण-दण्ड से दण्डित करने के लिए कहता है[7]। ब्राह्मण के लिए हत्या का अपराध करने पर भी प्राण-दण्ड वर्जित था। उसे अक्षत-विभव सहित राष्ट्र से

---

१. भद्र शोधनक ! वसन्तसेनामातरमनुद्वेजयन्नाह्वय।
—मृच्छ०, अंक ९, पृ० ४६८

२. आर्य चारुदत्त। निर्णये वयं प्रमाणम्, शेषे तु राजा।
—मृच्छ, अंक ९, पृ० ५१५

३. मृच्छ०, अंक ९, पृ० ५१६

४. वेत्रवति मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधान्न संभावितमस्याभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०७

५. अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्। —मृच्छ०, ९.३९

६. एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १००

७. शृणुत शृणुत भट्टारकाः। एतेन मारिता, एतेनैव संशयश्छिन्नः। एतस्य दरिद्र चारुदत्तस्य शारीरो दण्डो धार्यताम्। —मृच्छ०, अंक ९, पृ० ५१३

निष्कासित कर दिया जाता था[1]।

मृत्यु-दण्ड से दण्डित व्यक्ति को शूली पर चढ़ाना[2], कुत्तों से नुचवाना[3], रस्सी से बाँध कर खींचना[4] और आरे से चिरवाना[5], गृध्र-बलि बना कर मरवाना[6] आदि प्राणापहारक दण्ड-विधियाँ प्रचलित थीं।

वध्य पुरुष को वध से पूर्व करवीर पुष्पों की माला पहनायी जाती थी[7]। उसके सम्पूर्ण शरीर पर लाल चन्दन के थापे मारे जाते थे और तिल, तण्डुल आदि के पिष्ट चूर्ण का अवलेपन किया जाता था[8]।

प्राण-दण्ड देने का कार्य चाण्डाल करते थे। वे अपराधी को वध्य-पटह बजाते हुए श्मशान तक ले जाते थे। वे मार्ग में घोषणा-स्थलों पर अपराधी के परिचय के साथ उसके अपराध एवं दण्ड की घोषणा करते जाते थे और दूसरे व्यक्तियों को वैसा अपराध न करने के लिए सावधान करते जाते थे[9]।

वध्य पुरुष कभी-कभी भाग्यवश मुक्त भी कर दिये जाते थे। कभी कोई साधुजन धन देकर वध्य पुरुष को छुड़ा लेता था, कभी राजपुत्र के जन्म के उपलक्ष्य में अपराधियों को मुक्त कर दिया जाता था, कभी हाथी बन्धन-स्तम्भ तोड़ कर भाग जाता था जिससे घबराहट में वध्य जन मुक्त हो जाता था और कभी राज्य-परिवर्तन के कारण वध्य व्यक्तियों को मुक्ति प्रदान कर दी जाती थी[10]।

केश पकड़ कर पैरों से मारने के अपराध में अपराधी को न्यायालय की ओर से चतुरंग दण्ड-मस्तक-मुण्डन, कशाघात, धन-

---

१. मृच्छ०, ९.३९

२,३,४,५. मृच्छ०, १०.५४

६. गृध्रबलिर्भविष्यसि। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ९९

७. मृच्छ०, १०.२

८. मृच्छ०, १०.५

९. यथा च एष उद्गीतो डिण्डिमशब्दः पटहानां च श्रूयते, तथा तर्कयामि दरिद्रचारुदत्त वध्यस्थाने नीयत इति। —मृच्छ०, अंक १०, पृ० ५४६

१०. मृच्छ०, अंक १०, पृ० ५५९

हरण और बहिष्करण से दण्डित किया जाता था[१]।

अपराधी के अभियोग-निर्णय के लिए विष-पान, सलिल-प्रवेश तुलारोहण, अग्नि-प्रवेश आदि परीक्षाएँ भी प्रचलित थीं[२]।

आलोच्य युग में साम्राज्य की सुदृढ़ता एवं स्थिरता के लिए राजा की ओर से राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा की व्यवस्था की जाती थी। सुरक्षा के साधनों में सेना, नगर-रक्षक, गुप्तचर, प्राकार एव दुर्ग प्रमुख थे।

साम्राज्य रक्षा

देशी-विदेशी शत्रुओं से राज्य की रक्षा के लिए राजा के पास अक्षौहिणी सेना होती थी। राजा अपनी विशाल सेना के बल पर शत्रुओं को पराभूत करने का गर्व करता था[३]। 'स्वप्नवासवदत्त' में राजा प्रद्योत सेना के विस्तार के कारण ही महासेन कहलाता है[४]। राजा की विजय-प्राप्ति का आधार विशाल वाहिनी ही नहीं थी अपितु सैनिकों की राजा के प्रति अनन्य निष्ठा एवं भक्ति भी थी। राज-भक्ति से विरहित सेना स्त्री के समान थी[५]।

सेना

सेना चतुरंगिणी होती थी। उसके गज-सेना, अश्व-सेना, रथी और पदाति—ये चार अंग थे[६]। गज भारतीय सेना के मुख्य स्तम्भ थे और सम्भवतः राज्याधिकारियों द्वारा सुरक्षित वनों से पकड़ कर लाये जाते थे। कतिपय वन तो हस्तियों के प्राचुर्य

सैन्य-व्यवस्था

१. अहं त्वया विश्वस्तो राज्ञाप्ति कुर्वन्—सहसाकेशेषु गृहीत्वा पादेन ताडितः। तत् शृणु रे। अधिकरणमध्ये यदिते चतुरंगं न कल्पयामि, तदा न भवामि वीरकः। —मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३५३

२. मृच्छ०, ६.४३

३. अस्ति ममैकादशाक्षौहिणीवलसमुदयः। —दू० वा०, अंक १, पृ० ६

४. अस्ति उज्जयिन्यां राजा प्रद्योत नाम। तस्य वलपरिमाणनिर्वृतं नामधेयं महासेनः इति। —स्व० वा०, अंक २, पृ० ७०

५. व्यक्तं वलं वहु च तस्य न चैककार्यं संख्यातवीरपुरुषं च न चानुरक्तम्। व्याजं ततः समभिनन्दति युद्धकाले सर्वं हि सैन्यमनुरागमृते कलत्रम्॥ —प्रतिज्ञा०, १.४

६. तथा हस्त्यश्वरथपदातीनि मामकानि विजयांगानि सन्नद्धानि। —स्व० वा०, अंक ५, पृ० १७०

के कारण 'नागवन'[1] ही कहलाने लगे थे। अश्व भी गज के समान ही उपयोगी थे। कम्बोज[2] देश के द्रुतगामी अश्व युद्ध की दृष्टि से उत्कृष्ट समझे जाते थे। अश्व-सेना 'अश्वारोहणीय'[3] कहलाती थी। रथ भी समर-साधन के रूप में प्रयुक्त होते थे[4]। सेना में पदाति सैनिकों की संख्या सब से अधिक होती थी। इसका समर्थन 'शुक्रनीति' से भी होता है[5]। वर्ण्य नाटकों में 'नौका'[6] के उल्लेख से जल-सैन्य का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। पार्ष्णी भी सेना का एक प्रकार था[7]।

सुविधा की दृष्टि से सम्पूर्ण सेना को छोटे-छोटे समूहों में विभक्त कर दिया जाता था और सैनिकों की गणना के लिए एक पुस्तक या सूची बना ली जाती थी[8]। सेना का अधिपति सेनापति[9] या बलाध्यक्ष[10] कहलाता था। वह सेना में सैनिकों की नियुक्ति करता था और समराभियान के लिए सेना को तैयार करता था[11]।

युद्ध में वीरता प्रदर्शित करने वाले योद्धाओं को सैनिक-सम्मान प्रदान किया जाता था। उनके रण-कौशलादि वीर-कृत्य पुस्तक में

---

१. अथ वेणुवनाश्रितेषु गहनेषु नागवनं श्वः प्रयाता स्वामी प्रागेव सम्भावयितव्यः। —प्रतिज्ञा०, अंक १, पृ० ७
२. मान्यकाम्बोजजातम्। —कर्णभार, १.१९
३. प्रतिज्ञा०, अंक १, पृ० १३
४. रथमानय शीघ्रम् मे श्लाघ्यः प्राप्तो रणातिथिः।
तोषयिष्ये शरैर्भीष्मं जेष्यामीत्यमनोरथः॥ —पंचरात्र, २.१३
५. जगदीशचन्द्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, पृ० ३८७
६. नौव्यसने विपन्नः। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२१
७. स्व० वा०, ५.१२
८. क्रमान्निवेश्यमानासु सेनासु वृन्दपरिग्रहेषु परीक्ष्यमाणेषु पुस्तकप्रामाणात् कुतश्चिदप्यविज्ञायमानौ द्वौ वनौकसौ गृहीतौ। —अभि०, अंक ४, पृ० ८२
९. मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३४३
१०. अभि०, अंक ४, पृ० ६७
११. भो भो बलाध्यक्ष। सन्नाहमाज्ञापय वानरवाहिनीम्।
—अभि०, अंक ४, पृ० ६७

अंकित किये जाते थे[१]। युद्ध में आहत वीरों की वेदना के निवारणार्थ उनको समुचित सम्मान एवं पुरस्कार प्रदान किया जाता था[२]।

सैनिक वेशभूषा या 'समरपरिच्छद'[३] सैन्य-सज्जा का प्रमुख अंग था। वर्म[४] (कवच), गोधा[५] (ज्याघातवारण), अंगुलित्राण[६], छत्र[७], और शस्त्रास्त्र[८] समरवेश में समाविष्ट थे। शस्त्रास्त्रों में धनुष-बाण[९], तलवार[१०], चर्म[११] (ढाल), तोमर[१२], कुन्त[१३], शक्ति[१४], प्रास[१५], परशु[१६], भिण्डिपाल[१७], शूल[१८], मूसल[१९], मुद्गर[२०], वराहकर्ण[२१], कणप[२२], कर्पण[२३], शंकु[२४], त्रासिगदा[२५], कुलिश[२६] आदि का निरूपण हुआ है।

सैन्य-सज्जा

सैन्य-सज्जा में ध्वजाएँ और रण-वाद्य भी समाविष्ट थे। ध्वजाएँ[२७] या पताकाएँ[२८] राज-चिह्न और सैनिक-चिह्न के रूप में प्रयुक्त होती थीं। राजाओं और सेनानायकों का अपना-अपना विशिष्ट ध्वज-चिह्न होता था। 'विक्रमोर्वशीय' में राजा पुरूरवा का रथ-ध्वज हरिण से अंकित है[२९]। 'कर्णभार' में दुर्योधन की रथ-पताका का चिह्न हाथी

---

१. दृष्टपरिस्पन्दानां योधपुरुषाणां कर्माणि पुस्तकमारोपयति कुमारः।
—पंचरात्र, अंक २, पृ० ७६

२. ताडितस्य हि योधस्य श्लाघनीयेन कर्मणा।
अकालान्तरिता पूजा नाशयत्येव वेदनाम्॥ —पंचरात्र, २.२८

३. कर्णभार, अंक १, पृ० ४

४,५,६. पंचरात्र, २.२

७. पंचरात्र, अंक २, पृ० ५५

८. पंचरात्र, २.२

९. एतद्धस्तावापसहितं शरासनम्। —विक्र०, अंक ५, पृ० २४१

१०. निशितविमलखड्गः। —प्रतिज्ञा०, ४.३

११. कनकरचितचर्मव्यग्रवामाग्रहस्तः। —प्रतिज्ञा०, ४.३

१२-२५. ऊरुभंग, अंक १, पृ० २५

२६. अभि० शा०, ७.२६

२७. पंचरात्र, ३.१८

२८. वही, २.११

२९. एष उल्लसित हरिणकेतस्तस्य राजर्षेः सोमदत्तो रथो दृश्यते।
—विक्र०, अंक १, पृ० १५७

है[1]। युद्ध में पताका सब से आगे फहराती हुई चलती थीं[2]। शत्रु-पक्ष द्वारा ध्वजा का विद्ध होना पराजय का लक्षण माना जाता था और उसके लिए शान्ति-कर्म किया जाता था[3]।

सेना का प्रयाण तथा युद्ध की प्रगति रणवाद्यों की सहकारिता में होती थी। युद्ध के आरम्भ और अवसान की सूचना के लिए सामरिक वाद्य-यन्त्र वजाये जाते थे। रणवाद्यों में शंख[4], दुन्दुभि[5], पटह[6], भेरी[7] और तूर्य[8] का संकेत मिलता है।

राज्य की आन्तरिक सुव्यवस्था एवं शान्ति के लिए नगर की सुरक्षा अनिवार्य थी। पुरवासियों के जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा के लिए राजा की ओर से अनेक नगर-रक्षक[9] एवं प्रहरी[10] नियुक्त थे। नगर-रक्षकों को आधुनिक पुलिस-कर्मचारियों का ही एक रूप माना जा सकता है। ये रक्षक-गण चोर, डाकू या अन्य अपराधी को राजा के समक्ष उपस्थित करते थे और उसे अपराध की लघुता-गुरुता के अनुकूल दण्ड दिलवाते थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में रक्षक-गण धीवर को राजा की अँगूठी चुराने के अपराध के कारण राजा के समक्ष ले जाते हैं[11]। नगर-रक्षकों का अधिपति 'नागरिक'[12] कहलाता था। 'नागरिक' का अधिकार प्रायः राजश्यालक को प्राप्त

नगर-रक्षक

१. कर्णभार, १.३
२. अभि० शा०, १.३२
३. पंचरात्र, ३.१८
४,५. शंखदुन्दुभयश्च निःशब्दाः। —कर्णभार, अंक १, पृ० १२
६. सेनानिनादपटहस्वनशंखनादै! —दू० वा०, १.५
७. एता नदन्ति गम्भीरं भेर्यस्त्रिदिवसद्मनाम्। —अभि०, ६.१८
८. विक्र०, ४.१२
९. पद शब्द इव। मा नाम रक्षिणः। —मृच्छ०, अंक २, पृ० १७१
१०. रे दौवारिकाः! अप्रमत्ताः स्वकेषु स्वकेषु गुल्मस्थानेषु भवत। —मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३२७
११. अंगुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम्। राजकुलमेव गच्छामः। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ९८
१२. ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धंपुरुषमादाय रक्षिणौ च। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ९७

होता था[1]। नागरिक के अतिरिक्त प्रधान रक्षाधिकारियों में 'तन्त्रिल सेनापति'[2] और 'वलपति'[3] का उल्लेख भी मिलता है। नगर में अव्यवस्था या षड्यन्त्र का सन्देह होने पर समस्त रक्षाधिकारियों और प्रहरियों को सावधान कर दिया जाता था[4]। मार्ग में आने-जाने वाले पथिकों और गाड़ियों[5] की तलाशी ली जाती थी[6]।

चर

ये भी राज्य की सुरक्षा में उपादेय थे। इनको दूत और गुप्तचर, इन दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। दूत राजकीय सन्देश-वाहक का कार्य करते थे। ये एक राजा का सन्देश दूसरे राजा के पास ले जाते थे और दो राजाओं में परस्पर सन्धि करवाने का प्रयत्न करते थे। 'दूतघटोत्कच' में घटोत्कच, 'दूतवाक्य' में भगवान् कृष्ण, इसी वर्ग के चर हैं। दूत अवध्य होते थे। दूतों का वध किसी भी परिस्थिति में नहीं किया जाता था। 'दूतघटोत्कच' में दुर्योधन घटोत्कच के कठोर वचन कहने पर भी दूत होने के कारण उसका वध नहीं करता है[7]।

गुप्तचर छद्म वेश में रह कर शत्रु-पक्ष के रहस्यों का उद्घाटन करते थे तथा गुप्त सूचनाएँ देने का कार्य करते थे। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में यौगन्धरायण वसन्तक तथा रुमण्वान् क्रमशः उन्मतक, डिण्डिक और श्रमणक का वेष धारण कर शत्रु के नगर में रहते हैं और शत्रु के गुप्त वृत्तान्तों को ज्ञात कर राजा उदयन को बन्धन से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न करते हैं[8]। 'अर्थशास्त्र' में गुप्तचर के लिए

१. अभि० शा०, अंक ६, पृ० ६७

२. मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३४३

३. वही, अंक ६, पृ० ३४३

४. रे दौवारिकाः ! अप्रमत्ताः स्वकेषु स्वकेषु-गुल्मस्थानेषु भवत।
—मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३२७

५. अरे पुरस्तात् प्रतोलीद्वारे तिष्ठ त्वं, त्वमपि पश्चिमे, त्वमपि दक्षिणे, त्वमपि उत्तरे। —मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३३४

६. मृच्छ०, ६.१२

७. दूतः खलु भवान् प्राप्तो न त्वं युद्धार्थमागतः।
गृहीत्वा गच्छ सन्देशं न वयं दूत घातकाः॥ —दू० घ०, १.४८

८. प्रतिज्ञा०, अंक ३ (सम्पूर्ण)

'गूढ़-पुरुष' शब्द का प्रयोग हुआ है[1]। 'शुक्रनीति' में इन्हें 'गूढ़चार' कहा गया है[2]।

शत्रुओं के आक्रमण से नगर एवं राज्य की रक्षा के लिए प्राकार एवं दुर्ग का निर्माण किया जाता था। नगर की सुरक्षा की

प्राकार एवं दुर्ग

दृष्टि से उसके चारों ओर एक सशक्त एवं सुदृढ़ दीवार बनायी जाती थी जिसे 'प्राकार' कहा जाता था। इस दीवार पर नगर के निरीक्षण एवं अवेक्षण के लिए उपयुक्त स्थल निर्मित होते थे[3]। प्राकार में से ही नगर-प्रवेश के लिए चारों दिशाओं में चार मुख्य द्वार बनाये जाते थे जो 'प्रतोली-द्वार'[4] कहलाते थे। नगर-द्वारों पर सुदृढ़ अर्गला लगायी जाती थी[5]।

राज्य-सीमा की सुरक्षा के लिए सीमा-प्रान्तों पर अन्तःपाल दुर्गों का निर्माण किया जाता था। दुर्ग का व्यवस्थाधिकारी 'अन्तः-पाल' संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था[6]।

आलोच्य-युग में युद्ध क्षत्रियों के लिए उत्सव स्वरूप[7] था। जिस प्रकार उत्सवों एवं समारोहों में मनुष्य आनन्द प्राप्त करते हैं,

युद्ध

उसी प्रकार युद्ध के अवसर पर क्षत्रियों का रोम-रोम तरंगित हो उठता था। युद्ध में मरने से स्वर्ग-प्राप्ति और विजय प्राप्त करने से कीर्ति-लाभ का होना, ऐसा विश्वास था। अतः युद्ध

---

१. अर्थशास्त्र, १.११.१-४

२. शुक्रनीति, १.३६

३. योऽपि एष प्राकारखण्डः, एतमधिरुह्य चन्दनेन समं गत्वा अवलोकयामि।
—मृच्छ, अंक ६, पृ० ३३४

४. अरे। पुरस्तात् प्रतोलीद्वारे तिष्ठ त्वं, त्वमपि पश्चिमें, त्वमपि दक्षिणे, त्वमपि उत्तरे। —मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३३४

५. नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति। —अभि० शा०, २.१५

६. अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम। स भर्त्रा नर्मदातीरेऽन्तःपाल दुर्गे स्थापितः। —माल०, अंक १, पृ० २६६

७. किं नु खलु युद्धोत्सवप्रमुखस्य दृष्टपराक्रमस्याभूतपूर्वो हृदयपरितापः।
—कर्णभार, अंक १, पृ० ४

निष्फल नहीं माना जाता था[1]। समर प्रतिकार का स्थान, वीरता की कसौटी, अभिमान का अचल स्थल, शूरों के शौर्य की नींव, वीरों के योग्य शयन-भूमि, प्राणों का यज्ञ और क्षत्रियों का स्वर्ग-सोपान माना जाता था[2]।

युद्धों और राजनीतिक संघर्षों के निवारण के लिये विरोधी शक्तियों एवं शत्रु राजाओं में पारस्परिक सन्धि आवश्यक थी। सन्धि में कुछ शर्तें रखी जाती थीं जो दोनों राजाओं को स्वीकार करनी पड़ती थीं। सन्धिगत शर्तें अमान्य होने पर युद्ध अवश्यम्भावी था। 'मालविकाग्निमित्र' में राजा वैदर्भ अग्निमित्र से सन्धि स्थापित करने के लिए अग्निमित्र के पास पत्र में सन्धि की शर्तें लिख कर भेजता है[3]।

सन्धि

---

१. हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तुलयते यशः।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे॥ —कर्णभार, १.१२

२. वैरस्यायतनं बलस्य निकषं मानप्रतिष्ठागृहं
युद्धेष्वप्सरसां स्वयंवरसभां शौर्यप्रतिष्ठां नृणाम्।
राज्ञां पश्चिमकालवीरशयनं प्राणाग्निहोमक्रतुं
संप्राप्ता रणसंज्ञमाश्रमपदं राज्ञां नभः संक्रमम्॥ —ऊरुभंग, १.४

३. माल०, अंक १, पृ० २६७

९

आर्थिक जीवन एवं कला-कौशल

'सर्वे गुणा: कांचनमाश्रयन्ते' के अनुसार समाज की प्रगति एवं विकास का मूल-मंत्र आर्थिक एवं भौतिक समृद्धि में निहित है। जहाँ धन है वहीं उन्नति है। आलोच्य नाटकों में समाज सामान्यतया समृद्ध रूप में प्रतिरूपित किया गया है। इससे यह अनुमान करना कि समाज में निर्धनता और दारिद्रय का नाम भी नहीं था, उचित न होगा, किन्तु अधिकांश जनता कला-कुशल एवं व्यवसायनिरत थी। राज्य से उसे पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता था। अत: वह उस शोषण से मुक्त थी जो प्राय: दु:ख-दारिद्रय का कारण बनता है। सम्भवत: हमारा यह अनुमान भ्रान्तिपूर्ण न होगा कि आर्थिक वैभव वर्ग-विहीन नहीं था। याचकों का अस्तित्व किसी-न-किसी सीमा तक उनकी अभावग्रस्त स्थिति का ही द्योतक है। यद्यपि यह भी कहा जा सकता है कि याचकत्व कुछ लोगों का व्यवसाय भी था, फिर भी किसी-न-किसी सीमा तक उसके पीछे निहित अभाव को विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

राजकीय कोष सम्पन्न था। देश में श्रेष्ठी लोगों का अस्तित्व धन-संग्रह की पद्धति की सूचना देता है। वे लोग उचित अवसर पर धन-वितरण भी करते थे, किन्तु दान में अथवा राजा की सहायता रूप में। उनके ऊँचे-ऊँचे भवनों में वैभव का आवास और विलास की क्रीड़ा होती थी। यही दशा वेश्याओं के आवासों की होती थी। ये प्रासादों से किसी भी प्रकार कम नहीं होते थे। भौतिक विलास की प्राय: सभी सामग्री उनमें होती थी। संगीत, नृत्य, चित्र आदि कलाएँ विलास-केलियों को समुचित साहचर्य प्रदान करती थीं। वसन्तसेना का स्वर्गोपम प्रासाद एवं अनन्त वैभव इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

भारत कृषि-प्रधान देश है, अतएव यहाँ के लोग अधिकांशत: कृषि पर ही निर्भर रहते रहे हैं। पर्याप्त भूमि और चारा होने से पशु-पालन भी यहाँ के लोगों का एक व्यवसाय रहा है। यहाँ के लोग कुशल एवं अनुभवी व्यापारी भी रहे हैं। प्राचीन ग्रन्थों में प्रमाण मिलते हैं कि यहाँ के व्यापारी समुद्र-पार के देशों से भी व्यापार करते थे। यहाँ की अनेक वस्तुओं को अनेक देशों में अच्छा बाजार मिला हुआ था। बहुत-सी आवश्यक वस्तुएँ देश के लिए तैयार की जाती थीं। इससे यहाँ के कला-कौशल और उद्योग-धन्धों को बड़ा प्रोत्साहन मिलता था।

जीविकोपार्जन के साधन

यह कहा जा चुका है कि देशवासियों के जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन सदा से कृषि रहा है। कृषि के लिए वर्षा का आधिक्य या अभाव अहितकर होता है। वर्षा का आधिक्य भी कृषि को नष्ट करता है और उसके अभाव[1] से भी कृषि नष्ट होती है। दोनों स्थितियों की 'अति' से अकाल पड़ता है जिससे देश की आर्थिक व्यवस्था को बड़ा धक्का पहुँचता है। राज-दोष अकाल के कारणों में प्रमुख माना जाता था। उत्पादन-व्यवस्था को ठीक रखने के लिए बीज[2], भूमि और सिंचाई की आवश्यकता जैसी आज है वैसी ही आलोच्य काल में भी थी। ऊसर भूमि को प्राय: छोड़ दिया जाता था क्योंकि उसमें बोया बीज नष्ट हो जाता है[3]। कृषि के उत्पादनों में यव[4], शालि[5], कलम[6], नीवार[7], तिल[8] और ईरक[9] का विशेष महत्त्व था।

कृषि

---

१. मृच्छ०, १०.२६
२. वही, अंक ८, पृ० ३६८
३. एतदिदानीं मन्दभागिन्या ऊषरक्षेत्र पतित इव बीजमुष्टिर्निष्फलम्।
—मृच्छ०, अंक ८, पृ० ३६८
४. चारुदत्त, १.२
५. मृच्छ०, १०.२६
६. वही, अंक ४, पृ० २३२
७. अभि० शा०, अंक २, पृ० ३५
८. वही, अंक ३, पृ० ४६
९. वही, अंक ६, पृ० १२४

कृषि के पश्चात् जनता का प्रधान व्यवसाय व्यापार था। यह भी आर्थिक समृद्धि का प्रमुख साधन था। व्यापारी वणिज्[1], श्रेष्ठी[2], नैगम[3] आदि अभिधाओं से सम्बोधित किये जाते थे। मुख्य रूप से युवक लोग व्यापार का व्यावसायिक रूप ग्रहण करते थे। युवा व्यापारी देशान्तरों में व्यापार करने जाते थे और अपने वैभव का विस्तार करते थे[4]। व्यापारियों के पृथक्-पृथक् समुदाय होते थे जिनका प्रधान सार्थवाह[5] कहलाता था। किसी-किसी नगर में व्यापारियों का बाहुल्य होता था। यही कारण है कि उज्जयिनी नगर का एक भाग श्रेष्ठिचत्वर[6] कहलाने लगा था। सामान्यतः वणिक् लोग धनाधिक्य के कारण लोभी एवं धूर्त होते थे[7], किन्तु कुछ उसके अपवाद भी होते थे जो जनता के कल्याण में अपनी सम्पत्ति व्यय करते थे। चारुदत्त द्वारा बनवाये गये भवन, विहार, उपवन, मन्दिर, तालाब, कूप एवं यज्ञस्तम्भ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं[8]।

व्यापार एवं वाणिज्य

देशीय व्यापार के साथ-साथ वैदेशिक व्यापार भी प्रचलित था। चीन, कम्बोज आदि देशों से तत्कालीन भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। चीन से 'चीनांशुक'[9] और कम्बोज से उत्तम घोड़ों[10] का आयात होता था।

---

१. वणिजयुवा वा काम्यते। —मृच्छ०, अंक २, पृ० ९७
२. श्रेष्ठिचत्वरे। —चारुदत्त, अंक ४, पृ० १११
३. विक्र०, ४.१३
४. किमनेकनगराभिगमनजनितविभवविस्तारो वणिजयुवा। —मृच्छ०, अंक २, पृ० ९७
५. समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम।—अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२१
६. स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति। —मृच्छ०, अंक २, पृ० १२९
७. चारुदत्त, ३.७
८. येन तावत् पुरस्थापनविहारारामदेवकुलतडागकूपयूपैरलंकृता नगरी उज्जयिनी। —मृच्छ०, अंक ९, पृ० ५०४
९. चीनांशुकमिव केतोः। —अभि० शा०, १.३२
१०. सकलनृपतिमान्यं मान्यकाम्वोजजातम्।
सपदि बहुसहस्रं वाजिनां ते ददामि॥ —कर्णभार, १.१९

व्यापार स्थल और जल, दोनों मार्गों से होता था। देशीय व्यापार प्रायः स्थल-मार्ग से होता था और वैदेशिक सामुद्रिक मार्गों से। जल-मार्गीय व्यापार नौका और जलपोतों द्वारा होता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में धनमित्र नामक समुद्र-व्यापारी का उल्लेख हुआ है जो नौका द्वारा ही वैदेशिक व्यापार करता था[1]।

मुद्राएँ विनिमय के काम में आती थीं। उस समय सिक्कों का प्रचलन था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में मंत्री का धन-गणना में निरत रहना मुद्रा-प्रचलन का ही प्रमाण है[2]।

क्रय-विक्रय के साधन वस्तुओं का विनिमय भी मुद्राओं द्वारा होता था। सुवर्ण[3], निष्क[4], कार्षापण[5], वोडि[6] और माषक[7] प्रचलित मुद्राएँ थीं। राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार 'सुवर्ण' एक सोने का सिक्का था जिसका तोल ८० रत्ती था[8]। कहते हैं कि निष्क भी सुवर्ण के बराबर होता था[9]। 'वोडि' से बीस कौड़ी का मूल्य द्योतित होता था[10]। कार्षापण ताम्र-निर्मित पण या पैसा था[11]। माषक भी उस समय प्रचलित मुद्रा-विशेष की संज्ञा थी।

---

१. समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम। नौव्यसने विपन्नः।
—अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२१

२. अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितम्।
—अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२०

३. सुवर्णशतप्रदानेन। —प्रतिज्ञा०, अंक १, पृ० १७

४. निष्कशतसुवर्णपरिमाणम्। —माल०, अंक ५, पृ० ३३९

५. मृच्छ०, ८.४०

६. वही।

७. दक्षिणा माषका भविष्यन्ति। —चारुदत्त, अंक १, पृ० ७

८. एज ऑफ़ इम्पीरियल यूनिटी ऑफ़ इण्डिया, पृ० ६०७

९. गायत्रीदेवी वर्मा : कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० २९७

१०. 'वोडिर्विंशतिकमर्दको गौडे प्रसिद्धः' —पृथ्वीधर

११. 'कार्षिके ताम्रिके पणः'—इत्यमरः।

यह भी एक व्यवसाय-विशेष था। गोपालकों का एक पृथक् संघ या जाति थी जो 'आभीर' कहलाती थी। आभीरों की बस्ती 'घोष'[1] कही जाती थी।

गोपालन

कृषि और वाणिज्य के साथ-साथ अनेक छोटे-मोटे व्यवसाय एवं उद्योग प्रचलित थे। विभिन्न जीविकोपाजीवियों में संवाहक[2], नापित[3], चर्मकार[4], श्रावक[5] (चारण), कुम्भकार[6], धीवर[7], लुब्धक[8], शौंडिक[9], मांस-विक्रेता[10], सूत[11], शिल्पकार[12], तस्कर[13], कुम्भीरक[14], उद्यान-पालिका[15], कलाकार[16], अध्यापक[17], ज्योतिषी[18], पुरोहित[19], वैद्य एवं चिकि-

इतर उद्योग

---

१. पूर्वोऽस्माकं घोषस्योचित। —बा० च०, अंक १, पृ० ११
२. संवाहकस्य वृत्तिमुपजीवामि। —मृच्छ०, अंक २, पृ० १२७
३. मृच्छ०, ६.२२
४. अहं चन्दनश्चर्मकारः। —मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३५२
५,६. किमहं श्रावकः, कोष्ठकः, कुम्भकारो वा ? —मृच्छ०, अंक ८, पृ० ३७८
७. अभि० शा०, अंक ६ (संपूर्ण)
८. शकुनिलुब्धकैः। —अभि० शा०, अंक २, पृ० २७
९. तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०१
१०. माल०, अंक २, पृ० २८९
११. अभि० शा०, अंक १ (संपूर्ण)
१२. सखि देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतम्। —माल०, अंक १, पृ० २६३
१३. विक्र०, ५.१
१४. अरे कुम्भीरक कथय। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ९७
१५. भवतु अनयोरेवोद्यानपालिकयोः। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० १०२
१६. 'कस्यां कलायामभिविनीते भवत्यौ' ? भर्ता संगीतकेऽभ्यन्तरे स्वः। —माल०, अंक ५, पृ० ३४६
१७. भवति पश्याम उदरंभरिसंवादम्। किं मुधा वेतनदानेनेतेषाम्। —माल०, अंक १, पृ० २७४
१८,१९. प्रष्टव्यौ सांवत्सरिकपुरोहितौ। —बा० च०, अंक २, पृ० ३०

त्सक[1] आदि उल्लेखनीय हैं।

राजकीय आय

राजकीय आय का प्रमुख साधन कर था। प्रजा से आय का षष्ठांश कर-रूप में लिया जाता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कंचुकी राजा दुष्यन्त को, आय का छठा भाग लेने के कारण 'षष्ठांशवृत्ति'[2] कहता है। कर के अतिरिक्त निःसन्तान धनिकों की सम्पत्ति उनकी मृत्यु के पश्चात् राजकीय सम्पत्ति हो जाती थी। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में धनमित्र नामक निःसन्तान व्यापारी की सम्पत्ति उसकी मृत्यु के पश्चात् राजगामी होने वाली थी[3]। नैगम और सार्थवाहों द्वारा भी राजकोष की सतत् समृद्धि होती रहती थी[4]। विजित राजाओं से प्राप्त हाथी, घोड़े, सैनिक और बहुमूल्य जवाहरात भी विजेता नृपति की आय के साधन थे। 'मालविकाग्निमित्र' में वीरसेन विदर्भराज को युद्ध में जीत कर अनेक अमूल्य रत्न, हाथी, घोड़े, कलाकार और परिजन राजा अग्निमित्र के पास उपहार-रूप में भेजता है[5]।

आवागमन एवं यातायात

आवागमन और यातायात के प्रमुख साधन वाहन (पशु) और यान थे। पशुओं में अश्व, बलीवर्द और हस्ती परिवहन के मुख्य साधन थे। अश्व सवारी और युद्ध दोनों के काम आता था। 'मृच्छकटिक' में न्यायाधीश वीरक को घोड़े पर जीर्णोद्यान जाने को कहता है[6]। 'कर्णभार' में कर्ण ब्राह्मण-रूप-धारी इन्द्र को युद्ध में वीरता दिखाने वाले हज़ारों घोड़े देने को कहता है[7]। अश्वों का उपयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आया है। कौटिल्य

---

१. अत्रभवत उचिवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति।

—माल०, अंक २, पृ० २८८

२. अभि० शा०, ५.४

३. अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२१

४. धाराहारोपनयनपरा नैगमा सानुमन्तः। —विक्र०, ४.१३

५. माल०, अंक ५, पृ० ३३९

६. मृच्छ०, अंक ९, पृ० ४९३

७. कर्णभार, १.१९

ने गति की दृष्टि से घोड़ों के तीन भेद किये हैं—तीक्ष्णाश्व, प्रदाश्व और मंदाश्व और प्रयोग की दृष्टि से दो भेद—युद्ध-सम्बन्धी अश्व और सवारी के अश्व। बलीवर्द प्रायः गाड़ी में जोते जाते थे[१]। हाथी धनिकों एवं राजाओं की सवारी के उपयोग में आता था। वसन्तसेना के पास सवारी के काम के लिए खुण्टमोडक हस्ती था[२]। हाथी चतुरंगिणी सेना का एक अंग भी होता था[३]।

यानों के अन्तर्गत रथ[४], शिविका[५], शकटी[६], घोटकशकटिका[७], स्कन्धशयन[८], प्रवहण[९] और नौका[१०] का उल्लेख हुआ है। रथ राजाओं की प्रमुख सवारी थी। सवारी के अतिरिक्त युद्ध में भी इसका प्रयोग किया जाता था। वस्तुतः यह चतुरंगिणी वाहिनी का प्रमुख अंग था[११]। शिविका महिलाओं की सवारी थी। इसे कहार कन्धे पर उठा कर ले जाते थे[१२]। इसके चारों ओर कंचुक व पर्दा लगा रहता था[१३]। राजकन्याएँ प्रायः शिविका में बैठ कर उद्यान और मन्दिर आदि को जाती थीं[१४]। शकटी आधुनिक 'रेड़ी' जैसी गाड़ी होती होगी। घोटक-

---

१. एते नस्यरज्जुकटुका बलीवर्दाः। —मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३२३
२. मृच्छ०, अंक २, पृ० १३८
३. हस्त्यश्वरथपदातीनि विजयांगानि सन्नद्धानि। —स्व० वा०, अंक ५, पृ० १७०
४. चोद्यतां मम रथः। —कर्णभार, अंक १, पृ० ६
५. ततः पुरुषस्कन्धपरिवर्तनस्थितायां शिविकायाम्। —प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ६४
६. एतां चक्रधरस्य शकटीम्। —पंचरात्र, १.६
७. घोटकशकटिकामारुह्य। —पंचरात्र, अंक २, पृ० ५५
८. स्कन्धशयनमारोप्य। —प्रतिज्ञा०, अंक १, पृ० २८
९. मृच्छ०, अंक ४, पृ० १६२
१०. अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२१
११. स्व० वा०, अंक ५, पृ० १७०
१२. ततः पुरुषस्कन्धपरिवर्तनस्थितायां शिविकायां प्रकामं दृष्टा सा राजदारिका। —प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ६४
१३. अपनीतकंचुकायां शिविकायां। —प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ६३
१४. प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ६३-४

शकटिका 'तांगे' का प्राचीन रूप मानी जा सकती है। स्कन्धशयन पुरुषों के कन्धों पर ढोया जाने वाला यान था। 'प्रवहण' बैलों द्वारा खींची जाने वाली गाड़ी थी[1]। यह जन-साधारण के यातायात का साधन थी। जलयान के रूप में नौका प्रचलित थी। सामुद्रिक व्यापार में इसका उपयोग होता था[2]।

कला-कौशल

युग-विशेष की सांस्कृतिक उन्नति में कला का विशेष योग रहता है। कलात्मक उन्नति ही सांस्कृतिक प्रगति का आधार-स्तम्भ है।

जीवन में कला का स्थान

कला का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कला जीवन की पूरक है और जीवन कला का पूरक है। कला जीवनमय है और जीवन कलामय है। कला जीवन में लालित्य को जन्म देती है और वह स्वयं जीवन से प्रेरणा एवं चेतना ग्रहण करती है। कला और जीवन के मणिकांचन संयोग से ही कलाकार सजीव कलाकृति का सर्जन करता है। जिस कलाकृति में जीवन का समावेश नहीं होता है, वह निष्प्राण सी प्रतीत होती है।

कलाकार कला के माध्यम से स्पन्दित जीवन की अभिव्यक्ति करता है। हमारे समक्ष जीवन का ललित एवं परिष्कृत रूप कला ही प्रस्तुत करती है। जिस प्रकार शारीरिक पुष्टि के लिए अन्न पोषक उपकरण है, उसी प्रकार मानसिक पुष्टि के लिए कला पौष्टिक तत्त्व का कार्य करती है। वह मानव के हृदयगत भावों का मूर्त्तीकरण है। कला हृदय का (भावों का) व्यायाम कराती है और मनुष्य को सहृदय बनाती है।

कला में सामाजिक गौरव की सन्निहिति

कला में सामाजिक गौरव का इतिहास निहित रहता है। किसी भी देश की कला देश के सामाजिक स्वरूप को अभिव्यक्त करती है। विविध कला-कृतियों और कलात्मक प्रतिमाओं में तत्कालीन समाज के उत्कर्ष और अपकर्ष का चित्र प्रतिबिम्बित होता है। किसी भी देश की

---

१. मृच्छ०, अंक ६, पृ० ३२३

२. समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः।

—अभि० शा०, अंक ६, पृ० १२१

कला के अवलोकन-मात्र से ही वहाँ के तद्देशीय मनुष्यों की मनोवृत्तियों, मनोभावों और सामाजिक जीवन-पद्धति का परिचय मिल सकता है। गुप्तकालीन कला अपने समय की सामाजिक एवं सांस्कृतिक उन्नति का ज्वलन्त प्रतीक बनी हुई है और सम्भवतः दूर भविष्य में भी उस का गुण-गान होता रहेगा।

कला का वर्गीकरण

वैसे तो कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है और उसका विभाजन किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है, तथापि सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से उसके दो भेद—उपयोगी कला और ललित-कला—किये जाते हैं। उपयोगी कलाओं से मनुष्य की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अतः उनकी संख्या अनन्त है। ललित-कला हृदय के आह्लादन और चेतनानुरंजन के लिए अधिक उपादेय है। इसके पांच भेद हैं—१. साहित्य-कला, २. संगीत-कला, ३. चित्र-कला, ४. मूर्ति-कला और ५. वास्तु-कला। इनमें प्रथम दो गतिशील कलाएँ हैं और शेष तीन स्थिर कलाएँ मानी जाती हैं[1]।

साहित्य-कला

साहित्य मूलतः एक है, लेकिन रुचि-भेद और रूप-भेद के आधार पर उसके अनेक रूप हो जाते हैं। ये रूप देशकाल-क्रम से परिवर्तित होते रहते हैं। इनका आकलन और विभाजन प्राप्त साहित्य के आधार पर होता है।

आलोच्य युग में साहित्य-कला पर्याप्त उन्नत एवं विकसित थी। वर्ण्य नाटकों में इसके लिए 'काव्य'[2] शब्द का प्रयोग हुआ है। काव्य के गद्य-पद्य दोनों हो रूपों में विद्वानों की समान गति थी। विद्वद्वर्ग अपनी कीर्ति के प्रसार के लिए सुन्दर काव्य-रचना करने का प्रयास करता था। विवेच्य नाटककारों के नाटक तत्कालीन काव्य-कला की प्रौढ़ता एवं रसभावमयता के ज्वलन्त प्रतीक हैं। शकुन्तला द्वारा ललितपद वाले छन्द की रचना[3] और उर्वशी का अर्थगरिमा से पूर्ण

---

१. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० २५१

२. न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्। —माल०, १.२

३. तेन आत्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललितपदबन्धनम्।

—अभि० शा०, अंक ३, पृ० ४८

प्रणय-पत्र[1] जनता की साहित्यिक अभिरुचि का ही द्योतन करते हैं।

साहित्यकारों का सम्मान

समाज में विद्वानों और साहित्यकारों का अतीव सम्मान था। राजा लोग स्वयं विद्वान् और काव्य-प्रेमी होते थे और वे कोविद विद्वानों का सम्मान करते थे। उनके आश्रय में रस-भाव की व्यंजना में निपुण कवि रहते थे[2]। समय-समय पर विद्वद्-गोष्ठियाँ और साहित्यिक सम्मेलन भी होते थे। सम्मेलन में नवोदित साहित्यकारों की कृतियों का विद्वत्परिषद् के समक्ष परीक्षण होता था[3]। ग्रन्थों की परीक्षा नवीन एवं पुरानी के आधार पर नहीं होती थी, अपितु जो कृति अपने काव्यमय गुणों से विद्वानों को मानसिक सन्तोष प्रदान करती थी, वही सर्वसम्मति से सर्वोत्कृष्ट घोषित की जाती थी[4]। 'मालविकाग्निमित्र' में सूत्रधार के कथन से ऐसा ज्ञात होता है कि विद्वत्परिषद् भास, सौमिल्ल, कविपुत्रादि प्राचीन कवियों के प्रबन्धों को छोड़ कर नवोदित साहित्यकार कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक को ही उत्कृष्ट सिद्ध करती है[5]।

संगीत-कला

ललित-कलाओं में संगीत का द्वितीय स्थान है। यह देव विद्या होने के कारण 'गान्धर्व-विद्या' वा 'गान्धर्व-वेद'[6] की अभिधा से भी विभूषित है। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में संगीत का ज्ञान प्रत्येक नागरिक के लिए आवश्यक बतलाया है[7]। भर्तृहरि ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जो मनुष्य साहित्य, संगीत और कला से

---

१. विक्र०, २.१३

२. इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठापरिषद्।
—अभि० शा०, अंक १, पृ० ४

३. अभि० शा०, अंक १, पृ० ४

४. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥ —माल०, १.२

५. मा तावत्। प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।
—माल०, अंक १, पृ० २६१

६. दर्पयत्येनं दायाद्यागतो गान्धर्वो वेदः। —प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ० ६३

७. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त-साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ३१७

विहीन है, वह पूँछ-रहित साक्षात् पशु है।

वात्स्यायन के अनुसार संगीत के तीन मुख्य भेद माने जाते हैं — १. गीत, २. वाद्य और ३. नृत्य। ये तीनों संगीत की त्रयी कहलाते हैं और परस्पर अन्योन्याश्रित हैं।

वर्ण्य नाटकों में उल्लिखित स्वरसंक्रम[1], मूर्च्छना[2], लय[3], उपगान[4], वर्णपरिचय[5], आदि संगीत के पारिभाषिक शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि गीत के दो भेद प्रचलित थे — एक शास्त्रीय-गीत और दूसरा लोक-गीत। दोनों प्रकार के गीतों के लिए 'गीत' शब्द ही प्रयुक्त होता था। इनके लिए पृथक्-पृथक् नाम नहीं थे। शास्त्रीय-गीत संगीत-शास्त्र के नियमों से आबद्ध होते थे। इसके गायन के समय संगीत शास्त्रोपदिष्ट नियमों का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। 'मृच्छकटिक' में आर्य रेभिल का मधुर संगीत स्पष्ट, भावमय एवं कोमल गीत शास्त्रीय-गीत का ही उदाहरण है[6]। रेभिल अपने गीत में स्वर-परम्परा, वर्णों के आरोह एवं अवरोह हेला-संयमन और ललितरागोच्चारण का पूर्ण ध्यान रखता है[7]। शास्त्रीय-गीतों के विपरीत लोक-गीत शास्त्रीय नियमों से परे स्वर-ताल से युक्त होते थे। ये उत्सवों और पर्वों पर गाये जाते थे। 'पंचरात्र' में राजा विराट के जन्मदिन के उत्सव पर स्त्री-पुरुष खूब गाते एवं नाचते हैं[8]।

गीत

---

१. मृच्छ०, ३.५

२. वही।

३. माल०, २.८

४. मालविका—[उपगानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति]।

—माल०, अङ्क २, पृ० २८२

५. जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्ण-परिचयं करोतीति।

—अभि० शा०, अङ्क ५, पृ० ७९

६. मृच्छ०, ३.४

७. मृच्छ०, ३.५

८. सुष्ठु गीतम्। —पंचरात्र, अंक २, पृ० ५४

प्राचीन नाट्यशास्त्रियों ने वाद्य-यन्त्रों के आकार के आधार पर चार भेद किये हैं — १. तत, २. सुषिर, ३. अवनद्ध और ४. घन।

वाद्य-यन्त्र

तन्त्रीवाद्य को 'ततवाद्य' कहते हैं। छिद्रों में फूंक मारने से ध्वनित होने वाले अर्थात् रन्ध्रमय वाद्यों का नाम 'सुषिर' है। चमड़े से मढ़े हुए वाद्य 'अवनद्ध' कहलाते हैं। कांस्यादि धातुओं से निर्मित वाद्य 'धन' अभिधा से अभिहित होते हैं। 'संगीत-रत्नाकर'[1] में लक्ष्यानुसार वाद्यों का—शुष्क, गीतानुग, नृत्यानुग, द्वयानुग, यह चतुर्विध विभाजन किया गया है, किन्तु आकारगत वर्गीकरण ही सर्वमान्य है।

इस वर्ग के अन्तर्गत वीणा[2] नामक वाद्य समाविष्ट है। इसमें नादोत्पत्ति के लिए स्नायु की सूक्ष्म तन्त्रियाँ होती थीं, इसलिए इसे

तन्त्री-वाद्य

'तन्त्री'[3] भी कहा जाता था। यह तत्कालीन युग में सर्वप्रिय मधुर संगीत वाद्य (Musical Instrument) मानी जाती थी। इसे अंक में रख कर नखों के परामर्श से बजाया जाता था[4]। वीणा-वादन स्वान्तःसुखाय और परहिताय, दोनों ही रूपों में उपयोगी था। 'कला कला के लिए' (Art for Art's sake) की भावना से तो वीणा का अभ्यास किया ही जाता था, साथ ही यह 'कला जीवन के लिए' के सिद्धान्त को भी सार्थक करती थी। 'मृच्छकटिक' में इसे अनेक प्रशंसात्मक विशेषणों से विभूषित किया गया है। इसे उत्कण्ठितों का मनोनुकूल मित्र, विरहातुरजन की प्रेयसी तथा प्रेमियों के रागवर्धन

---

१. पुनश्चतुर्विधं वाद्यं वक्ष्ये लक्ष्यानुसारतः।
शुष्कं गीतानुगं नृत्यानुगमन्यद् द्वयानुगम्। —संगीत-रत्नाकर

२. (क) उत्तरायाः वैतालिक्याः सकाशे वीणां शिक्षितुं नारदीयां गतासीत्। —प्रतिज्ञा०, अंक २, पृ० ५२
(ख) व्यक्तं स्वयं वीणां वादयति। —अवि०, अंक ३, पृ० ६७

३. उच्चं हर्म्यं सन्निरुद्धाश्च जाला-
स्तन्त्रीनादः श्रूयते सानुनादम्। —अवि०, ३.५

४. इयमपरा ईर्ष्या प्रणयकुपिता कामिनीव अंकारोपिता कररुहपरामर्शेन सार्यते वीणा। —मृच्छ०, अंक ४, पृ० २३५

का हेतु बताया गया है[1]। चारुदत्त इसे बिना समुद्र से निकाला हुआ रत्न कह कर इसके विषय में अत्युक्ति ही कर जाता है[2]। यह गजवशी-करण कर्म में भी बहुत सहायक थी। यह मधुर झंकार से, मन्त्रविद्या के सदृश, मदमत्त हाथियों के हृदयों को भी वशीभूत कर लेती थी[3]। वीणा के इन अलौकिक गुणों के कारण ही याज्ञवल्क्य[4] वीणा-वादन-ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति में सहायक बताते हैं।

नारद रचित कहे जाने वाले मुद्रित ग्रन्थ 'संगीत-मकरन्द'[5] और 'संगीत-दामोदर'[6] में वीणा के क्रमशः उन्नीस व उन्तीस प्रकारों का उल्लेख है। आजकल प्रचलित सितार, सारंगी वा वायलिन, तानपूरा आदि वाद्य-तन्त्री के ही विविध रूप हैं।

---

१. उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकर प्रमोदः॥ —मृच्छ०, ३.३

२. चारु०—अहो। साधु, साधु, रेभिलेन गीतम्। वीणा हि नाम असमुद्रोत्थितं रत्नम्। —मृच्छ०, अंक ३, पृ० १४७

३. श्रुतिसुखमधुरा स्वभावरक्ता करजमुखोल्लिखिताग्रघृष्टतन्त्री।
ऋषिवचनगतेव मन्त्रविद्या गजहृदयानि बलाद्वशी करोति॥
—प्रतिज्ञा०, २.१२

४. के० वासुदेव शास्त्री : संगीत-शास्त्र, वाद्याध्याय, पृ० २५५

५. कच्छपी, कुब्जिका, चित्रा, वहन्ती, परिवादिनी, जया, घोषावती, ज्येष्ठा, नकुली, महती, वैष्णवी, ब्राह्मी, रौद्री, कूर्मी, रावणी, सारस्वती, किन्नरी, सैरन्ध्री, घोषका।
—के० वासुदेव शास्त्री : संगीत-शास्त्र, वाद्याध्याय, पृ० २५४

६. अलावणी, ब्रह्मवीणा, किन्नरी, लघुकिन्नरी, विपंची, वल्लकी, ज्येष्ठा, चित्रा, घोषवती, जया, हस्तिका, कुब्जिका, कूर्मी, सारंगी, परिवादनी त्रिशवी, शतचन्द्री, नकुलोष्ठी, ढंसवी, औदुम्बरी, पिनाकी, निःशंक, शुष्कल, गदावारणहस्ता, रुद्र, मधुस्यन्दी, कालियास, स्वरमणामल और घोष।
—गायत्री वर्मा : कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ३३५

इस वर्ग में शंख, शृङ्ग तथा वंशी के समस्त प्रकार आते हैं। विवेच्य नाटकों में वंश[1], शंख[2] और तूर्य[3] नाम के सुषिर-वाद्यों का उल्लेख हुआ है। इनमें प्रथम अर्थात् वंश, बाँसुरी या वंशी को कहते हैं। 'बाँसुरी', 'वेणु' आबनूस की लकड़ी, हाथी दाँत, चन्दन, रक्तचन्दन, लोहे, काँसे, चाँदी या सोने से बनायी जा सकती है। यह ग्रन्थि, भेद और व्रण से रहित रहती है। इसका रंध्र प्रमाण छोटी अंगुली का व्यास है। यह रंध्र पूरी बाँसुरी में एक-सा रहता है। शिरोभाग बन्द रहता है। '......अग्र-भाग में एक या दो अंगुल छोड़ कर उसके पीछे बदरी-बीज के समान परिधि वाले आठ रंध्र होते हैं। इन आठ में से पहला रंध्र वायु के निर्गमन या बाहर निकलने के लिए नियत है। शेष सात रंध्र सात स्वरों के लिए निर्धारित हैं[4]।' बाँसुरी की ध्वनि मधुकर-विरुत के समान श्रुति-मधुर होती थी[5]।

सुषिर-वाद्य

शंख भी सुषिर-वाद्य है। यह मांगलिक वाद्य था। उत्सवों तथा धार्मिक अनुष्ठानों में इसका उपयोग किया जाता था। देवालयों[6] में देव-पूजन के समय और रणांगण में उत्साहवर्धन के लिए इसको फूँका जाता था। इसका निर्घोष इतना गम्भीर होता था कि उससे हाथियों तक का चित्त उद्भ्रमित हो जाता था[7]। तूर्य भी शंख जैसा फूँका जाने वाला वाद्य था। यह एक प्रकार की तुरही[8] थी जो मांगलिक अवसरों पर प्रयुक्त होती थी।

---

१. (समन्तादवलोक्य), अये। कथं मृदंग...एते वंशाः।
—मृच्छ०, अंक ३, पृ० १६७

२. गजपतिचित्तोदभ्रमणार्थं देवकुलेषु स्थापिता शंखदुन्दुभयः।
—प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ६१

३. गन्धोन्मादितमधुकरगीतैः, वाद्यमानैः परभृततूर्यैः। —विक्र०, ४.१२

४. के० वासुदेव शास्त्री : संगीत-शास्त्र, वाद्याध्याय, पृ० २६७

५. मधुकरविरुतमधुरं वाद्यते वंशः। —मृच्छ०, अंक ४, पृ० २३५

६,७. प्रतिज्ञा०, अंक ३, पृ० ६१

८. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग २, पृ० १४

अवनद्ध-वाद्य

इस वर्ग के अन्तर्गत मुरज[1], पुष्कर[2], मृदंग[3], पणव[4], दर्दुर[5], ढक्का[6], पटह[7], डिण्डिम[8], दुन्दुभि[9], करटक[10], इन दस वाद्य-यन्त्रों का उल्लेख हुआ है। मुरज, पुष्कर एवं मृदंग नृत्य के अवसर पर पदों की द्रुतगति के लिए बजाये जाते थे। इनके मेघगर्जन सदृश गम्भीर निर्घोष[11] के ताल पर नर्तन में एक समा बँध जाता था। पटह का उपयोग राज्याभिषेक[12], देवार्चन[13] आदि धार्मिक कृत्यों और युद्धादि[14] के अवसर पर किया जाता था। दुन्दुभि एक प्रकार का बड़ा ढोल होता था[15]। यह मुख्यतः रणवाद्य था[16]। इन अवनद्ध-वाद्यों में दुन्दुभि के अतिरिक्त शेष सब वाद्य ढोल के विविध प्रकार थे।

घन-वाद्य

इसके अन्तर्गत कांस्यताल[17] और घंटे[18] का उल्लेख प्राप्त होता है। आजकल सत्संग, कीर्त्तन आदि में बजाये जाने वाले मंजीरे कांस्यताल ही हैं।

---

१. माल०, १.२२
२. वही, १.२१
३. नेपथ्ये मृदंगध्वनिः। —माल०, अंक १, पृ० २७९
४. मृच्छ०, अंक ३, पृ० १६७
५. वही।
६. मृच्छ०, २.५
७. प्रतिमा०, ७.३
८. बा० च०, ३.३
९. कर्णभार, अंक १, पृ० १२
१०. मृच्छ०, ६.२३
११. हतोऽपि चतुर्थे प्रकोष्ठे युवतिकरताडितजलधरा इव गम्भीरं नदन्ति मृदंगा। —मृच्छ०, अंक ४, पृ० २३५
१२. प्रतिमा०, ७.३
१३. प्रतिज्ञा०, ३.४
१४. दू० वा०, १.५
१५. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग २, पृ० १४
१६. वही।
१७. क्षीणपुण्या इव गगनात्तारका निपतन्ति कांस्यतालाः। —मृच्छ०, अंक ४, पृ० २३५
१८. अङ्घो मया भद्रवत्या घण्टाहिता। —प्रतिज्ञा०, अंक ४, पृ० १०७

नृत्य

ह भी संगीत का एक अविभाज्य अंग है। यह संगीत का जीवन-रूप है। नृत्य से संगीत में चेतना और स्पन्दन का संचार होता है। नृत्य विरहित संगीत निष्पन्द और जड़ है।

नृत्य के प्रकार

नृत्य प्रमुखतः दो प्रकार के होते हैं—एक लोक-नृत्य और दूसरा शास्त्रीय-नृत्य। लोक-नृत्य शास्त्रीय नाट्य-नियमों और रीतियों से निर्मुक्त जनता का, जनता के लिए निर्मित और जनता द्वारा निर्मित नृत्य है। इसमें मानव-समाज की आदिम मनोवृत्तियाँ और भावनाएँ, उनके हर्ष-उल्लास, शोक-विषाद, प्रेम-ईर्ष्या, भय-आशंका, घृणा-ग्लानि, आश्चर्य-विस्मय, भक्ति-निवृत्ति आदि भाव अपने सरल और विशुद्ध रूप में प्रकाशित होते हैं। इसमें सभ्य-जीवन का कृत्रिम आडम्बर और प्रपंचमय जीवन की कपटपूर्ण प्रवंचना का बहुत कम आभास मिलता है। इसके विपरीत शास्त्रीय-नृत्य संगीत-शास्त्र या नृत्य-शास्त्र के कठोर नियमों में आबद्ध होता है। इसमें आंगिक, वाचिक आदि अभिनय एक नियत शैली या पद्धति पर आधारित होते हैं।

नाटकों में लोक-नृत्य के रूप में हल्लीसक[1]-नृत्य का और शास्त्रीय-नृत्य के रूप में छलिक[2]-नृत्यों का उल्लेख हुआ है। हल्लीसक-नृत्य रास-नृत्य का ही एक रूप था। धार्मिक या सामाजिक लोकोत्सवों और मेलों में सुसज्जित नर-नारी सम्मिलित होकर आनन्द में झूमते हुए नगाड़ों की ताल पर इस नृत्य का प्रदर्शन करते थे। 'बालचरित'[3] में रंग-बिरंगे वस्त्रों से विभूषित गोप-कन्याएँ श्रीकृष्ण के साथ हल्लीसक-नृत्य करती हैं। शंकर ने मंडली-नृत को हल्लीसक कहा है, जिसमें एक पुरुष नेता के रूप में स्त्री-मंडली के बीच में नाचता है। इसे ही भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' में 'हल्लीसक-नृत्य' कहा गया है। हल्लीसक शब्द

---

१. घोषसुन्दरि, वनमाले, चन्द्ररेखे, मृगाक्षि, घोषवासस्यानुरूपोऽयं हल्लीसक-नृतबन्ध उपयुज्यताम्। —बा० च०, अंक ३, पृ० ४७

२. अचिरप्रवृत्तोद्देशं छलिकं नाम नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुम्। —माल०, अंक १, पृ० २६२

३. अद्यभर्तृदामोदरोऽस्मिन् वृन्दावने गोपकन्यकाभिः सह हल्लीसकं नाम कर्तुमागच्छति। —बा० च०, अंक ३, पृ० ४४

का उद्गम यूनानी 'हलीशियन' (हलीशियन मिस्ट्री डांस) से ईसवी सन् के आस-पास हुआ जान पड़ता है। कृष्ण के रास-नृत्य और हल्लीसक-नृत्य, इन दोनों की परम्पराएँ किसी समय एक-दूसरे से सम्बन्धित हो गई होंगी[1]।

शास्त्रीय नृत्य शैली पर आधारित 'छलिक'-नृत्य प्रयोग में आने वाले नृत्यों में सबसे कठिन समझा जाता था। इसका आधार शर्मिष्ठारचित चतुष्पद या चार-पद वाला गीत माना जाता[2] था। भाष्यकार काट्टेवम की व्याख्या के अनुसार 'छलिक' वह नृत्य है जिसमें नर्तक दूसरे के रूप का अनुकरण करता हुआ अपने मनोभावों का प्रकटीकरण करता है[3]।

संगीत मानव हृदय के अन्तर्तम की कोमल भाव-तरंग है जो जब-तब गीत और वादन के माध्यम से या अंग-संचालन और मुख की भाव-भंगिमा द्वारा फूट पड़ती है।

संगीतायोजन के अवसर

उसकी अभिव्यक्ति के लिए देश-काल का कोई बन्धन स्वीकार्य नहीं है। आनन्द, आह्लाद, शोक, वेदना आदि भाव चरमस्थिति पर पहुंच कर स्वतः संगीत को मुखरित कर देते हैं। यद्यपि संगीत-लहरी निर्बाध और देश-काल से अपरिच्छिन्न है तथापि समाज में कुछ विशेष पर्व, उत्सव या सार्वजनिक समारोह होते हैं जिनमें संगीत का साज़ो-सामान के साथ आयोजन अनिवार्य और आवश्यक होता है।

विवेच्य नाटककारों के युग में भी राजकीय उत्सवों और लोकोत्सवों के अवसर पर संगीत-आयोजन का विशेष प्रचलन था। 'मालविकाग्निमित्र'[4] नाटक में वसन्तोत्सव के अवसर पर 'नाटकाभिनय'

---

१. वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३३

२. देव ! शर्मिष्ठाया: कृति चतुष्पादोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति।

—माल०, अंक १, पृ० २७८

३. 'तद् एतज्वलितं नाम साक्षात् यत अभिनीयते। व्यपदेशपरावर्तं स्वाभिप्रायं प्रकाशकम्'।

—भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग २, पृ० १५

४. अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकम् अस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। तदारभ्यतां संगीतम्।

—माल०, अंक १, पृ० २६१

के साथ-साथ परिषद् में सरसता-संचार के लिए संगीत की भी रचना की जाती है। भास के 'बालचरित' में गोपजन 'इन्द्रयज्ञ' नामक लोकोत्सव पर अपने अन्तर के आह्लाद को व्यक्त करने के लिए 'हल्लीसक' नृत्य[1] का आयोजन करते हैं। राज्याभिषेक समारोह पर भी ऐसा ही आयोजन किया गया। इसके अतिरिक्त कभी-कभी संगीत-प्रतियोगिताएँ भी होती थीं जिनमें कलाकार अपने-अपने कला-नैपुण्य का प्रदर्शन करते थे। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के प्रथम अंक में नाट्याचार्य गणदास और हरदत्त की पारस्परिक प्रतिस्पर्धावश एक इसी प्रकार की संगीत प्रतियोगिता का आयोजन होता है जिसमें दोनों आचार्यों की शिष्याएँ अपना अभिनय-चातुर्य प्रदर्शित करती हैं[2]।

कलाकारों का सम्मान

प्रेक्षागृह[3], संगीतशाला[4] और नाट्याचार्य[5] आदि शब्दों के बहुल प्रयोग से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जनसाधारण और राज-परिवार में संगीत-कला के प्रति अतीव अभिरुचि थी। कला उस युग में अपने चरमोत्कर्ष पर थी। राज्य में राजकीय संगीत-शालाएँ और प्रेक्षागृह भी थे जहाँ नाट्यशास्त्र में पारंगत नाट्याचार्य संगीत की शिक्षा देते थे। इन आचार्यों को राजा की ओर से वेतन[6] मिलता था। इन नाट्याचार्यों में प्रायः विद्या या योग्यता विषयक विवाद भी छिड़ जाता था जिसका निर्णय राज-सभा में राजा के समक्ष होता था[7]। आचार्यों के शास्त्रज्ञान का परीक्षण उनके शिष्यों के कला-चातुर्य के आधार पर होता था[8]। निर्णायक राजा

---

१. बा० च०, अंक ३, पृ० ४४-४८

२. माल०, अंक १-२ (सम्पूर्ण)

३. तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतं प्रेषयतम्।
—माल०, अंक १, पृ० २७८

४. तत्तावत्संगीतशालां गच्छामि। —माल०, अंक १, पृ० २६२

५. देव्या एव वचनेन नाट्याचार्यमार्यगणदासं।
—माल०, अंक १, पृ० २६३

६. माल०, अंक १, पृ० २७४

७. माल०, १.१०

८. सुशिक्षितोऽपि सर्वं उपदेशदर्शनेन निष्णातो भवति।
—माल०, अंक १, पृ० २७७

या एक व्यक्ति ही नहीं होता था, अपितु दो-तीन विद्वानों को निर्णय का अधिकार प्रदान किया जाता था क्योंकि एक व्यक्ति चाहे कितना ही बड़ा पण्डित क्यों न हो, यदि एकाकी निर्णय देता है तो उसके निर्णय में भूल का होना बहुत संभव है[१]। निर्णायक के लिए निष्पक्ष होना अनिवार्य था[२]। कला प्रदर्शन के पश्चात् जो कलाकार सर्व-सम्मति से सर्वश्रेष्ठ घोषित होता था उसे सम्भवतः पारितोषिक या पुरस्कार भी प्रदान किया जाता था[३]।

चित्र-कला

काव्य-कला के समान चित्र-कला भी आन्तरिक अभिव्यक्ति का सुन्दर माध्यम है। चित्रकार अपने चित्रों में अपने अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करता है, अव्यक्त को अभिव्यक्ति प्रदान करता है, अरूप को रूपवान बनाता है। संक्षेप में चित्र-रचना कलाकार के मानसिक भावों की सजीव सृष्टि या प्रतिमा है।

विवेच्य नाटकों में आये कला-सम्बन्धी उल्लेखों से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि उस युग में चित्र-कर्म या चित्र-कला की साधना उत्कर्ष पर थी। समाज में, जनता में, इस कला के प्रति असीम अभिरुचि और सम्मान था। राज-भवनों और सार्वजनिक स्थलों में चित्रशालाएँ[४] होती थीं जहाँ कलाविद आचार्य[५] कलाजिज्ञासुओं को आलेखन की शिक्षा देते थे। दुष्यन्त, पुरूरवा, वसन्तसेना, शकुन्तला की सखियाँ– अनसूया, प्रियंवदा—ये सभी पात्र चित्रांकन में प्रवीण बताये गये हैं। विरह-विधुर राजा दुष्यन्त शकुन्तला के चित्रालेखन में अपना नैपुण्य प्रदर्शित करता है[६]। पुरूरवा अपनी प्रेयसी उर्वशी का

---

१. परिव्राजिका—देवि ! नैतन्याय्यम्। सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय। —माल०, अंक १, पृ० २७६

२. आचार्यौ—सम्यागाह देवः। मध्यस्था भगवती नौ गुणदोषतः परिच्छेत्तु-मर्हति। —माल०, अंक १, पृ० २७४

३. अथवा पण्डितसन्तोपप्रत्यया ननु मूढजातिः। यतोऽत्रभवत्या शोभनं भणितं तत इदं ते पारितोपिकं प्रयच्छामि। —माल०, अंक २, पृ० २८६

४,५. चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति। —माल०, अंक १, पृ० २६४

६. अभि० शा०, अंक ६, पृ० ११४-१६

चित्र बनाना चाहता है, परन्तु बार-बार आँखों में आँसू आ जाने से चित्र के अधूरा रहने की शंका के कारण उसे नहीं बनाता[1]। वसन्त-सेना आर्य चारुदत्त की चित्राकृति खींचती है[2]। शकुन्तला की सखियाँ केवल चित्र-कला के अनुभव के आधार पर शकुन्तला को अलंकृत करती हैं[3]।

चित्र-कला के आधारों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—एक विषयीगत और दूसरा विषयगत। प्रथम कर्ता से सम्बद्ध है।

चित्र-रचना के आधार

सफल कलाकार के लिए चार बातें विचारणीय बतायी गयी हैं—१. वस्तु-बिम्ब, २. समाधि या योग, ३. भावानुप्रेश और ४. कल्पना। चित्र-लेखन से पूर्व चित्रकार के समक्ष वस्तु, व्यक्ति या चित्र-विशेष का मानस बिम्ब रहना चाहिये। जब तक उसके मस्तिष्क में अपने प्रतिपाद्य की काल्पनिक रूपरेखा नहीं रहेगी तब तक वह अपने चित्र को व्यक्त व सजीव नहीं बना सकेगा। 'व्यक्त' से तात्पर्य है कि चित्र केवल चित्र तक, अधिक-से-अधिक चित्रकार तक सीमित रहेगा और अन्य सामाजिकों की बुद्धि व कल्पना से बाहर की चीज समझा जायेगा। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के षष्ठ अंक में शकुन्तला-विरहित राजा केवल मानस बिम्ब के आधार पर शकुन्तला का ऐसा सजीव चित्र खींचता है कि स्वयं राजा को यह ध्यान नहीं रहता कि यह चित्र है या साक्षात् शकुन्तला। सानुमती[4] तो राजा का नैपुण्य देख कर दंग रह जाती है। उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उसकी सखी ही सामने खड़ी है।

चित्र-कर्ता के लिए समाधि या तन्मयता अत्यन्त आवश्यक है। जब तक कलाकार अपने आपको अपने प्रतिपाद्य या ध्येय में लीन

---

१. न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां।
मम नयनयोरुद्वाष्पत्वं सखे न भविष्यति। —विक्र०, २.१०

२. वसन्तसेना—हंजे मदनिके! अपि सुसदृशी इयं चित्राकृतिः आर्यचारुदत्तस्य?
—मृच्छ०, अंक ४, पृ० १६०

३. चित्रकर्मपरिचयेनांगेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः।
—अभि० शा०, अंक ४, पृ० ६७

४. सानुमती—अहो एषा राजर्षेर्निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति।
—अभि० शा०, अङ्क ६, पृ० ११४

नहीं कर लेगा तब तक चित्र में न तो सजीवता आयेगी और न पूर्ण भावाभिव्यक्ति होगी। 'शुक्रनीति'[1] में भी शिल्पी के लिये 'प्रतिपाद्य-ध्यानावस्थान' अनिवार्य बताया गया है। आलेख्यगत दोष कलाकार की शिथिल समाधिवश होता है। 'मालविकाग्निमित्र'[2] में जब राजा मालविका के चित्र को देखने के पश्चात् यथार्थ में उसे देखता है तो उसे चित्र उसके रूप-लावण्य को यथावत् प्रकट न करने के कारण फीका जान पड़ता है और वह उसका कारण चित्रकार की शिथिलता या मनोयोग का अभाव मानता है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल'[3] में दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बनाते समय अपने आपको इतना तन्मय कर देता है कि बनने के बाद उसका चित्र बोलता-सा प्रतीत होता है और वह उसी चित्रगत शकुन्तला के दर्शन-सुख का आनन्द प्राप्त कर प्रसन्न होता है।

वस्तु-बिम्ब और समाधि के साथ-साथ चित्रकार को भावानुप्रेश[4] का विचार भी करना पड़ता है। भावानुप्रेश का अर्थ है प्रतिपाद्य के आकार-प्रकार या हाव-भाव का यथावत् अंकन और उससे सम्बद्ध उपादानों का यथास्थान चित्रण। कलाकार जब तक अपनी रचना में सफल भावाभिव्यक्ति नहीं करेगा तब तक उसकी रचना अद्वितीय व सजीव नहीं हो सकती। भावाभिव्यक्ति के लिए पात्र व देश-काल के औचित्य का ध्यान भी रखना पड़ता है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुन्तला के चित्र को दर्शनीय व सजीव बनाने में दुष्यन्त की सफल भावानु-

---

१. योग एवं समाधि में योगदान की शक्ति प्रतिमा की विशेषता है। अतएव प्रतिमा के मानव-स्रष्टाओं को ध्यानशील होना चाहिये। ध्यान के अतिरिक्त प्रतिमा के स्वरूप-ज्ञान का अन्य कोई साधन नहीं (साक्षात्कार भी कारगर नहीं)। —शुक्रनीति, अध्याय ४, खण्ड ४, पृ० १४७-५०

२. चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥ —माल० २.२

३. राजा—दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥
—अभि० शा०, ६.२१

४. साधु वयस्य। मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रेशः स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ११४

प्रेषण-शक्ति ही कार्य करती है। वह अपनी प्रेयसी के अंग-प्रत्यंग इतने सुन्दर बनाता है कि उसके मनोभाव ज्यों-के-त्यों उतर आते हैं।

कलाकार में उर्वर-कल्पना-शक्ति का होना भी उसकी निपुणता का आवश्यक अंग है। यदि वह किसी सुन्दर व लावण्यमयी आकृति का अविकल चित्र सुन्दर व सजीव बना देता है, तब यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु उसकी निपुणता तो वहाँ दिखायी देती है जहाँ वह अपनी रेखाओं में कल्पना से 'असुन्दर' को 'सुन्दर' बना देता है[1]।

विषयगत आधार के अन्तर्गत चित्र-रचना में सहायक भौतिक उपकरण आते हैं। इन उपकरणों में सबसे महत्वपूर्ण है चित्र का आधार-पट जिस पर रखकर चित्रकार वस्तु या व्यक्ति-विशेष का चित्र खींचता है। यह आधार 'चित्रपट'[2] या 'चित्रफलक'[3] कहलाता था। यह सम्भवतः लकड़ी या लोहे का चौकोर तख्ता होता था। फलक के अतिरिक्त पत्रों और भित्तियों पर भी सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। पत्र-चित्र[4] व भिति-चित्र[5] के उदाहरण 'मृच्छकटिक' में मिलते हैं। भित्ति-चित्र-कला की परम्परा नवीन नहीं थी, वरन् रामायण काल से चली आ रही थी। रामायण[6] में राम के प्रासाद की भित्तियों पर उत्कीर्ण चित्रों का उल्लेख है।

चित्रपट पर चित्र की रूपरेखा अंकन करने के लिए पेंन्सिल या ब्रुश भी अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए 'वर्तिका'[7] शब्द प्रयुक्त

---

१. यद्यत् साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा। —अभि० शा०, ६.१४

२. संकीर्णलेख्यमिव चित्रपटं क्षिपामि। —उरुभंग, १.६०

३. (क) किमिदानीं हर्षकाले सन्तप्यसे, तच्चित्रफलकस्थयोर्वत्सराजवासवदत्तयो···। —प्रतिज्ञा०, अंक ४, पृ० १२६

(ख) अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृति चित्रफलकं आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु। —विक्र०, अंक २, पृ० १७८

४. पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना। —मृच्छ० ५.५

५. एषा च स्फुटितसुधाद्रवानुलेपात् संक्लिन्ना सलिलभरेण चित्रभित्तिः। —मृच्छ० ५.५०

६. सोत्कीर्णभवितमिः। —रामायण, २.१५.३५

७. राजा—चतुरिके, अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम्, गच्छ, वर्तिकां तावदानय। —अभि० शा०, अंक ६, पृ० ११५

हुआ है। यह मोथरी नोक वाली कलम होती थी[1]। भगवतशरण उपाध्याय 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में आये 'लम्बकूर्च'[2] पद का अर्थ 'रंग भरने के उपयोग में आने वाला ब्रुश करते हैं, किन्तु वस्तुतः वहाँ तापस का विशेषण होने के कारण इसका अर्थ 'लम्बी डाढ़ी वाला' है[3]।

वर्ण या रागों का भी आलेखन में विशेष महत्त्व है। 'चित्र-लेखा'[4] और 'वर्णराग'[5] शब्दों से व्यक्त होता है कि पहले साधारण रूप-रेखा खींचकर रंग भरे जाते थे। रंगों के प्रयोग से रचना निखर उठती थी। चित्र-रेखाओं में सम्भवतः गीले रंग (Water Colour) का प्रयोग होता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुन्तला का चित्र देखते समय दुष्यन्त के नेत्रों से गिरा हुआ आँसू चित्र को बिगाड़ देता है[6]। इससे सिद्ध होता है कि चित्र में गीले रंग का प्रयोग हुआ था तभी वह ख़राब हो गया अन्यथा नहीं होता। श्रीमती गायत्री देवी वर्मा[7] 'मालविकाग्निमित्र' में आए 'प्रत्यग्रवर्णराग' पद का अर्थ 'ताज़ा गीला रंग' बना कर इस मत की पुष्टि करती हैं।

चित्र रचनोपयोगी सामग्री यथा वर्तिका आदि रखने के लिए बाँस की बनी एक छोटी मंजूषा होती थी जिसे वर्तिका-करण्डक[8] नाम से अभिहित किया जाता था।

१,२. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग १, पृ० २५

३. यथाऽहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्भकूर्चानां तापसानां-कदम्बैः।
—अभि० शा०, अङ्क ६, पृ० ११६

४,५. चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति।
—माल०, अङ्क १, पृ० १६४

६. स्विन्नांगुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात्॥
—अभि० शा०, ६.१५

७. कवि कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ३४५

८. वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थिताऽस्मि।
—अभि० शा०, अङ्क ६, पृ० ११९

'चित्र-रेखा'[1] रेखा[2] और 'वर्णराग'[3] शब्दों से यह व्यक्त होता है कि चित्र दो प्रकार के होते थे—रेखा-चित्र और वर्ण-चित्र।

चित्र-भेद

रेखा-चित्र में कलाकार प्रकृत वस्तु या व्यक्ति का चित्र रेखाओं द्वारा अंकित करता है। वह रेखाओं में ही, बिना वर्ण या राग के वस्तु का अविकल व सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है। वर्ण-चित्र रेखा-चित्र का परवर्ती रूप है। इसमें प्रतिपाद्य वस्तु, व्यक्ति या दृश्य को रेखान्वित कर बाद में उसे विविध-वर्णों और रंगों से मण्डित किया जाता है। वर्ण-चित्र रेखा-चित्र की तुलना में अधिक कलात्मक, मोहक और रंगीन होता है, किन्तु यदि सहज कला और उसकी मूल आत्मा के दर्शन करने हों तो वह केवल रेखाओं से अन्वित आलेख्य में ही उपलब्ध हो सकती है। लिपी-पुती, सजी-धजी, चटकीली-मटकीली स्त्री और सहज लावण्यमयी नारी में जो अन्तर है वही रेखा-चित्र व वर्ण-चित्र में है।

भास, कालिदास और शूद्रक के नाटकों के अध्ययन व अनुशीलन से यह बात पूर्णतः सिद्ध है कि चित्र-कला उन तीनों के काल में उन्नत व समृद्ध थी, किन्तु जहाँ तक चित्र-कला की साधनाओं का प्रश्न है, उनमें आंशिक भेद दृष्टिगोचर होता है। भास के समय इस कला का अनुशीलन कला या साधना की दृष्टि से कम और जीविका या व्यवसाय की दृष्टि से अधिक किया जाता था। उसके नाटकों में हस्तोपरचित चित्रों तथा 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में चित्र-फलक पर अंकित उदयन-वासवदत्ता-विवाह के दृश्य[4] और 'दूतवाक्य' में द्रौपदी के केश-कर्षण के चित्र[5] का उल्लेख अवश्य है, किन्तु स्वहस्तलिखित

---

१. माल०, अङ्क १, पृ० २६४

२. राजा—तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्।

—अभि० शा० ६.१४

३. माल०, अङ्क १, पृ० २६४

४. किमिदानीं हर्षकाले सन्तप्यसे, तच्चित्रफलकस्ययोवत्सराजवासवदत्तोर्विवाहोऽनुष्ठीयताम्।

—प्रतिमा०, अङ्क ४, पृ० १२६

५ अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपटः, मा तावत, द्रौपदी केशधर्पणमत्रालिखितम्।

—दू० वा०, अङ्क १, पृ० १६

चित्रों[1] का, जिनका उल्लेख 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में हुआ है, नाम तक नहीं आया और न ही किसी पात्र को कला का साधक बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह कला सर्व-साधारण में व्यापक और लोकप्रिय नहीं थी और केवल व्यावसायिक शिल्पियों तक ही सीमित थी।

कालिदास-काल अर्थात् गुप्त-काल में यह कला अपने पूर्ण वैभव पर थी। यद्यपि पेशेवर चित्रकारों का अभाव न था तथापि कला-साधकों और कलाविदों की तुलना में उनकी संख्या नगण्य थी। जनता में चित्र-रचना के अभ्यास और अनुशीलन के प्रति अतीव उत्साह और अभिरुचि थी। इनके नाटकों में दुष्यन्त, पुरूरवा आदि नागरिक पात्र तो कुशल कलाकार हैं ही, साथ ही शकुन्तला, अनसूया आदि अरण्यवासिनी बालाएँ भी चित्र-कर्म में निपुण वर्णित की गयी हैं।

शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में आलेखन-सम्बन्धी उल्लेख अत्यल्प या नगण्य ही है। अतः चित्र-कला के विषय में स्पष्ट परिचय नहीं प्राप्त होता है।

विवेच्य युग में साहित्य, संगीत आदि कलाओं के समान मूर्ति-कला भी उन्नत अवस्था में थी। तत्कालीन शिल्पकार नाना प्रकार की आकृतियों और प्रतिमाओं का निर्माण करने में अत्यन्त निपुण थे। मूर्ति-निर्माण के साधनों में मिट्टी, काष्ठ और प्रस्तर का उपयोग किया जाता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में भरत मिट्टी से बने हुए मयूर से खेलता है[2]। 'मृच्छकटिक' में काष्ठ-प्रतिमा[3] और शैल-प्रतिमा[4] का उल्लेख हुआ है।

मूर्ति-कला

मूर्तियों की प्रतिष्ठा के तीन आधार थे—१. स्मृति, २. प्रदर्शन एवं शोभा तथा ३. धर्म-निष्ठा।

प्रतापी राजाओं और मनस्वी पुरुषों की मृत्यु के पश्चात्

१. तत्र मे चित्रफलकगतां हस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति। —अभि० शा०, अङ्क ६, पृ० १०८

२. (प्रविश्य मृण्मयूर-हस्ता) सर्वदमन शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व। —अभि० शा०, अङ्क ७, पृ० १३८

३. कथं काष्ठमयी प्रतिमा। —मृच्छ०, अङ्क २, पृ० १०६

४. न खलु न खलु। शैल प्रतिमा। —मृच्छ०, अंक २, पृ० १०६

उनकी स्मृति में उनकी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की जाती थी। ये प्रतिमाएँ मृत व्यक्तियों की स्मारक होती थीं और उनके श्लाघनीय एवं जीवन्त कृत्यों की गाथा को पुनर्जीवित रखती थीं। 'प्रतिमा नाटक' में प्रतिमा-गृह में रघुवंशी राजाओं की शौर्य-गाथा को जाग्रत रखने के लिए उनकी प्रतिमाएँ स्थापित की गयी थीं[1]।

स्मृति

मूर्तियों की स्थापना का द्वितीय आधार प्रदर्शन एवं मनोरंजन की भावना थी। प्रासादों एवं भवनों की शोभा में चार चाँद लगाने के लिए नाना जीवधारियों की सजीव मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। गृहों की साज-सज्जा के लिए भित्तियों पर पशु-पक्षी आदि की आकृतियाँ भी उत्कीर्ण की जाती थीं। 'विक्रमोर्वशीय' में राज-द्वार पर बैठे हुए मोर पत्थर में खुदे हुए से प्रतीत होते हैं[2]। बच्चों के मनोविनोद के लिए भी मिट्टी आदि की मूर्तियों की रचना की जाती थी[3]।

प्रदर्शन एवं मनोरंजन

धर्म-प्राण व्यक्तियों की धर्म-भावना और आस्था के स्थूल आधार के लिए देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ मन्दिरों और देवालयों में स्थापित की जाती थीं[4]।

धर्म-निष्ठा

यह पंचम ललित-कला है। इसे स्थापत्य-कला भी कहा जाता है। आलोच्य युग में इसका पूर्ण विकास हो चुका था। राज-प्रासाद[5], देवायतन[6], विहार[7], आहार[8], तडाग[9], कूपादि[10] के वर्णन से स्पष्ट है कि स्थापत्य-कला ने व्यवस्थित एवं स्थिर रूप धारण कर लिया था।

वास्तु-कला

---

१. प्रतिमा०, अङ्क ३ (सम्पूर्ण)।

२. उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो। —विक्र०, ३.२

३. अभि० शा०, अङ्क ७, पृ० १३८

४. दैवतोद्दिष्टानामपि मानुषविश्वासतासां प्रतिमानाम्। —प्रतिमा०, अङ्क ३, पृ०, ७६

५. विस्तार के लिए देखिये, 'परिवार' नामक अध्याय।

६-१०. मृच्छ०, अङ्क ६, पृ० ५०४

उपसंहार

इस समग्र विवेचन ने हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाया है कि सामाजिक गतिविधियों में विकास अपना मार्ग खोज निकालता है। राजनीतिक, धार्मिक या आर्थिक परिस्थितियाँ जिस प्रकार समाज को बाँधने या दबोचने का प्रयत्न करती हैं उसी प्रकार सामाजिक परिस्थितयाँ उनसे मुक्त वातावरण का निर्माण करने लग जाती हैं। कुछ परिस्थितियाँ समाज का स्नेह पा कर उसके क्रोड में पलती रहती हैं और कुछ समाज के पीछे लगी चली जाती हैं; इन्हीं को परंपराओं का नाम दिया जाता है। आलोच्यकालीन समाज के विशाल काल-वक्ष पर ऐसी अनेक परंपराओं की वेला हमें दृष्टिगोचर हो रही है। फिर भी समाज को हम प्रगति-पथ पर अग्रसर देखते हैं। भास-कालीन समाज की कई प्रथाएँ कालिदास-युग में अपना रूप बदलती दिखायी देती हैं। यदि हम भास और शूद्रक के युगों के दो दूरस्थ छोरों के बीच में दृष्टिपात करें तो परिवर्तन की अँगड़ाइयाँ हमारे सामने स्पष्ट रूप में आ जाती हैं। हम ने स्थान-स्थान पर देखा है कि भासकालीन अनेक परिस्थितियों ने शूद्रक के युग में नवीन परिस्थितियों के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है।

अतएव इस शोध-प्रबन्ध में आलोच्य-नाटकों में चित्रित समाज के विश्लेषण के साथ एक झांकी परिस्थिति परिवर्तन-परंपरा और प्रगति की भी है। हमारा प्रमुख लक्ष्य विकीर्ण सूत्रों का अध्ययन और परीक्षण तो है ही, साथ ही उनका संकलन और संगठन भी है। इससे विभिन्न नाटकों में प्रतिबिंबित खंड-समाज को समग्र रूप मिल गया है। जो सामाजिक चित्र हमने निर्मित किया है उनकी बिखरी रेखाएँ प्रस्तुत नहीं की गई हैं, वरन् उनसे बने हुए अनेक अंगों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करके पूर्ण आकार की

ग्रन्थ-सूची

क. मूल ग्रन्थ

अभिषेक-नाटक, आचार्य रामचन्द्र मिश्र की टीका

अभिज्ञानशाकुन्तल, कालिदास ग्रन्थावली (द्वितीय संस्करण)

अविमारक, आचार्य रामचन्द्र मिश्र की टीका

ऊरुभंग, आर० वी० कुम्भारे की टीका

कर्णभार, पं० रामजी मिश्र की टीका

चारुदत्त, पं० कपिलदेव गिरि की टीका

दूतघटोत्कच, पं० रामजी मिश्र की टीका

दूतवाक्य, पं० रामजी मिश्र की टीका

पंचरात्र, आचार्य रामचन्द्र मिश्र की टीका

प्रतिमा-नाटक, आचार्य रामचन्द्र मिश्र की टीका

प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, पं० कपिलदेव गिरि की टीका

बालचरित, सीताराम सहगल की टीका

मध्यमव्यायोग, पं० रामजी मिश्र की टीका

मालविकाग्निमित्र, कालिदास ग्रन्थावली (द्वितीय संस्करण)

मृच्छकटिक, महाप्रभुलाल गोस्वामी और रमाकान्त द्विवेदी की टीका

विक्रमोर्वशीय, कालिदास ग्रन्थावली (द्वितीय संस्करण)

स्वप्नवासवदत्त, प्रो० पी० पी० शर्मा की टीका

ख. सहायक ग्रन्थ

(१) संस्कृत ग्रन्थ

अमरकोश

अर्थशास्त्र, कौटल्य

तैत्तिरीय ब्राह्मण

दशरूपक, धनञ्जय

आश्वलायन गृह्यसूत्र

ऋग्वेद

कामसूत्र

बृहज्जातक

भविष्यपुराण

मत्स्यपुराण

मनुस्मृति, केशवप्रसाद द्विवेदी की टीका

रघुवंश, कालिदास ग्रन्थावली (द्वितीय संस्करण)

रामायण

शतपथ ब्राह्मण

संगीत दामोदर

संगीत रत्नाकर

साहित्य दर्पण, विश्वनाथ (विमला टीका)

(२) हिन्दी ग्रन्थ

कला और संस्कृति, वासुदेवशरण अग्रवाल

कालिदास, चन्द्रबली पाण्डेय

कालिदास, वी० वी० मिराशी

कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वासुदेवशरण अग्रवाल

कालिदास का भारत, भगवतशरण उपाध्याय

कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, गायत्री वर्मा

काव्य के रूप, गुलाबराय

गुप्त साम्राज्य का इतिहास, द्वितीय खण्ड, वासुदेव उपाध्याय

चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, राधाकुमुद मुकर्जी

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, डा० जगदीशचन्द्र जोशी

प्राचीन भारत का इतिहास, भगवतशरण उपाध्याय

प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी

प्राचीन वेशभूषा, डा० मोतीचन्द

भारत का इतिहास, दयाप्रकाश

भारत का प्राचीन इतिहास, एन० एन० घोष

भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास, लूनिया

भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, सत्यकेतु विद्यालंकार

भारतीय संस्कृति का इतिहास, भटनागर एवं शुक्ल

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, ओझा गौरीशंकर हीराचन्द

रामायणकालीन संस्कृति, शान्तिकुमार नानूराम व्यास

संस्कृत कवि-दर्शन, भोलाशंकर व्यास

संस्कृत नाटककार, कान्तिकिशोर भरतिया

संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय

संस्कृत साहित्य की रूप रेखा, चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा व्यास

साहित्य-विवेचन, क्षेमचन्द्र सुमन तथा मल्लिक

साहित्यिक निबन्ध, डा० राजकुमार पाण्डेय

सिद्धान्तालोचन, धर्मचन्द सन्त

हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वासुदेवशरण अग्रवाल

हिन्दू परिवार-मीमांसा, वासुदेवशरण अग्रवाल

हिन्दू संस्कार, राजबली पाण्डेय

(३) अंग्रेजी ग्रन्थ

Bhasa, A. S. P. Aiyyer

Bhasa : A Study, Pusalkar

Corporate Life in Ancient India, R. C. Majumdar

Encyclopaedia of Hindu Architecture, P. K. Acharya

Glories of India, P. K. Acharya

Gupta Art, V. S. Agrawala (1943 edn.)

India As Known to Panini, V. S. Agrawala

Life in the Gupta Age, Saletore

Sanskrit Drama, A. B. Keith

Social Life in Ancient India, H. C. Chakladar

Vedic Mythology, Macdonell

Women in Sanskrit Dramas, Ratnamayidevi Dikshit

ग. पत्र पत्रिकाएँ

कल्याण (संस्कृति अंक)

Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Volume 6.

Archaeological Survey of India Report